दो शब्द

लेखक ने भक्ति-दर्शन का अध्ययन करते समय रामानुजाचार्य के भक्ति-दर्शन के सम्बन्ध मे बहुत-सी सामग्री सङ्कलित की थी। यामुनाचार्य आदि के उद्धरणो के साथ सामग्री इतनी विपुल हो गई कि लेखक 'विशिष्टाद्वैत' पर लिखने को बाध्य हो गया। 'विशिष्टाद्वैतिक भक्ति-दर्शन' लिखते-लिखते लेखक 'भक्ति के विकास' और 'हिन्दी-भक्ति-धारा' पर लिखने के लोभ को भी दबा न सका, किन्तु विषयान्तर होने के भय से इनको परिशिष्ट मे ही रखा गया। प्रस्तुत ग्रन्थ लेखक के पाँच वर्ष के श्रम का फल है। यदि विद्वानो की रुचि की इससे तनिक भी तृप्ति हो सकी तो लेखक अपने को कृतकार्य समझेगा।

—लेखक

अरुणावास, जयपुर
१ जौलाई, सन् १९५७

रामानुजाचार्य
और
उनका विशिष्टाद्वैतिक भक्ति-दर्शन

भूमिका

ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक महापुरुषो का चरित्र अभी तक अज्ञात के गर्भ मे विलीन है। रामानुज भी उनमे से एक है। उनके जीवन के सम्बन्ध मे जनश्रुति का आश्रय ही प्रधान रहा है। कहा जाता है कि उनका जन्म शक-सवत ९३६ (वि० स० १०७३) मे हुआ था। उनका बाल्यकाल काजीवरम् मे व्यतीत हुआ। वही वे स्वामी शकराचार्य के प्रसिद्ध अनुयायी यादवप्रकाश के शिष्य हुए। यादवप्रकाश शकर के अद्वतवाद के बडे समर्थक थे। उन दिनो तामिल देश मे वैष्णव धर्म का डका बज रहा था। उसका प्रभाव रामानुज पर भी पडा। अतएव उन्होने अद्वैतवादी यादवप्रकाश को छोडकर यामुन मुनि को अपना गुरु स्वीकार किया। कालान्तर से वे उन्ही यामुनाचार्य की गद्दी के उत्तराधिकारी बने और त्रिचनापली के पास श्रीरगम् मे निवास करने लगे। उस समय चोलवशीय राजाओ का बोलबाला था। उस वश के राजा शकर के अद्वैत मत के अनुयायी थे। इसी वश म एक प्रसिद्ध राजा अधिराजेन्द्र हुआ (जिसकी स० ११३१ वि० मे हत्या करदी गई)। मतभेद के कारण उससे रामानुज की अनबन होगई। राजेन्द्र कुलोत्तुग उसका उत्तराधिकारी बना, किन्तु रामानुज की उससे भी न बनी। इस कारण वे स० ११५३ वि० मे श्रीरगम् छोड कर होयसल वशीय राजाओ के राज्य (आधुनिक मैसूर) मे जा बसे। इस वश का एक प्रतापी राजा वित्तिदेव या वित्तिगदेव था जिसे इतिहास विष्णुवर्धन के नाम से जानता है। वह

तीस वर्ष राज्य करके स० ११९८ वि० मे स्वर्गगामी हुआ। वह पहले जैनमत का अनुयायी था, किन्तु रामानुज के सम्पर्क मे आकर वह वैष्णव होगया। उसी समय उसने अपना नाम विष्णुवर्धन रख लिया था। उसने अनेक वैष्णव मन्दिर बनवाकर वैष्णव धर्म की श्री-वृद्धि मे अनेक प्रकार से योग दिया। उसी के राज्य मे रहकर स० ११९४ वि० मे एक-सौ इक्कीस वर्ष की आयु मे उन्होने अपनी ऐहिक लीला समाप्त की।

'प्रपन्नामृत' ग्रथ के आधार पर रामानुज ने स० ११८८ वि० मे यादवाचल पर नारायण की मूर्ति प्रतिष्ठित की। कहा जाता है कि उन्होने अनेक ग्रन्थो की रचना की, जिनमे प्रमुख गद्यत्रय, वेदान्त-दीप, वेदान्तसार, वेदार्थसग्रह, तथा ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर भाष्य है। ब्रह्मसूत्रो पर रामानुजाचार्यकृत भाष्य 'श्रीभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है।

रामानुज के दार्शनिक सिद्धान्त उनके भक्ति सिद्धान्तो के पोषक है। अतएव रामानुज का महत्व न केवल दार्शनिक के रूप मे ही है, वरन् वे भक्ति के प्रमुख प्रवर्तको मे से भी एक है। उनके दार्शनिक सिद्धान्तो के आधार उपनिषद है। उनके अनुसार अन्तर्यामी ब्रह्म समस्त सृष्टि का कर्ता है। वही भोक्ता, भोग्य और प्रवर्तक है। उससे बाहर कुछ भी नही है, परन्तु इस अद्वैतवाद म, इस एकत्व मे अनेकत्व की मात्रा वर्तमान है। इस ससार की जीवात्माएँ भिन्न-भिन्न श्रेणी तथा चेतना की है, तथा ससार मे अचेतन पदार्थ भी विद्यमान है जिनका ब्रह्म से वैसा ही सम्बन्ध है जैसा शरीर का आत्मा से है। अतएव जीवात्माएँ तथा समस्त भौतिक पदार्थ उसी के अन्तर्गत है। उससे पृथक् उनका स्वतत्र अस्तित्व नही है। इसीलिए वे निरावलम्ब है। कल्पान्त मे प्रलय के समय भौतिक पदार्थ सूक्ष्म रूप मे वर्तमान रहते है। उस समय उनमे वे गुण नही रहते जिनके कारण हमे उनका अनुभव हो सकता है। उस समय आत्माएँ शरीर से भिन्न हो जाती है और यद्यपि उनमे ज्ञान की शक्ति अन्तर्हित रहती है, पर वे उसे

प्रत्यक्ष करने मे असमर्थ होती है। इस अवस्था से पुन ब्रह्म की इच्छा से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म पदार्थ स्थूल रूप धारण करते है और आत्माएँ अपनी ज्ञानशक्ति को प्रत्यक्ष करने लगती है। वे अपने-अपने कर्म के अनुसार शरीर धारण करती है। प्रलय की अवस्था मे ब्रह्म 'कारण-अवस्था' मे रहता है, और सृष्टि के पुन उदय होने पर वह 'कार्य-अवस्था' मे हो जाता है।

ऊपर जिस अद्वैतवाद की ओर सकेत किया गया है, वह वेदान्त-दर्शन की ही एक शाखा है। ध्यान रहे कि वैदिक साहित्य की सारी दार्शनिक शिक्षाओ को वेदान्त नाम दिया गया है। वैदिक साहित्य के दार्शनिक ज्ञान का भडार प्राय उपनिपदो मे मिलता है। वेदान्त उपनिपदो का ही निचोड है। महर्षि बादरायण ने ई० पू० तीसरी या चौथी शती मे 'वेदान्त-सूत्र' नामक ग्रथ मे इस दर्शन की व्यवस्थित रूप-रेखा प्रस्तुत की। ब्रह्म-सूत्र सक्षेप-शली की रचना होने से अर्थ मे अत्यन्त कूट है। इनका स्वतत्र रूप से आशय समझना कठिन है। इनकी अनेक व्याख्याएँ हुई है, किन्तु सूक्ष्मता और सन्देह के कारण उनमे मत-भेद है। अपने-अपने दृष्टि-कोण को लेकर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने इन पर भिन्न-भिन्न भाष्य लिखे है जिनमे वेदान्त-मत की परपरा का विकास हुआ है। मत-भेद से इसी वेदान्त की तीन शाखाएँ विकसित हुई—अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत। अद्वैत मत के प्रवर्तक शकराचार्य थे। रामानुज ने उन्ही के 'अद्वैत' के तीव्र आलोक से चकित लोक को अपने विशिष्टाद्वेत से भक्ति के मधुर रस का पान कराया।

हाँ तो, उपनिपदो के आधार पर जिस धर्मिक और दार्शनिक परपरा का विस्तार हुआ वह सम्पूर्ण परपरा वेदान्त के नाम से विख्यात है। इस प्रकार वेदान्त-परम्परा के विकास के तीन चरण है जो 'प्रस्थान-त्रय' के नाम से प्रसिद्ध है। "वेदो का अग होने के कारण उपनिषदो को 'श्रुति-प्रस्थान' कहते है। यही वेदान्त का मौलिक रूप और प्रथम प्रस्थान है। वेदान्त का द्वितीय प्रस्थान 'श्रीमद-

भगवद्‌गीता' है जो 'स्मृति-प्रस्थान' कहलाती है। गीता भावुक जनो की भाँति मनीपियो के लिए पूर्णत सन्तोपप्रद नही है। मनुष्य की बुद्धि भावना के लाक्षणिक समन्वय से तृप्त नही होती। वह तीव्र तर्क-सगति चाहती है। बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्रो मे मानो गीता के अभाव की ही पूर्ति की है। इनमे वेदान्त-तत्त्वो की व्यवस्था तर्काधार पर होने के कारण, ये वेदान्त के 'तर्क-प्रस्थान' कहलाते है।"

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि शकर और रामानुज वेदान्त-परपरा के दो प्रतिनिधि है, किन्तु उनके सिद्धान्तो मे मौलिक भेद है जिसका स्पष्टीकरण दोनो की ब्रह्मसूत्रीय व्याख्या से हो जाता है। विद्वानो का मत है कि शकरकृत वेदान्त-व्याख्या उपनिषदो की प्रधान विचारधारा के अधिक अनुकूल है। रामानुज ने अपनी वेदान्त-विपयक व्याख्या मे कुछ अर्वाचीन उपनिपद्, पुराण, पाञ्चरात्र आदि का आश्रय भी लिया है और कुछ उपनिषदो के सगुण-समर्थक अशो के आधार पर सगुण परमेश्वर की सत्ता का प्रतिपादन किया है। इसी आधार पर उन्होने जीवन के व्यक्तिगत अस्तित्व और जगत् की सत्ता की सिद्धि करने का प्रयत्न किया है। इन कारणो से रामानुजीय मत (विशिष्टाद्वैतवाद) मूल वेदान्त से कुछ भिन्न होगया है।

"रामानुज के अनुसार सत्य का केवल एक ही दृष्टिकोण है और ज्ञान का समस्त विपय जात सत्य है। विपय और विपयी का भेद ज्ञान का एक मौलिक और नित्य भेद है, अत किसी भी अवस्था मे इस भेद का निराकरण नही किया जा सकता। यह भेद केवल व्यावहारिक ही नही, वरन् पारमार्थिक भी है। जिस प्रकार विपय और विपयी का भेद नित्य है, उसी प्रकार उपास्य और उपासक का भेद भी सनातन है। अस्तु, रामानुज के अनुसार ब्रह्म के साथ-साथ जीव और जगत् भी चरम सत्य है। जीव और जगत् माया की व्यावहारिक सृष्टि नही, वरन् नित्य और पारमार्थिक सत्ताएँ है, किन्तु जीव और जगत् सत्य और सनातन होते हुए भी परमेश्वर के अधीन है। वे स्वतन्त्र

नही है। परमेश्वर अगी है और जीव और जगत् उसके अग है। अस्तु, एक परब्रह्म परमेश्वर ही पूर्ण स्वतत्र और परम सत्ता है। अतएव रामानुज का मत भी इस दृष्टि से अद्वैतवाद ही है किन्तु रामानुज का परब्रह्म शकराचार्य के ब्रह्म की भाति निर्गुण, निर्विशेष चिन्मात्र नही है, वरन् वह सविशेष और सगुण परमेश्वर है। इसी विशिष्टता के कारण यह मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है।

यह जीव और जगत् से विशिष्ट परमेश्वर अखिल सत्ता का अन्तर्यामी है। वह विश्व की आत्मा है। जीव और जगत उसका शरीर है। जिस प्रकार देह आत्मा के अधीन है, उसी प्रकार जीव और जगत् भी परमेश्वर के अधीन है। जिस प्रकार आत्मा देह का अन्तर्यामी है, उसी प्रकार परमेश्वर भी जीव और जगत का अन्तर्यामी है। यह परमेश्वर सगुण और उपास्य है, निर्गुण और निर्विशेष नही। इस सगुण परमेश्वर की प्राप्ति ही जीवन का परम साध्य है। यही परमार्थ अथवा मोक्ष है।

रामानुज के अनुसार जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य मोक्ष नही है, क्योकि जीव और ब्रह्म का तादात्म्य असभव और अकल्पनीय है। जीव परमेश्वर का अश है और उसके अधीन तथा उससे अविभक्त होते हुए भी उसकी एक विविक्त सत्ता है। मोक्ष की अवस्था मे भी जीव का विविक्त अस्तित्व रहता है, यद्यपि उसका ज्ञान-परिच्छेद विलीन हो जाता है। जीव की सत्ता की भाँति ही जगत् की सत्ता भी मोक्ष-काल मे विलय नही होती। तादात्म्य-रूप न होने के कारण यह मोक्ष ज्ञानद्वारा नही, भक्तिद्वारा साध्य है। अतएव रामानुज भक्ति को मोक्ष का परम साधन मानते है। ज्ञान और कर्म सहकारी साधनो के रूप मे मोक्ष मे सहायक हो सकते है।

रामानुज के मत मे माया मान्य नही है। रामानुज और उनके अनुयायियो ने शकराचार्य के मायावाद का कठोर खण्डन किया है।

विशिष्टाद्वैत मत मे जगत् वास्तविक ईश्वर की वास्तविक सृष्टि है। ईश्वर माया से उपहित अपर ब्रह्म नही, वरन् साक्षात् पर ब्रह्म है। यह परमेश्वर ही पारमार्थिक सत्य है। रामानुज को पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टियो का भेद मान्य नही है। सत्य की एक ही कोटि और उसका एक ही दृष्टिकोण है। रामानुज का परमेश्वर अद्वैत के निर्गुण ब्रह्म की भाँति अवैयक्तिक परमतत्त्व मात्र नही है, वरन् वह दिव्य व्यक्तित्ववान् परमपुरुष है। दिव्य वैकुण्ठ लोक उसका मुख्य निवास है। यद्यपि अन्तर्यामीरूप से वह प्रत्येक जीव के हृदय मे वर्तमान है। इस करुणामय की उपासना से मनुष्य वैकुण्ठ-लोक की प्राप्ति कर सकता है और वैकुण्ठ के अनन्त आनन्द का भागी बन सकता है। विशिष्टाद्वैत मत मे ईश्वर के लोक की प्राप्ति ही मोक्ष है और भक्ति उसका परम साधन है।

रामानुज के अनुसार जीव और ब्रह्म दो विविक्त सत्ताएँ है। विविक्त होने के साथ-साथ जीव और ब्रह्म दोनो ही चरम सत्य है, यद्यपि समान रूप से स्वतत्र नही है। चैतन्य जीव और ब्रह्म दोनो का समान धर्म है, किन्तु दोनो के चैतन्य की सीमा मे भेद है। ब्रह्म अथवा ईश्वर का चैतन्य असीम है, जीव का चैतन्य सीमित है। जीव चेतन होते हुए भी अणु है। जीव का सीमित चैतन्य और परिच्छिन्न व्यक्तित्व अविद्या-जनित भ्रान्ति नही, वरन् एक वास्तविक तथ्य है। जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य नही है, वरन् वह ईश्वर का एक अश है। जीव ईश्वर के अनन्त आलोक की एक रश्मिमात्र है। वह परमेश्वर की चैतन्य ज्वाला का एक प्रदीप्त स्फुलिग मात्र है।

जीव और जगत् दोनो ही ब्रह्म के अपृथकसिद्ध विशेषण है। उनकी स्वतत्र सत्ता नही है। वे ईश्वर के अधीन है। ईश्वर अन्तर्यामी है और वही जीव के कर्मो का प्रेरक तथा वास्तविक कर्ता है। अतएव अहकार, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि के बन्धन से मुक्ति ईश्वर के अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकती है, ज्ञान से नही।

रामानुज ब्रह्म के साथ जीव के तादात्म्य ही को मोक्ष नही मानते।

वे जीव को ब्रह्म (ईश्वर) का अश मानते है। जीव की स्वतत्र सत्ता तथा पृथक् अस्तित्व नही है। वह ब्रह्म अथवा परमेश्वर से भिन्न एक विविक्त तत्त्व है। ब्रह्मलोक अथवा परमेश्वर की प्राप्ति जीव का परम लक्ष्य है और यही उसका मोक्ष है। आत्मानुभवरूप न होने के कारण यह मोक्ष ज्ञानद्वारा साध्य नही है।

रामानुज के प्रमुख सिद्धान्त यही है जिनके अधार पर उन्होने अपने वैष्णव मत के मदिर को खडा किया है। वे ब्रह्म का आविर्भाव पाँच रूपो मे मानते है। पहला रूप 'पर' है जिसमे वह वैकुठ मे शेष नाग पर विराजता है। वह लक्ष्मी, भू तथा लीला से घिरा हुआ एव शखचक्रादि से विभूषित होता है। उसके दर्शन केवल मुक्त आत्माओ को होते है। दूसरा रूप 'व्यूह' है जिसे वह (ब्रह्म) सृष्टि की उत्पत्ति आदि के लिए धारण करता है। यह रूप चार प्रकार का होता है—अर्थात् ज्ञान और बल का प्रदर्शक 'सकर्पण रूप', ऐश्वर्य और वीर्य का प्रदर्शक 'प्रद्युम्न रूप', शक्ति और तेजस् का प्रदर्शक 'अनिरुद्ध रूप' और ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति तथा तेजस् इन छहो गुणो का प्रदर्शक 'वासुदेव रूप'। तीसरा मुख्य रूप वह है जिसमे वह पृथ्वी पर अवतार लेता है। चौथा मुख्य रूप अन्तर्यामी का है जिसमे वह मनुष्यो के हृदयो मे स्थित है, योगियो को दर्शन देता है, तथा महामात्रा मे आत्माओ का साथी है। पाँचवे मुख्य रूप मे वह मर्तियो और प्रतिमाओ मे स्थित है। रामानुज के अनुसार मनुष्य की आत्माएँ ईश्वर का अश है जो उसीसे प्रेरित और शासित होती है।

आत्माओ की तीन श्रेणियाँ है—नित्य, मुक्त और बद्ध। बद्ध आत्माओ मे से कुछ तो सासारिक वैभव के पीछे पडी है, कुछ स्वर्गीय मुख की खोज मे है और कुछ मुक्त होना चाहती है। इस अन्तिम श्रेणी की आत्माओ के लिए अपना मनोरथ सिद्ध करने के दो उपाय है—एक तो कर्म-योग और तदनन्तर ज्ञान-योग द्वारा भक्ति की प्राप्ति, और दूसरा प्रपत्तिमार्ग। कर्म-योग मे बिना किसी प्रकार

की कामना अर्थात् बिना फल प्राप्ति की इच्छा किये अपने-अपने धर्म या कर्तव्य का पालन करना आवश्यक है। इसके मुख्य कार्य देव-पूजा, तपश्चर्या, यज्ञ, दान, और तीर्थ-यात्रा कहे गये है। इस प्रकार कार्य करने से मनुष्य ज्ञान-योग का अधिकारी हो जाता है जिससे उसे अपने आपका ज्ञान हो जाता है और तब वह भक्ति प्राप्त कर सकता है।

रामानुज के अनुसार भक्ति परमानन्ददायिनी अनुरक्ति नही है, वरन् उसका तात्पर्य ब्रह्म का निरन्तर ध्यान करना है। इसकी प्राप्ति मे पवित्र भोजन, जितेन्द्रियता, पूजन, भजन, दान, दया, अहिसा सत्य आदि सहायक होते है। परमेश्वर की प्राप्ति का साधन उसकी प्रीतिपूर्वक भक्ति तथा उपासना है, किन्तु ज्ञान इस भक्ति का सहकारी हो सकता है। परमेश्वर के दिव्य गुणो के ज्ञान से उसके प्रति भक्ति उत्पन्न हो सकती है। ज्ञानमूलक भक्ति दृढ होती है। इस मत मे भक्ति ही मोक्ष का परम साधन है। इसके अतिरिक्त प्रपत्ति और ईश्वरानुग्रह का भी इस मत म बडा स्थान है। श्रवण और निष्काम कर्म द्वारा सत्व-शुद्धि ईश्वरानुग्रह-प्राप्ति की योग्यता का साधन है, किन्तु प्रपत्ति इसका परम साधन है। प्रपत्ति का अर्थ शरणागति है। सब कुछ छोडकर एक मात्र ईश्वर का आश्रय ग्रहण करना पूर्ण प्रपत्ति है।

प्रपत्ति के मुख्य अग शरणागत-भाव, अविरोध, त्राण मे विश्वास, ब्रह्म की दया पर भरोसा आदि है। प्रपत्ति से परमेश्वर का प्रसाद और उसकी भक्ति प्राप्त होती है। भक्ति ही ईश्वर प्राप्ति का साधन है। उसी से मोक्ष लाभ होता है, किन्तु तादात्म्य नही। भक्त को सच्चिदानन्द परमेश्वर के समान अनन्त ज्ञान और आनन्द प्राप्त होजाता है, किन्तु उसकी शक्ति और सत्ता सीमित रहती है। जीव स्वरूप से अणु है। मोक्ष-काल मे भी वह ज्ञान मे अनन्त, किन्तु आकार मे अणु रहता है। उसकी शक्ति का विकास होता है, किन्तु वह असीम नही होती। विश्व का सृजन और शासन परमेश्वर का एकाधिकार है। यह अधिकार जीव को मोक्ष मे भी नही मिलता। यह मोक्ष जीवन

काल मे सभव नही, अत रामानुज के मत मे केवल विदेह-मुक्ति ही मान्य है।

रामानुज ने ईश्वर प्राप्ति के दो मार्ग——भक्ति और प्रपत्ति बतलाये है और यह भी बतलाया है कि ईश्वर-प्राप्ति जब एक मार्ग से न होसके तो दूसरे का अवलब लेना चाहिए। इन दो सिद्धान्तो के कारण रामानुज के अनुयायियो मे बडा मत-भेद उत्पन्न होगया था। कुछ लोग तो यह कहते थे कि प्रपत्तिमार्ग से ईश्वर की प्राप्ति अवश्य हो सकती है, पर इसका अवलब तभी लेना चाहिए जब जीव भक्ति-मार्ग का आश्रय लेने मे असमर्थ हो। दूसरे कुछ लोग कहते थे कि ईश्वर-प्राप्ति का एकमात्र उपाय प्रपत्ति-मार्ग है। भक्तिमार्ग मे भक्त के कृतिपरायण होने की आवश्यकता मानी गई है और प्रपत्ति-मार्ग मे वह ईश्वर का शरणागत होकर अपने को उसकी इच्छा और दया पर छोड देता है। उदाहरण के लिए मर्कटन्याय का आश्रय लिया गया है। वानर-शिशु अपनी माँ के शरीर से चिपटा रहता है और वह उसे जहाँ चाहती है, लेजाती है तथा उसकी रक्षा करती है, फिरभी बच्चा अपनी माँ को पकडे रहता है। यही अवस्था भक्तो की होती है। वे ईश्वर-शरणागत होते है, परन्तु स्वय उनको भी मर्कटवत् उद्योगी रहना पडता है। प्रपत्तिमार्ग के अनुयायियो के सबध मे मार्जारन्याय का आश्रय लिया जाता है। मार्जारी अपने शिशु को मुख मे दबा कर अपनी इच्छानुसार लिए फिरती है। शिशु मातृनिर्भर एव निश्चित होता है। प्रपत्तिमार्गियो की अवस्था मार्जार-वत् होती है। वे अपने को ईश्वर की अनुकम्पा पर छोड देते है और उसी पर अवलबित रहते है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि भक्ति-मार्ग प्रपत्तिमार्ग की अपेक्षा सरल नही है।

इस कारण इस सप्रदाय के लोगो मे और भी अनेक भेद होगये थे। भक्तिमार्ग के अनुयायियो का आग्रह था कि परम मत्र के अधिकारी केवल ब्राह्मण है, दूसरे वर्णवालो को 'ओउम्'-रहित मत्र का ही उपदेश दिया जा सकता है। प्रपत्तिमार्गी इस सिद्धान्त के विरोधी थे। वे

सबसे सम व्यवहार करना और पाना चाहते थे। प्रतीत ऐसा होता है कि कदाचित् स्वय रामानुज भी भक्तिमार्गियो के पक्ष मे थे। इसीलिए ब्राह्मणेतर लोगो के लिए उन्हे एक तीसरे मार्ग का आश्रय लेना पडा था। इसका नाम उन्होने आचार्याभिमानयोग' रक्खा था। इसका अनुयायी अपने आचार्य पर मुक्ति के लिए निर्भर रहता है और आचार्य स्वय उसके लिए सब कृत्यो का प्रतिपालन करता है। इससे साफ दीखता है कि रामानुज के जीवन-काल मे ही इस सम्प्रदाय पर वर्ण-बन्धन लग गये थे और धर्म-भाषा के सबध मे भी मत-भेद चल पडा था। अभिजातीय धर्म की भाषा सस्कृत ही को रखना चाहते थे जब कि इतर लोग धर्म की अभिव्यक्ति के लिए देश-भाषाओ को अधिक उपयुक्त मानते थे। इससे यह भी प्रकट होता है कि दक्षिण भारत में द्विजाद्विज का झगडा शताब्दियो पुराना है। इस झगडे को शान्त करने मे रामानुज असफल ही रहे, अतएव हिन्दुओ को भक्ति-सूत्र मे बाँधकर वे उनकी एकता की प्रतिष्ठा भी न कर पाये, प्रत्युत उनके कारण भेद-परिखा कुछ और चौडी होगई। जो काम दक्षिणी भारत मे रामानुज नही कर सके उसको उनके अनुयायियो ने उत्तरीय भारतवर्ष मे सफलता से सम्पन्न किया। मानो भक्ति-द्वारा उत्तरीय भारत के हिन्दुओ की एकता का श्रेय अनुयायियो के ही भाग्य मे था।

भक्तो के लिए रामानुज जी ने कुछ नियम बनाये थे कि वे शरीर पर शख-चक्र की छाप तथा मस्तक पर तिलक धारण करे, महामत्र का जप करे, भक्तो की सेवा करे, एकादशी व्रत रक्खे, चरणामृत ग्रहण करे, देवमूर्ति पर तुलसी चढावे और केवल भोग लगा कर ही भोजन करे। इस सबध में कुछ लोगो का यह विचार है कि इन बातो को उन्होने क्रिस्तानो से सीखा था, किन्तु इन बातो के यहाँ पहले से न होने का कोई प्रमाण नही मिलता। समानता इस बात का प्रमाण नही दे सकती। जो हो, यहाँ हम किसी विशेष विवाद मे न पड कर यही कहना चाहते है कि रामानुज केवल नारायण के उपासक थे। राम

और कृष्ण मे से किसी की पूजा की ओर उनकी न्यूनाधिक प्रवृत्ति नही थी। इसी नारायणोपासना से आगे चल कर उनकी शिष्य-परपरा मे राम-पूजा का उदय हुआ।

रामानुज के शिष्य देवाचार्य थे जिनके शिष्य हर्यानन्द और उनके राघवानन्द हुए। कबीर के सबध से जिन रामानन्द का उल्लेख किया जाता है, वे इन्ही राघवानन्द के शिष्य थे। इस शिष्य-परपरा मे रामानन्द ही परम प्रसिद्ध हुए, किन्तु रामानुज के मत के पूर्ण प्रतिपादक राघवानन्द ही थे। समस्त भारत की यात्रा के उपरान्त वे काशी मे आ बसे थे और यही उन्होने रामानन्द को अपना शिष्य बनाया था।

जयपुर,
(छात्रावास)
२५-११-५६

लेखक

अध्याय १

सत्कर्म के फल का नाम सुख और दुष्कर्म के फल का नाम दु ख है। जो उत्तम कर्म करता है उसे सुख और जो नीच कर्म करता है उसे दु ख अवश्य मिलता है। जिस प्रकार मत्कर्म न करने पर केवल चाहनेमात्र से सुख नही मिलना, उसी प्रकार नीच कर्म करने पर केवल न चाहनेमात्र से दु ख भी नही मिटता। कारण-कार्य के नियम का यह पहिया अनादिकाल से बडी कठोरता के साथ घूमता चला आरहा है। बडे-छोटे सभी इसके नीचे कुचलते चले जाते है। माता-पिता के मर जाने से यदि छोटा शिशु नि सहाय चिल्लाता है, तो रहे। उसकी करुण पुकार से वह कोमल नही होता और न किसी दीन-दुखिया विधवा के आँसुओ से उसकी गति ही मन्द पडती है। जब तक जीव माया-मण्डल मे रहेगा दु ख-सुख अनिवार्य रुप से भोगना ही पडेगा। हाँ, माया-मण्डल से निकल कर भगवत्सन्निधि मे पहुँच जाने पर दु ख-सुख का खटका नही रहता, क्योकि उस स्थिति मे जन्म-मरण नही रहता। आवागमन का चक्र तो माया-मण्डल के भीतर ही चलता है।

सुख-दु ख का हेतु

उत्तमोत्तम कर्मो से प्राप्त किया हुआ स्वर्ग भी निरवधि नही होता, क्योकि उत्तम कर्म स्वय निरवधि नही होते। कारण का साव-धित्व कार्य मे भी विद्यमान रहता है। पुण्य-फल भोग चुकने पर स्वर्ग को छोडना ही पडता है। फिर आवागमन मे सुख-दु ख के चक्र के नीचे पिसना ही पडता है।

कर्म-बन्धन और उससे मुक्ति

अतएव स्वर्ग को भी सर्वोत्तम पद नही समझ लेना चाहिए। सर्वोत्तम पद वही है जिसे प्राप्त करके आवागमन निवृत्त हो जाए। वैकुण्ठ मे आवागमन का भय नही है, इसीसे उसे सबसे ऊँचा और निर्भय पद कहा है—

भोगे रोगभय सुखे क्षयभय वित्ते च राज्ञो भयम् ।
विद्याया कलिभीस्तपे करणभी रूपाद्भय योषिति ।
इष्टे शोकभय रणे रिपु-भय काये कृतान्ताद्भयम् ।
चेत्थ जन्म निरर्थक क्षितितले विष्णो पद निर्भयम् ।।

अर्थात भोग मे रोग का भय है, सुख मे उसके नाश का भय है, धन मे राजा का भय हे, विद्या मे विवाद का भय हे, तप मे उसके सधने का भय है, रण म शत्रु का भय हे, तथा काया मे काल का भय है। इस प्रकार पृथ्वी पर जन्म निरर्थक है । एक विष्णुपद ही निर्भय है। वहाँ कोई भय नही है, वह माया-मण्डल से ऊपर है। उसे मोक्ष या मुक्ति किसी भी नाम से पुकार सकते है। भगवान् ने गीता मे स्वय कहा है —

"यद्गत्वा न निवर्तते तद्धाम परम मम ।"

अर्थात् जहाँ जाकर फिर लौटना नही पडता वह मेरा परम धाम है।

इस विवेचना से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि जीव माया से मुक्त होकर भगवद्धाम जा पहुँचता है।

जीव, माया और भगवान् तीनो ही अनादि है। भला कोई बीच मे ही कहाँ से आ पडता ? इस विषय मे महर्षि कपिल का वाक्य

जीव, माया और भगवान्

(कि "कुछ नही" मे से कोई वस्तु उत्पन्न नही हो सकती, कार्य अपने कारण मे रहता है, स्थूल-सूक्ष्म का भेद रहे तो रहे, उससे कुछ हानि नही) प्रमाण है। ईश्वर, जीव और माया, ये तीनो ही 'है', 'थे' और 'रहेगे'। इनका न आदि है, न अन्त हे। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे माया को स्पष्टत 'अजा' कहा है, अर्थात् जिसका जन्म नही, जो अनादि है और जीव को 'अज' कहा गया है अर्थात् जीवो का भी जन्म नही, वे भी अनादि है। श्रुति-वाक्य इस प्रकार है —

अजामेका लोहितशुक्लकृष्णा
बह्वी प्रजा सृजमाना सरूपा ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येना भुक्तभोगामजोऽन्य ॥ श्वेता० ४ ५

अर्थात् अपने रूप के समान ही बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करनेवाली एक लोहित, शुक्ल और कृष्णवर्णा अजा को एक अज सेवन करता हुआ भोगता है और दूसरा अज उस भुक्तभोगा को त्याग देता है। अभिप्राय यह है कि रजोगुण, सत्वगुण और तमोगुण—ये तीन गुण माया के है, लाल, श्वेत और काला, ये तीन वर्ण क्रमश इन तीन गुणो के है। इसलिये 'अजा' शब्द यहाँ माया का वाचक है। घोडे से घोडे, हाथी से हाथी, मनुष्य से मनुष्य अर्थात् समानरूप उत्पत्ति इस माया-मण्डल मे सदा से होती आती है। कार्य मे कारण का रूप किसी न किसी प्रकार से अवश्य आजाता है। इसलिए अजा (माया) को अपने रूप के समान बहुत प्रजा उत्पन्न करनेवाली कहा है। एक 'अज' इसको भोगता रहता है और दूसरा इस भुक्तभोगा का परित्याग कर देता है। यहाँ भोगी 'अज' जीव है और अभोगी परमात्मा।

जीव और माया दोनो ही अनादि है, दोनो ही परिणामी है।

परिणाम और परिणामी

परिणामी द्रव्य के परिणामगत होने पर ही उसे नाश-सज्ञा प्रदान की जाती है। जिसे नाश कहते है उससे किसी द्रव्य के सर्वथा अभाव होजाने का तात्पर्य नही है। कार्य अपनी कारण अवस्था की सदृशता पर चला जाय अथवा परिणामी का परिणाम होजाय तो इन अवस्थाओ के लिए 'नाश' शब्द का व्यवहार होता है। नित्य या सद्वस्तु का सर्वथा अभाव तो हो ही कैसे सकता है? गीता का वाक्य प्रमाण है——

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत "।

अर्थात् असत् का भाव नही होता है और अविनाशी सत् का अभाव नही होता।

जीव और माया दोनो परिणामी है, किन्तु जीव मे केवल स्वभाव-परिणाम ही होता है, और माया मे स्वभाव-परिणाम और स्वरूप-परिणाम, दोनो होते है। जीव मे स्वरूप-परिणाम नही होता और ईश्वर मे दोनो ही परिणाम नही होते। ईश्वर के यावद् व्यवहार स्वतन्त्र एव लीलामात्र है, कर्म-बन्धनमय नही है। जीव और माया, चित् और अचित्, की स्थिति स्वतन्त्र नही है। उनमे सदैव ईश्वर का पारतन्त्र्य रहता है। अतएव तीनो का भेद स्पष्ट होने से ईश्वर, जीव और माया को वस्तुत एक नही कहा जा सकता।

परिणाम के दो भेद

जल से बनी हुई हिम को बर्तन मे आग पर रखने से थोडी देर मे जल तक विलीन हो जाता है, उसी प्रकार आग मे जलाने पर व्यक्ति भी देखते-देखते भस्म होजाता है, किन्तु उस स्थिति को जल अथवा जीव का 'सर्वथाभाव' नही कह सकते। बर्तन मे अग्नि पर रक्खा हुआ हिम (द्रव्य) दृढ अवस्था से पहले द्रव अवस्था म (जलरूप मे) परिणाम होगया और द्रव भी अग्नि-ताप से वाष्पाकार होगया। यह भाव ही है, अभाव नही। इसी प्रकार जिसे जीव कहते है वह अग्नि मे जल ही नही सकता। गीता मे भगवान् स्वय कहते है—"नैन दहति पावक"। जलने वाली वस्तु तो शरीर है। जीव तो शरीरी है। वह शरीर से भिन्न है। शरीर और शरीरी का अत्यन्त निकट सम्बन्ध होने से उनका अभेद केवल व्यवहार की भाषा में ही मान लिया जाता है, वास्तव मे उनमे अभेद नही है। वस्तुत शरीर भी जलता नही है, जलता हुआ केवल दिखाई पडता है। शरीर जिन तत्त्वो से बना हुआ है, वे उसके आग मे पडने पर अपने-अपने भण्डार मे जा मिलते है। अभाव उनमे से किसी का नही होता और शरीरी जीव अपने कर्मवश दूसरे शरीर मे जा बसता है।

सद्वस्तु का अभाव नहीं होता

इस प्रपच और परमात्मा का वही सबध है जो शरीर और शरीरी का सम्बन्ध है। यह सबध ही तो जीव और ईश्वर का अभेद दिखाने

वाली श्रुति तथा अन्यान्य वाक्यो की सगति बैठाता है। जैसे इस शरीर मे जीव शरीरी है, वैसे ही जीव शरीर है और परमात्मा उसमे शरीरी है। उसी प्रकार चिदचिन्मय प्रपच परमात्मा का शरीर है। सुबालोपनिषद् मे यही बात इस प्रकार स्पष्ट की गई है—

चिदचित् का ईश्वर से सम्बन्ध

"य पृथिव्या तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो य पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीर य पृथिवीमन्तरो यमयति एप त आत्मान्तर्याम्यमृत । य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरो यमात्मा न वेद यस्याऽत्माशरीर य आत्मा-नमतरो यमयति सत आत्मान्तर्याम्यमृत"

अर्थात् जो परमात्मा पृथ्वी मे रहता हुआ भी उससे पृथक् है, पृथिवी जिसको नही जानती है, पृथ्वी जिसका शरीर हे, जो पृथिवी को भीतर से यमन करता है वह तेरी आत्मा का अन्तर्यामी है और मरणधर्म रहित है। जो आत्मा मे रहता हुआ भी उससे पृथक् है, आत्मा जिसको नही जानता है, आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्मा को भीतर से यमन करता है वह परमात्मा तेरी आत्मा का अन्तर्यामी और अमृत है।

भीतर मे यमन करने वाले को अन्तर्यामी कहते है और परमात्मा आत्मा का भी आत्मा है। शरीर मे जेसे जीव आत्मा है वेसे ही जीव का भी आत्मा परमात्मा है। 'परम्' शब्द से यह द्योतित होना है कि उससे परे और कोई नही हे। यह नाम शरीर-शरीरी-भाव को लिये हुए है। इस रीति से मुख्य शरीरी परमात्मा ही ठहरता हे। छान्दोग्योपनिषद् मे भी यही कहा गया है—"अन्त प्रविष्ट शास्ता जनाना सर्वात्मा" अर्थात् भीतर प्रवेश किये हुए जनो पर जो शासन करता है वह सर्वात्मा है।

ईश्वर, जीव और माया, तीनो नित्य होते हुए भी, इन तीनो मे मुख्य परमात्मा (ईश्वर) ही ठहरता है, क्योकि यमन करना (अपने अधिकार मे रखना और यथेच्छ चलाना) और शासन करना (उन

पर अपना अधिकार रखते हुए और उनको अपना परतन्त्र बनाए हुए उन पर राज्य करना) उसी का काम ठहरता है, किन्तु परमात्मा का शासन राजा का सा नही होता। यदि परमात्मा का शासन ठीक वैसा ही होता जैसा कि जगत् मे राजा का प्रजा के ऊपर, जिसमे राजा का स्वामित्व और प्रजा का दासत्व दीखता है, तो इसमे अभेद श्रुतियो का अर्थ छोडना पडता,क्योकि ससार मे राजा भिन्न शरीरधारी होता है और प्रजा भिन्न शरीरधारी होती है। प्रजा के भीतर राजा अन्तर्यामी नही होता। इससे राजा-प्रजा के सम्बन्ध मे शरीर-शरीरी-भाव की सगति नही बैठती। राजा-प्रजा के सम्बन्ध मे अभेद-व्यवहार की प्रतिष्ठा नही होती। अभेद-व्यवहार की योग्यता तो वही होगी जहाँ शरीर-शरीरी-भाव होगा। हाँ, उपनिषद्-वाक्यो मे जो यह आया है कि 'वह आत्मा का अन्तर्यामी है, आत्मा उसको नही जानता है', इससे जीव और ईश्वर मे वास्तविक भेद सिद्ध है। यदि भेद न हो, दोनो एक ही हो, तो "एक के भीतर एक है और परमात्मा को जीवात्मा नही जानता" यह अर्थ सिद्ध नही हो सकता।

नियाम्यत्व (restrainableness, subduableness) धार्यत्व (bearableness) और शेषत्व (dependence)—ये शरीर के लक्षण है और नियामकत्व (restrainingness), धारकत्व (bearingness) और शेषित्व (Indeppondence)—ये लक्षण शरीरी के है। ये व्यवस्थाएँ अचेतन शरीर और जीव-शरीरी की परस्पर रहती है, ठीक इसी प्रकार प्रपच-शरीर और परमात्मा-शरीरी की भी परस्पर यही व्यवस्थाएँ रहती है। परमात्मा का शरीर होने से जीवात्मा मे भी शरीर के उक्त तीनो लक्षण सिद्ध होते है, किन्तु जीव मे एक विशेषता रहती है वह यह कि जैसे अपना शरीर जड है वैसे ही परमात्मा का शरीर (जीव) जड नही है। यह ऐसा सम्बन्ध है कि इससे जीव और ईश्वर मे अभेद दिखाने-वाले वाक्यो की सगति बैठ जाती है, नही तो वास्तविक अभेदता तो

हं ही नही। शरीरी प्रधान होने से विशेष्य कहलाता है और जीव एव माया को अप्रधान होने से उसका विशेषण कहा जाता है।

वस्तुत प्रपचभिन्न अन्तर्यामी के भिन्न रहने पर भी वैसा भेद नही बनता जैसा लोक मे स्वामी-सेवक का होता है। इस कारण ऐसा नही कहते कि तीनो की स्थिति अलग-अलग है, वरन् यही कहा जाता है कि तीनो का एक पुञ्ज है। वही सृष्टि का कारण है। जिस प्रकार कारण-अवस्था मे तीनो है, उसी प्रकार सदा कार्य अवस्था मे भी तीनो ही रहते है। कारण रूप मे जो तीनो का एक पुज है उसका नाम ब्रह्म है। श्वेताश्वतर उपनिषद् ने इसी तथ्य का उद्घाटन इन शब्दो मे किया हे—"भोक्ता भोग्य प्रेरितार च मत्वा सर्व प्रोक्त त्रिविध ब्रह्ममेतत्"–(श्वेता० उप० १ १२)। भोक्ता जीव है, भोग्य माया है और ईश्वर प्रेरिता है। इस त्रिविध पुज को ब्रह्म कहा है।

जीव और ईश्वर के भेदाभेद का स्वरूप

इन तीनो का एक पुज कहने से कदाचित् यह शका उठ सकती हे कि माया तो खैर जड है, परन्तु जीव और ईश्वर दोनो चेतन है और मिले हुए है तो दोनो को एक ही क्यो नही मान लिया जाय? इसके समाधान के लिए एक के परिणामी और दूसरे के अपरिणामी होने की व्यवस्था की विवेचना पहले ही की जाचुकी है। उपनिषद् मे भी लिखा है—"पृथगात्मान प्रेरितार च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति" (अपने आत्माको और प्रेरणा करनेवाले ईश्वर को पृथक् मान कर अनुसधान करनेवाला अमृतत्व को प्राप्त होता है अर्थात् आवागमन से छूट जाता है)। यह छूटने का व्यवहार जीव के साथ है, क्योकि माया तो स्वय जड और बन्धनरूप है और परमात्मा बन्धन से परे है, अत उसके विषय मे छूटने का प्रश्न ही नही उठता। हॉ, तीनो का पुज एक ब्रह्म है। उसमे एक भीतर मे यमन करनेवाला परमात्मा प्रधान है तथा शरीर-शरीरी-भाव मे अभेद-व्यवहार होने के कारण तैत्तिरीयोपनिषद् मे उसके सबध मे इस प्रकार कहा गया है—"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनु-

प्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्" अर्थात् प्रपच की सर्जना करके वह परमात्मा उसी मे अनुप्रविष्ट होगया। उसमें अनुप्रवेश करके वह सत्यस्वरूप परमात्मा स्वय ही मूर्तामूर्त होगया। मूर्तामूर्त दोनो का प्रसार सृष्टि-रचना से हुआ तथा सृष्टि की स्थिति तक रहेगा। इसमे भगवदिच्छा ही मुख्य रहने से ऐसा कहा जाता है।

कोई मनुष्य कही जाता है तो कहा जाता है कि अमुक मनुष्य गया। यहाँ जानेवाला कौन है? यदि कहा जाय कि गमन-व्यापार शरीर मे दीखता है, शरीर ही गया तो क्या वह जीव को छोड गया? और यदि कहा जाय कि जीव भी शरीर के साथ ही गया, तो क्या अन्तर्यामी पीछे रह गया? किन्तु ऐसा नही कहा जा सकता। इससे सिद्ध हुआ कि तीनो का पुज ही गया। इस प्रकार शरीर-शरीरी-भाव मे जो वाक्य-व्यवहार अभेद-मर्यादा के साथ बनता है, उसमे सुगमता रहती है। प्रलयकाल मे जो स्वरूप रहता है वह कारण-रूप होने से 'सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट' कहलाता है। इसी प्रकार सृष्टि-काल मे जो स्वरूप रहता है वह कार्य-रूप होने से 'स्थूल चिदचिद्विशिष्ट' कहलाता है। ये दोनो विशिष्ट स्वरूप हुए। इनमे अद्वैत होने (वास्तविक अभेद होने) से इस सिद्धान्त को 'विशिष्टाद्वैत' कहते है।

विशिष्टाद्वैतवाद क्या है?

इस अभेद का सूचक ही "तत्त्वमसि" महावाक्य है जिसमे तीन शब्द है एक 'तत्', दूसरा 'त्वम्' और तीसरा 'असि'। 'तत्' का अर्थ है 'वह' जिससे दूरवर्ती सूक्ष्म 'चिदचिद्विशिष्ट' का ग्रहण होता है। 'त्वम्' का अर्थ है 'तू', जिससे समक्ष विद्यमान 'चिदचिद्विशिष्ट' का ग्रहण होता है, और 'असि' का अर्थ है "है", जो वर्तमान का सूचक है। इस प्रकार इस महावाक्य से 'तू वह है' अर्थ द्योतित होता है जिसका अर्थ है "कारणरूप चिदचिद्विशिष्ट"। जो प्रलयकाल मे सूक्ष्म रूप मे रहता है वह 'तू' सृष्टिकाल मे स्थूल 'चिदचिद्विशिष्ट' है।

भेद-अभेद

इस कथन से दोनो विशिष्ट स्वरूपो का अद्वैत अर्थात अभेद सिद्ध होकर 'विशिष्टाद्वैत' पद सघटित होगया। इस सिद्धान्त मे तीनो तत्त्व भिन्न और नित्य माने गये है, तो भी जीव और माया की स्थिति परमात्मा के अधीन है, स्वतत्र नही है और शरीर-शरीरी-भाव होने से इन दोनो को परमात्मा का अपृथक्सिद्ध विशेषण कहा गया है। इस प्रकार भेदवाक्य ओर अभेदवाक्य दोनो की सगति बैठती है।

ऐसा स्वरूप मानने से ही 'ज्योतीषि विष्णुर्भुवनानि विष्णु' आदि अभेद-व्यवहारो की योग्यता होती हे, नही तो प्रत्येक भिन्न-भिन्न वस्तु को विष्णु कह कर जो लिखा गया हे, वह केसे वनेगा? वस्तु स्थिति मे तो प्रपच और अन्तर्यामी पृथक् है ही। इस दृष्टि से देखने पर आप स्वय माया, जीव और ईश्वर ,इन तीनो के पुज हो। तीनो का व्यवहार यथास्थल अपने-अपने मे बन जाता हे। 'मै काला हूँ', 'मै गोरा हूँ', 'मै बौना हूँ', 'मै लम्बा हूँ', 'मै दुबला हूँ', 'मे मोटा हूँ', आदि वाक्यो मे आपका 'मे' शब्द माया का वाचक है, क्योकि इसका प्रयोग मायिक शरीर के लिए हुआ है। जब आप 'मै सुखी हूँ', 'मै दु खी हूँ' 'मै चिन्तित हूँ', 'मै कुछ जानता हूँ', 'मै आशावान हूँ', आदि वाक्य कहते है तो मै शब्द जीव का सूचक बन जाता है, और 'मै' ब्रह्म हूँ' के कहने मे आपके 'मै' का प्रयोग चेतनाचेतनविशिष्ट परमात्मा के लिए होता है। प्रमुख शरीरी परमात्मा सब से ऊँचा होने से तीसरी कोटि, "अह ब्रह्मास्मि" (मै ब्रह्म हूँ) की, सबसे ऊँची बनी हुई है, क्योकि नीचेवाली अन्य दोनो कोटियो मे 'अह' (मै) का स्थिर करना अप्रधान की प्रधान रूप मे कल्पना करना है, किन्तु इस तीसरी अन्तिम कोटि मे 'अह' का स्थिर होना प्रधान की प्रधान रूप से प्रतीति है, जीव द्वारा ईश्वर को मानना नही है। यदि जीव 'अह' का अनुसधान करे तो भगवान् शेषी अन्त प्रविष्ट रहने से 'अह' पदार्थ द्वारा अन्ततोगत्त्वा परमात्मा की प्रतीति होती है। ज्ञान और अज्ञान की अवस्था मे इस अनुसधान के सम्बन्ध मे अन्तर रहता है। जिज्ञासु

को उससे अवगत होना भी अनिवार्य है। शरीरवाची शब्द शरीरी तक जाता ही है। इस दृष्टि से यदि भगवान् का शरीर अचेतन को कहा जाय तो ज्ञानी न होने से वह अचेतन 'अह' के साथ अनुसधान करने मे असमर्थ है, और यदि जीव को अचेतन की तरह भगवान् का शरीर कहा जाय तो ज्ञानवान होने से जीव 'अह' के साथ अनुसधान करने मे समर्थ है। यह जीव शरीर और विशेषण होने से 'अह' पद शरीरी और विशेष्य परमात्मा तक गये बिना नही रहेगा। हाँ, जब यह वेदान्त ज्ञान नही होता कि 'परमात्मा जीवान्तर्यामी है' तभी जीव अपने आप को 'अह' द्वारा अवगत करता है। इसी कारण अहकार निन्दित कहा गया है, अर्थात् इस 'अह' का झडा जीवात्मा पर गाडना निन्दित है और उसे परमात्मा पर समझना वेदान्त ज्ञान है। परमात्मा प्रमुख होने से 'अह' पदार्थ से ब्रह्मज्ञान होने पर 'अह ब्रह्मास्मि' (मै ब्रह्म हूँ), ऐसा भान होने लगता है। इसमे पहले 'अह' से जीवात्मा का अनुसधान दीखता है। शेषी और नियामक परमात्मा भीतर रहने से ज्ञानावस्था मे 'अह ब्रह्म' पदार्थ की स्थिरता जीवात्मा मे नही होती, परमात्मा मे होती है क्योकि ज्ञानावस्था मे प्रधान को ही प्रधान कहना बनेगा, अप्रधान को प्रधान कहना नही बनेगा।

'अह ब्रह्मास्मि' का अर्थ 'मै ब्रह्म हूँ' करके जीव को ब्रह्म अथवा ईश्वर कहने लग जाने और इन दोनो मे सर्वथा अभेद करके दो नामो का एक द्रव्य जैसा मान लेने से बडा अनर्थ होगा। उस दशा मे भेद-श्रुतियो का अर्थ छोडना पडेगा, किन्तु जिस प्रकार अभेद श्रुतियो का अर्थ नही छोड सकते उसी प्रकार भेद-श्रुतियो का अर्थ भी नही छोड सकते।

उदाहरण के लिए एक राजसभा की कल्पना कीजिए। राजा चेतन है, वह प्रधान है और ईश्वर के स्थान पर लिया जा सकता है। सभासद् भी चेतन है, परन्तु वे राजा की अपेक्षा अप्रधान है और जीवो के स्थान पर लिये जा सकते है। सभासदो के वस्त्र भी अप्रधान है, वे जड है और इस उदाहरण मे माया के स्थान पर लिये जा सकते है।

राजा, सभासद् लोग, और उनके वस्त्र (सभोचित), इन तीनो को मिलाकर ही 'राजसभा' कहते है जिसे 'ब्रह्म' का उपमान माना जा सकता है। राजसभा एक पुजीभूत अस्तित्व है। यदि उसका 'अह' केवल वस्त्रो का वाचक मान लिया जाय तो उससे अप्रधान की प्रधानता और केवल अचेतन की ही प्रतीति होगी। यदि राजसभा के अस्तित्व का 'अह' सवस्त्र सभासदो पर स्थित माना जाय तो उसमे भी अप्रधान की प्रधानता होगी क्योकि तीनो मे प्रधान राजा किसी गणना मे नही आता। यदि उस राजसभा के अस्तित्व का 'अह' वस्त्रसभासद्विशिष्ट राजा पर स्थिर किया जाय तो यह बात यथार्थ होगी क्योकि इसमे प्रधान की ही प्रधानता प्रतीत होती है और दोनो अप्रधान इसके साथ रहते है क्योकि मुख्य विशिष्ट को लेने से विशेषण साथ आजाते है, वे पृथक् नही रहते और न खोही जाते है।

अज्ञान दशा से निवृत्त होकर जीव ही को ज्ञान-दशा की प्राप्ति कही जायगी और फिर 'अह' पूर्वक अनुसधान करनेवाला जीव ही ठहरेगा, किन्तु जीव की ब्रह्म के साथ एकता मानना एक प्रकार से अनर्थ होगा। यह माना कि 'अह' के रूपमे अनुसधान करनेवाला जीव ही ठहरेगा, किन्तु वह अनुसधान क्या होगा? यह समझने की बात है। तीनो के पुञ्ज मे परमात्मा मुख्य है, इसलिए जीवात्मा अनुसधान करते समय 'अह' पदार्थ की स्थिरता अपने मे नही करता, परमात्मा मे करता है, क्योकि अप्रधान का प्रधान करना ज्ञान नही हो सकता। घट मे जो नीलापन है वह विशेपण है, घट विशेष्य है, परन्तु यह विशेषण अपृथक् सिद्ध है। 'नीलो घट' (नील घट) ऐसा बोलने मे आता है, 'नीलवान् घट' (नीलवान् घट है) ऐसा नही बोला जाता। एक दूसरा उदाहरण लीजिए—यदि किसी पुरुष के हाथ मे यष्टि हो तो 'नीलो घट' की तरह उसे 'यष्टि पुरुष' नही कहा जा सकता, 'यष्टिवान् पुरुष' ही कहा जायगा क्योकि यष्टि पुरुष से पृथक् सिद्ध है। जब पुरुष चाहता है तब वह

भेद और अभेद वाक्यो की सगति

यष्टि को हाथ से अलग रख देता है और जब चाहता है तब फिर उठा लेता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि पृथक्‌सिद्ध विशेषण के साथ विशेष्य का सामानाधिकरण्य नही होता है, अपृथक्‌सिद्ध विशेषण के साथ ही होता है। इस प्रकार तत्वत एकता नही होती है और विशेषण का विशेष्य के साथ सामानाधिकरण्य सघटित होने से अभेद दिखानेवाले वाक्यो की सगति बैठती है।

उपर्युक्त मर्यादा से इस सिद्धान्त मे भेद-अभेद दोनो भली प्रकार से घटित है और बडे सुख की बात है कि 'भेद-श्रुति', अभेद-श्रुति', 'घटक-श्रुति' आदि सब श्रुत्यार्थों की सगति ठीक-ठीक बैठ जाती है। न तो किसी का सकोच होता है और न किसी अर्थ को छोडने या बदलने की बात ही उठती है। यही 'विशिष्टाद्वैत' सिद्धान्त की विशेषता है।

इस सिद्धान्त का तात्त्विक भेद और व्यावहारिक अभेद सिद्ध करने के लिए उस उत्तम सेवक का उदाहरण लिया जा सकता है जो स्वामी की वस्तु को अपनी ही सी मान कर स्वामी के हानि-लाभ के विषय मे यह कहता है कि इससे हमको यह लाभ है। तत्त्वत वह सेवक स्वामी से भिन्न है तथापि स्वामी-सेवक-सम्बन्ध की परायणता से वह ऐसा अभेद व्यवहार करने लगता है और प्रशसनीय होता है। लोग तो पत्रो तक मे लिख देते है कि हम मे और आप मे कोई अन्तर नही है, आप मुझे अपना अभिन्न मित्र समझे आदि, किन्तु इससे तत्त्वत सर्वथा अभेद नही हो जाता है।

तात्त्विक भेद

भगवान् नाम-रूप का व्याकरण (Manifestation) करने को इस प्रपच मे जो 'आत्मना' अनुप्रवेश करते है, वह जीवात्मा द्वारा करते है। इसी अर्थ को छान्दोग्योपनिषद् मे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—"अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"। उपनिषद्वचन यह भी प्रकट करता है कि भगवान् जब ऐसा कहते है कि 'अनेन जीवेन' (अर्थात् 'इस जीव के द्वारा') तो इससे जीव और ईश्वर मे भेद होना ईश्वर ही के वाक्य से सिद्ध होता है।

भगवान् के प्रत्येक नाम से उसकी वस्तु-स्थिति की व्याख्या होती है। उदाहरण के लिए 'पुरुषोत्तम' नाम को ही लीजिए। बद्धादि पुरुषो से उत्कृष्ट ही पुरुषोत्तम है क्योकि कहा भी गया है कि "बद्धादि पुरुभ्येयो यो ह्युत्कृष्ट पुरुषोत्तम" अर्थात जीवो के जो तीन भेद-बद्ध, मुक्त और नित्य है, उन तीनो प्रकार के पुरुषो से परमात्मा उत्तम है। इसलिए वह पुरुषोत्तम कहा गया है। यहाँ भी परमात्मा की उत्कृष्टता जीवात्मा की ही तुलना मे रक्खी गई है, क्योकि जीवात्मा और परमात्मा दोनो अजड है। गीता मे भी भगवान् ने यही बात दूसरे शब्दो मे इस प्रकार कही है

द्वाविमौ पुरुषो लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षर सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।
× × ×
उत्तम पुरुषस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृत ।।

अर्थात् लोक मे दो पुरुप है, एक क्षर और दूसरा अक्षर। यहाँ क्षर शब्द से उन जीवो का बोध होता है जो माया मे बँधे हुए है। उन्ही को यहाँ 'भूत' नाम से अभिहित किया गया है और अक्षर शब्द से कूटस्थ अर्थात् उन जीवो का ग्रहण होता है जो अचित्-ससर्ग-वियुक्त है अर्थात् जो माया-बन्धन मे नही है। इन दोनो पुरुषो से अन्य जो उत्तम पुरुप है उसी को परमात्मा कहा गया है और पुरुपोत्तम शब्द से उसी का ग्रहण है। गीता मे भगवान् ने कहा है——

"यस्मात् क्षरमतीतोऽह, अक्षरादपि चोत्तम ।
तस्मात् बेदे च लोके च प्रथित पुरुषोत्तम" ।।

अर्थात् मै माया से परे हूँ और जीव से भी उत्तम हूँ, इससे लोक और वेद मे पुरुपोत्तम नाम से विख्यात हूँ। विष्णुसहस्रनाम मे 'प्रधानपुरुपेश्वर' नाम भी आता है। उससे यही अभिप्राय है कि परमात्मा प्रधान (माया) और पुरुष (जीव) का ईश्वर है। इसी वचन का प्रतिपादन पुराण मे इस प्रकार किया गया है——

"बन्धहेतो प्रधानस्य बध्दमाननृणा च य ।
नियामकस्सर्वदा सोऽस्ति प्रधानपुरुषेश्वर ॥"

बन्धन के हेतु प्रधान (माया) मे बँधे हुए मनुष्यो का जो सदा नियामक है, वह प्रधानपुरुषेश्वर है । इसका निरूपण मुनिवर पराशर ने विष्णु पुराण मे उत्तम प्रकार से किया है। इसीसे यह वाक्य आता है—

"तत्त्वेन यश्चिदचिदीश्वर तत्स्वभाव भोगापवर्ग तदुपाय गतिरुदार
सदर्शयन् निरममीत पुराणरत्न तस्मै नमो मुनिवराय पराशराय ॥"†

अर्थात् निश्चय रूप से जिसने चित्, अचित् और ईश्वर, इनके स्वभाव, भोग, मोक्ष, उसका उपाय, और उदारगति का निरूपण करते हुए इस पुराणरत्न को बनाया उस मुनिवर पराशर को नमस्कार है।

कोई कोई ऐसा कहते है कि जब तक मनुष्य स्थूलबुद्धि रहता है, तब तक जीव और ईश्वर को भिन्न-भिन्न जानता है, इसलिए भेदवाद (द्वैतवाद) आरभ का विचार है। जब वह परमात्मा को अन्तर्यामी करके समझने लगता है तो कुछ निकट पहुँचने के कारण भेदबुद्धि कुछ कम हो जाती है और विशिष्टाद्वैतवाद आजाता है। अन्त मे दोनो जीव और ईश्वर एक प्रतीत होते है तो अभेदवाद आजाता है जिसको आजकल अद्वैतवाद कहते है। अद्वैतवाद के अनुसार तत्वत जीव और ईश्वर मे तीनो काल मे सर्वथा अभेद है। भेदबुद्धि अज्ञान से हो रही है। शनै शनै उस अज्ञान के दूर हो जाने पर ज्ञान की स्थिति मे सर्वत्र एक ब्रह्म ही दीखता है क्योकि वास्तव मे उनके विचार से है ही एक ब्रह्म, दूसरा कुछ है ही नही। अज्ञान अथवा भ्रम से जीव मान रक्खा है। इससे कहते है कि अभेदवाद शिखर है, द्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद दोनो उस पर चढने की सीढियाँ है।

---

† परान् शरयतीति पराशर अर्थात् जो कुत्सित प्रभावो को असत्प्राय करने वाला है, वह पराशर है।

किन्तु यह बात तत्त्वप्रतिपादक नही है। तीन पृथक्-पृथक् विचारो को एक मे मिलाना उचित नही है। हम आदि से दृष्टि बाँध कर जिस लक्ष्य पर चलते है, अन्त मे उसी पर पहुँचते है। यह नही कि प्रारभ एक लक्ष्य पर करे, मध्य दूसरे पर और अन्त तीसरे पर। यह असगत और अप्रमाणित है और बीच-बीच मे रस-भग होने की बात है। पिछला परिश्रम जो काम आना चाहिए वह सीढी-सीढी पर व्यर्थ हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि एक मर्यादा को आदि से अन्त तक सिद्ध कर लिया जाय, फिर दूसरी को और अन्त मे तीसरी को, तो यह बात भी बनने की नही है क्योकि वे लोग पहली और दूसरी सीढी को अज्ञान की कहते है। इस कारण प्रथम तो अज्ञान की शिक्षा देना ही अयोग्य है, दूसरे ज्ञानमार्ग से ज्ञानमार्ग मे ही जा सकना सभव हो सकता है, चाहे नीची सीढी से ऊँची सीढी भले ही हो। अज्ञान को ज्ञान का कारण कैसे बनाया जा सकता है? सीढी वह है जिस पर चढने से आगे की सीढी निकट आकर उस पर पैर रखने से सहारा मिले, पर यहाँ क्या सहारा है? उलटा कष्ट ही बढता जायगा, क्योकि पहले के बाँधे हुए सकेत और लक्षणादि तोड कर नए जमाने पडेगे जिनमे कष्ट ही की सभावना हो सकती है। दूसरे यह विषय इतना बडा है कि अज्ञान ही की सीढियो पर आयु बीत जायगी, साधक का उद्धार न हो सकेगा। एक विचार दृढ करके दूसरे मे प्रवेश करने पर शरीरपात हो जायगा। वह एक ऐसी निकम्मी दशा होगी कि पिछला किया हुआ खो जायगा और अगला भी हाथ आएगा नही। तीन भिन्न सीढियो का मानना सगत नही है। इसलिए पूर्वाचार्यो ने बहुत मनन करके भक्तिसिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैतवाद' स्थिर किया है।

उन्होने तीनो तत्त्वो मे मुख्याधिष्ठान परमेश्वर को माना है। वह एक ही रहेगा, शेष चिदचित्, दोनो उसके द्वारा अधिष्ठित विशेषणमात्र रहेगे। तीन तत्त्वो को तीन न जानना, दोको अधकार मे रखना या भुला देना ज्ञान नही है, अज्ञानमात्र है। ज्ञान-

दशा मे अपरोक्ष को भला भुलाया भी कैसे जा सकता है? 'एक ब्रह्म है', इससे केवल यही अभिप्राय लेना चाहिए कि चेतनाचेतन का अधिष्ठान एक परमेश्वर ही है। ऐसा कहने मे उसके द्वारा अधिष्ठित मे प्रपच-भाव रहेगा, जायगा नही।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि माया, जीव और ईश्वर, ये तीनो अनादि है। शरीर मे शरीरी अन्त प्रविष्ट रहने से एकवत् वाणी-व्यवहार हो जाता है। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि तीन तत्त्व मिट गए, केवल एक रह गया। जिस प्रकार 'अभेद-श्रुति' मुख्यार्थ है वैसे ही 'भेद-श्रुति' मुख्यार्थ है। इसको अज्ञान की श्रुति अथवा नीचे की सीढी कहना बुद्धिमत्ता नही है।

अज्ञान का आश्रय

इसके अतिरिक्त जीव की स्थिति अज्ञान वा भ्रम से मान लेने पर अज्ञान वा भ्रम और मानना पडता है, परन्तु यह आएगा कहाँ से? ईश्वर के सिवा तो इस तर्क मे कुछ माना ही नही गया था। जीव और माया के निराकरण से, ईश्वर के सिवा और कुछ न रहने से, अज्ञान वा भ्रम भी ईश्वर ही मे मानना होगा। ऐसा कहना ईश्वर की ईश्वरता का अनादर होगा। ईश्वर मे तो अज्ञान वा भ्रम का काम ही नही है, वह तो जीव मे ही रहता है। वह भी उस (जीव) के स्वरूप मे नही, केवल माया के सम्बन्ध से ही रहता है।

जीव और अज्ञान

जीव की स्थिति अज्ञान वा भ्रम से होने का अभिप्राय यह लिया जाय तो अयुक्त नही है कि अज्ञानदशाप्राप्त जीव मायाविशिष्ट है। उसका अज्ञान दूर होजाने से वह शुद्ध मुक्तात्मस्वरूप हो जाता है। यह कहना कि ज्ञानावस्था प्राप्त होने पर सर्वत्र एक ब्रह्म ही दीखता है, उपहासास्पद है। ऐसा उपदेश करनेवाले को ज्ञान प्राप्त होने पर सब ब्रह्म दीखने चाहिए थे। फिर उपदेश किसको किया गया? यदि यह कहा जाय कि उपदेश के समय उसको ज्ञान प्राप्त नही हुआ था तो अज्ञानी के उपदेश मे क्या तथ्य हो सकता है? क्या वह मान्य है?

जगत् को मिथ्या कहना भी भूल ही है। अजा और अज वाले प्रकरण मे पहले ही कहा जा चुका है कि जगत् सत्य है। जो सामने दीखता है उसको मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? परिणामी होने से ससरण करता रहता है, बदलता रहता है। इसी कारण उसे ससार कहा जाता है।

जगत् का स्वरूप

यदि भगवान् को नित्य मानते है तो उनकी विभूति को भी नित्य मानना होगा। राज्य-सम्पत्ति-विरहित पुरुष को राजा कौन कहता है? इसी प्रकार ऐश्वर्य बिना ईश्वर कैसा? भगवान् को जगत् का रक्षक और पालक माना जाता है। जगत् को मिथ्या मानलेने से वह मिथ्या-जगत् का पालक सिद्ध होता है और व्याप्य के बिना उसको व्यापक कहना भी अनर्थ होगा। रात-दिन हम लोग खाते है, पीते है, सूँघते है, स्पर्श करते है, देखते है, सुनते है---यह सब जगत है और हम लोग भी जगत् है, या यो कहिए कि जगत् मे है। यह सब कुछ व्यवहार करते रहना, फिरभी निषेध करते रहना बिल्कुल इसी तरह की बात है कि एक पुरुष ने दूसरे से कुछ पूछा तो, उसने उत्तर दिया कि मरा हुआ आदमी भी कही बोला करता है? मै तो परसो मर चुका हूँ। पूछनेवाले ने कहा---आप बोल रहे है, इसलिए प्रामाणिक रूप से आप मरे नही, जीवित है, फिर भी आप अपने को मरा कैसे समझते है? वह बोला---एक ज्योतिषी ने मुझसे कहा था कि तुम १५ तारीख को मर जाओगे। पन्द्रह तारीख परसो बीत गई। मुझे ज्योतिषी की बात का विश्वास है। मै निश्चित रूप से परसो मर चुका, जीवित नही हूँ, मृतक हूँ। इस जगत् को मिथ्या बताना वैसी ही बात है।

जो लोग ससार को मिथ्या कहते है वे यह भी कहते है कि वह स्वप्नवत् मिथ्या है, पर स्वप्न को मिथ्या कहना भी मिथ्या है। स्वप्न जिस अवस्था मे होता है, उसमे मिथ्या नही होता। स्वप्नावस्था के सुख-दु ख स्वप्न काल मे भोगे जाते है और उस काल मे सत्य ही होते है। इसी प्रकार

क्या जगत मिथ्या है?

जाग्रत अवस्था के सुख-दु ख जाग्रत काल मे भोगे जाते है और सत्य होते है। पिछले मास मे आपके मित्र को पुत्र-जन्म का सुख हुआ था। वह सचमुच हुआ था या नही? थोडे दिन पहले जब आपके पडौसी के पिता का देहावसान हुआ था, वह दु खी होकर हाय-हाय करता था। वह दु ख सचमुच दु ख था या नही? किसी को सिह खा गया और किसी को उच्च पद मिल गया—ये सब व्यवहार रातदिन प्रत्यक्ष देखने मे आते है। फिर मिथ्या कैसे कहे जा सकते है? यदि यह कहा जाए कि ये व्यवस्थाएँ सदा एकसी नही बनी रहती, स्थायी नही हैं, परिवर्तनशील है, तो ठीक है। इसी कारण प्रपच को परिणाम भी कहा जाता है। यह इसका स्वभाव है। एकसी स्थिति तो लगातार सूर्य-चन्द्रमा की भी नही रहती। 'सृष्टि रचे जाने पर परमात्मा इनकी भी पुन पुन यथापूर्व कल्पना करता है', यह वेदो† मे लिखा है, परन्तु इससे जगत्, जो ईश्वर की सम्पत्ति है, मिथ्या सिद्ध नही होता। प्रकृति की दशा को, चाहे समष्टि रूप मे लीजिए चाहे व्यष्टि रूप मे, मिथ्या नही कहा जा सकता। हाँ स्थूल-सूक्ष्म का व्यवहार कहा जाता है। यदि यह सत्य है कि 'ईश्वर की माया अजा है, अनादि काल से चली आती है तो उसके भीतर वर्तमान अवस्थाएँ भी, चाहे वे जाग्रत जगत् की हो चाहे स्वप्न जगत् की, सत्य है। सत् वस्तु का अभाव तो कभी हो ही नही सकता। स्वभाव-परिणाम और स्वरूप-परिणाम, ये दोनो प्रकृति मे होते है। यह पहले ही कहा जा चुका है। हाँ, कभी-कभी देखी हुई बात को भी समझने की आवश्यकता होती है, इस प्रकार —एक आदमी घोडे पर चढा हुआ जा रहा था, पर उसको भूल गया और किसी आने वाले से पूछा कि मेरा घोडा खोगया है। क्या तुम्हे वह कही मार्ग मे मिला था? पथिक बोला—आप चढे किस पर जाते है? घोडेवाले ने नीचे घोडे की ओर देख कर कहा कि भाई सूझ से बूझ बडी है।

† ऋतञ्च × × **सूर्याचन्द्रमसौ** × × **दिवञ्चपृथिवीं** × ×

अध्याय २

अब प्रश्न यह उठता है कि जीव और ईश्वर दोनो मे सर्वथा अभेद स्थिर करके दो नाम का एक द्रव्य मान लेने से किस अनर्थ की सभावना है? इसका सुन्दर उत्तर इस श्लोक मे दिया गया है--

जीव और ईश्वर का सबध

अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या अस्वे स्वमिति या मति ।
अविद्यातरुसभूत बीजमेतत् द्विधा स्मृतम् ।।

अर्थात् शरीर जड है, उसमें चेतन आत्मा की बुद्धि करना और पराये धन को अपना मानलेना, ये दोनो बीज अविद्या वृक्ष को उत्पन्न करते है। ऐसा मानना बन्धन की सामग्री जुटाना है। महाभारत में भी कहा गया है --

योऽन्यथासन्तमात्मान अन्यथा प्रतिपद्यते ।
कि तेन न कृत पाप चोरेणात्मापहारिणा ।।

आत्मा दूसरे प्रकार का है। उसको जो दूसरे प्रकार से प्रतिपादन करता है, आत्मा की चोरी करनेवाले उसने भला कौन सा पाप नही किया? अभिप्राय यह है कि जीवात्मा परमात्मा की सम्पत्ति है, फिर स्वामी के साथ उसका सर्वथा अभेद स्थिर करके दो नाम का एक द्रव्य जैसा मानलेना आत्मा की चोरी करना है। इससे तो जीवात्मा के स्वामी के स्वत्व का ही नही, स्वय उसके स्वरूप का अनादर सा किया जाता है। स्वामी को दास समझ लेने मे और दास को स्वामी समझ लेने मे स्वामी का ही अनादर है, क्योकि अप्रतिष्ठा बडे की हुआ करती है। यहाँ बडा परमात्मा है। वह प्रतिष्ठा-प्रतिष्ठा से ऊपर है। उसकी अप्रतिष्ठा हो ही नही सकती। परमात्मा के स्वत्व या स्वरूप को गिराने मे स्वय गिरानेवाले का ही अध पतन है क्योकि ऐसा व्यवहार जीवानुरूप नही है। स्वामी को सम्पत्ति या

सम्पत्ति को स्वामी कहने में केवल अन्यथाप्रतिपादन है, जो पाप है और बधन की सामग्री है।

जीव जात्या एक है, किन्तु स्वरूप से नाना है। उपनिषद् मे भी आया है कि 'भीतर प्रवेश किये हुए जो जनो पर शासन करता है वह सर्वात्मा है'। इस वाक्य मे 'जनो' शब्द बहुवचन है और 'सर्वात्मा' शब्द एकवचन है। इससे स्पष्ट है कि जीव अनेक है और भिन्न-भिन्न है और परमात्मा एक है जो सब मे सर्वात्मा होकर रहता है।

जीवानेकता

जो एक देश मे अत्यन्त छोटा होकर रहता है उसको अणु कहते है और जो एक ही सर्वत्र रहता है उसे विभु कहते है। जीव एकदेशीय है, उसका स्वरूप अणु है। परमात्मा सर्वदेशीय है, विभु है, इसी कारण उसे सर्वात्मा कहा जाता है। यहाँ यह भी प्रश्न हो सकता है कि जीव को विभु मानने मे क्या दोष है? ऐसा मानने मे श्रुति झूठी सिद्ध होती है। 'श्रुति ह्येवायमात्मा' वाक्य उक्त प्रश्न के लिए कोई अवकाश ही नही छोडता। इससे जीव की हृदय में स्थिति प्रमाणित हो जाती है। साथ ही श्रुतिद्वारा जीव का उत्क्रमण एव उसकी गमनागमन क्रिया भी प्रतिपादित होती है। जीव का शरीर से उत्क्रमण बृहदारण्यक की इस श्रुति से प्रमाणित हो जाता है—

जीव की अणुता और एकदेशीयता

"तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुपो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य "

उसीसे यह आत्मा नेत्र से, मूर्द्धा से अथवा शरीर के किसी अन्य भाग से बाहर निकलता है। **बृहदारण्यक ४ ४ २**

उसके गमन मे कौपीतकी उपनिषत् की यह श्रुति प्रमाण है

"येवैके चास्माल्लोकात्प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति"

यह बृहदारण्यक की श्रुति आगमन मे प्रमाण है —

तस्माॅल्लोकात्पुनरेत्यास्मै लोकाय कर्मणे"।

तथा लोकान्तरगमनादिक मे ब्रह्मसूत्र प्रमाण है —

"उत्क्रातिगत्यगतीना"।

अब विचार यह करना है कि जीव को 'अणु' मानने से तो उसकी एकदेशस्थिति तथा आना-जाना सगत हो जायगा और 'विभु' मानने से यह सब निरर्थक हो जायगा क्योकि विभु सर्वत्र रहने से उसका आना-जाना बन ही नही सकता। शास्त्र ने जीव को अणु स्वरूप बताया है। मुण्डकोपनिपत् का वचन है —"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य" श्वेताश्वतरोपनिषत् का वचन है —"बालाग्रशतभागस्य शतधा-कल्पितस्य च भागो जीव स विज्ञेय," अर्थात् बाल के अग्रभाग के शतशताश प्रमाण जीव को समझना चाहिए। उसी उपनिपत का दूसरा वचन यह है— "आराग्रमात्रो ह्यवरोपि दृष्ट" अर्थात् जीव सुई के अग्रभाग के बराबर है। विष्वक्सेन सहिता का वचन है—

"स्वरूपमणुमात्र स्यात् ज्ञानानन्दैकलक्षणम्।
त्रसरेणु प्रमाणस्ते रश्मिकोटिविभूपिता ॥"

इन सब प्रमाणो मे जीव अणुस्वरूप प्रतिपादित होने से तथा पहले कहे हुए वचनो से जीव के 'आना, जाना, निकलना' आदि व्यवहार स्पष्टत सिद्ध होने से उसे विभु नही माना जा सकता।

यहाॅ यह प्रश्न उठ सकता है कि जीव को अणु मान लेने से इसकी स्थिति एकदेशीय बन जायगी, फिर इतने बडे शरीर मे कही भी चोट लगने पर पीडा क्यो होती है? अथवा एक ग्राम मे बैठा हुआ अणु जीव पाॅच सौ कोश की बात कैसे कह देता है?

इस प्रश्न का उत्तर समझने के लिए धर्म और धर्मी का समझना आवश्यक है। अणु स्वरूप जीव धर्मी है और चारो ओर फैलने वाला उसका ज्ञान धर्म है। जैसे दीपक धर्मी है और उसका प्रकाश जो चारो ओर फैलता है, वह धर्म है। एक धर्मीभूत ज्ञान होता है, एक धर्मभूत। चारो ओर अपना प्रकाश फैलाने के लिए दीपक अपना

जीव के धर्म की विभुता

स्थान नही छोडता फिरता। वह अपने स्थान पर रहता है। चारो ओर फैलने की शक्ति प्रभा मे है जो धर्मभूत ज्ञान है। इस उदाहरण मे इतनी सी कमी रहती है कि दीपक जड होने से इसकी प्रभा के सम्बन्ध मे कहा हुआ 'ज्ञान' पद उपयुक्त एव सार्थ नही है। यहाँ इससे केवल अभिप्राय समझ लेना चाहिए। 'ज्ञान' पद का प्रयोग चैतन्य जीव के सबध मे ठीक और सार्थ है। धर्मभूत ज्ञान के बिना धर्मी तथा अन्यान्य द्रव्यो का बोध नही होना है, जिसके लिए धर्मभूत ज्ञान अपेक्षित रहता है। धर्मी मे धर्मभूत ज्ञान की यथार्थता यह है कि उसको अपने स्वरूप का बोध करने मे धर्मभूत ज्ञान तथा अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा नही रहती है। दीपक की प्रभा के बिना घटपटादि अनेक वस्तुओ को कोई नही देख सकता और दीपक को भी नही देख सकता। यह धर्मभूत ज्ञान दिखानेवाला होने से इसकी इतने व्यवहार के लिए आवश्यकता रहती है, परन्तु दीपक को स्वय अपने स्वरूप को देखने मे उस प्रभा तथा अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नही है। उसका जो धर्मभूत ज्ञान है वही पर्याप्त है। इस व्यवहार को जीव पर समझ लेना चाहिए। वही जीव का विभुत्व प्रतीत होने पर यह समझ लेना चाहिए कि उस धर्मी का स्वरूप विभु नही है, उसका (जीव का) धर्मभूत ज्ञान ही विभु है।

उपर्युक्त विवेचना मे जीव को ज्ञानानन्द लक्षणवाला और उसके धर्मभूत ज्ञान को फैलनेवाला कहा है, किन्तु इसका ज्ञान सर्वत्र फैला हुआ नही दीखता, सकुचित रहता है। नही तो इसके पास विभु स्वरूप ज्ञान मौजूद है और परमात्मा के स्वरूप से बढ कर कुछ भी जानने योग्य नही है। उसको जानने मे कितना बडा आनन्द रहे!

जीव के ज्ञान-सकोच का कारण

जीव के ज्ञान-सकोच का कारण माया है। उसीने जीव के धर्मभूत ज्ञान को ढक रक्खा है। अतएव यह चेष्टा होनी चाहिए कि जीव के ऊपर से माया का भारी आवरण हट जाए। जीव मे ज्ञान को कही बाहर से नही लाना है, वह तो इसके स्वरूप ही मे विद्यमान है। माया के हटने

से वह स्वय फैलेगा। इसीलिए एक पूर्वाचारी ने श्रीमन्नारायण के प्रति कहा है—

"उल्लघितत्रिविधसीम समातिशायीसभावन तव परिव्राढ स्वभाव।
माया बलेन भवतापि निगुह्यमान पश्यन्ति केचिदनिश त्वदनन्यभावा" ।।

अर्थात् त्रिविध सीमा, † सम, अतिशय एव सभावना का उल्लघनवाले, परम ऐश्वर्यवान् अपने स्वरूप को आपने ही माया के बल से छिपा रक्खा है, उसके निरन्तर दर्शन वही लोग करते है जो आप मे अनन्यभाव है।

माया की जटिलता

ससारी लोग प्राय इस माया को छोडने के पथ पर नही चलते, प्रत्युत उसको अधिकाधिक पकडते चलते जाते है। भोजन मेरा है, वस्त्र मेरा, स्त्री मेरी, बन्धु-जन मेरे—इस प्रकार मेरा, मेरी और मेरे मे 'मे' 'मे' कहनेवाले पुरुषरूपी बकरे को काल-वृक मार डालता है"।‡ पुरुष ममता के प्रभाव से मेरा-मेरा करता हुआ माया मे लिप्त होता चला जाता है। जो माया से अपना पीछा छुडाना चाहते है वे ममता और अस्मिता से मुक्त होने का सतत प्रयत्न करते है। "अहकार रूपी चाण्डाल के मर जाने पर उसकी पतिव्रता स्त्री ममता भी नष्ट हो जायगी और स्तन्य से विरहित होकर उसके दोनो स्तन्यपायी शिशु (राग-द्वेष) भी नष्ट हो जायँगे।¶

---

† त्रिविधसीमा—देश, काल, निमित्त। यह नही कहा जा सकता कि भगवान् का स्वरूप अमुक देश से अमुक देश तक है, आगे पीछे नही है, और यह भी नही कहा जा सकता कि अमुक काल से अमुक काल तक है, आगे-पीछे नहीं है, और न यही कहा जा सकता है कि अमुक वस्तु के तुल्य है, अथवा अमुक वस्तु से इतना बडा-छोटा है, अतएव देशपरिच्छेद, कालपरिच्छेद तथा वस्तु-परिच्छेद ये तीन सीमाएँ भगवान् के साथ लागू नही होती है।

‡ अशन मे, वसन मे, जाया मे, बन्धु वर्गो मे।
इति मे मे कुर्वाण कालवृको हन्ति पुरुषाजम् ।।

¶ नष्टेऽहकारचाण्डाले सा नश्येन्ममता सती।
नश्यता स्तन्यविरहात् रागद्वेषाविमौ शिशू ।।

यह अहकार उसी समय प्रबल दीख पडता है, जब हम परमशक्ति को भूल कर अपनी डेढचावल की खिचडी अलग पकाने लगते है ओर अपने आप को आगे निकालते चले जाते है। हमे यह न भूल जाना चाहिए कि हम परमात्मा के दास है अथवा उसकी वस्तु है। इसलिए स्वामी के महत्व का जितना वर्णन किया जाए उतना अच्छा है, यह नही कि वस्तु स्वामी को छोड कर आगे निकलकर अपनी ही टेटे करने लगे। उसे अपने स्वरूप के अनुरूप व्यवहार करना है। यही कल्याणकर भी है। इस जगत मे देखने मे आता है कि किसी यश के कार्य के बनने पर लोग अपने आप आगे निकल कर कहते है कि यह हमने किया है और अपयश का काम होने पर अपने को पीछे छिपाकर उसको परमात्मा पर डाल देते है कि हम क्या करे? अपना वश भी क्या है? प्रभु की इच्छा प्रबल है। यह 'कडुवे के प्रति थू-थू और मीठे के प्रति हप-हप' स्पष्टरूप से नीचता है। करना तो यह चाहिए कि उत्तम कार्य के यश को परमात्मा के चरणो मे समर्पित करदे ओर अपयश स्वय स्वीकार करे।

सासारिक लोग निष्काम कर्म नही करते। वे इसी अभिप्राय से काम करते है कि या तो किसी का बुरा हो अथवा किसी लौकिक कार्य मे सिद्धि हो। इसका परिणाम यह होता है कि बन्धन बना रहता है। आवागमन का चक्र अनन्त है। कर्म-बन्धन मे रहते हुए इस चक्र से छुटकारा नही मिलता। यही माया का बन्धन है।

जीव और अनादि बधन

इस बन्धन मे जीव अनादि काल से चला आता है। किसी तिथि या वार का नाम नही लिया जा सकता कि जीव अमुक समय से बधनगत है। जन्म-मरण से सम्बन्ध जोडकर इस बन्धन को साद्यन्त नही कह सकते। ऐसा मानने से परमेश्वर मे दोष आता है क्योकि एक आदमी दरिद्र पैदा होता है और एक लक्षाधीश। क्यो? दोनो की पृथक्-पृथक् दशा उनके निज-निज कर्म के अनुसार है। यदि ये कर्म-भोग नही है, तो क्या उन्हे परमात्मा ने ही ऐसा पैदा किया है? यदि वह

ऐसा करता है तो उसमे वैषम्य दोष सिद्ध होता है, वह पक्षपाती सिद्ध होता है, क्योंकि पिछले कर्मो की तो कोई बात ही नही उठती और नए प्राणी परमात्मा के उत्पन्न किए हुए है। धनी और निर्धन का भेद उसीने किया है। आदि ही मे यह भेद परमात्मा का अन्याय ठहरता है। इस जगत् मे अनेक प्राणी अपने सामने ही ऐसे जन्म लेते है कि वे जन्म से ही अधे, रोगी तथा दुखी होते है ओर अनेक बडे सुन्दर अगोवाले, नीरोग तथा सुखी होते है। इससे यह भी कल्पना होगी कि परमात्मा बडा नृशस है कि बिना कारण के ही वह अनेक जीवो को आदि ही मे दुखी कर देता है। इस दोष का परिमार्जन उसी दशा मे हो सकता है जब कि यह मान लिया जाय कि प्रत्येक जीव को निजकृत शुभाशुभ कर्मो का फल भोगने के लिए आवागमन के चक्र मे प्रवेश करना ही पडता है क्योकि ससार मे कारण-कार्य-सबध अमिट है, जैसा कारण होगा वैसा कार्य होगा। कार्यरूप फल कारण-रूप कर्म के सम्बन्ध से है। ऐसा मानने से परमात्मा मे वैषम्य और नैघृण्य दोष नही आता है। व्यास-सूत्र इसी मत का प्रतिपादन करता है—"वैषम्य नैघृण्येन सापेक्षत्वात्"

जीव के अनादि होने से उसका बन्धन भी अनादि ही मानना पडेगा। यह बधन ही माया है, जिसको 'अजा' कहा गया है।

जीव-बधन या कर्मफल तथा ईश्वर

शुभाशुभ फल मे कर्म की कारणता स्वीकार करके भी हम उसे परमात्मा द्वारा नियन्त्रित मानते है। यह ठीक है कि हत्यारा अपने अपराध से जेल मे पहुँच जाता है। यह राजनियम है, परन्तु कोई बलवान् चेतन न रहने से उसे जेल मे कौन पहुँचाएगा? इसके लिए राजशक्ति अपेक्षित रहती है। कर्म जड है और कार्य-कारण का नियम भी जड प्रकृति की ही व्यवस्था है, अतएव कर्म स्वत फल तक नही पहुँच सकता। इस कारण एक ऐसी चेतन शक्ति की अपेक्षा रहती है जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान हो।

परमात्मा मे ऐसी ही शक्ति की कल्पना की गई है। वह सर्वज्ञ होने से सब के कर्मो को जानता है और सर्वशक्तिमान् होने से सबको अपने-अपने कर्म-फल पर पहुँचा देने की पूर्ण सामर्थ्य रखता है और वही जीवो को यथायोग्य फल-भोग कराता है।

जो मुक्त जीव है उनके सबध मे तो बन्धन की कोई बात उठती ही नही है और जो बद्धजीव है उनके सम्बन्ध मे यह कल्पना भी व्यर्थ ही होगी कि बधन मे आने की उनकी इच्छा हुई थी और न माया ही उनको पकड सकती है क्योकि वे उसकी सीमा से बाहर है। फिर यह कहना भी अनुचित ही होगा कि परमेश्वर ने बलपूर्वक उन्हे माया के बन्धन मे धकेल दिया, क्योकि वह न तो उन्मत्त ही है ओर न भ्रान्त ही। वह प्रयोजनो से भी ऊपर है, इसलिए निरपराध जीवो को माया के बन्धन मे डालने के लिए परमेश्वर के बलात्कार का कोई कारण नही दीख पडता। माया का बन्धन अनादि है। इसका प्रमाण माण्डूक्योपनिषत् है कि "जीव अनादि माया से सोया हुआ है"।† किन्तु यह नही माना जासकता कि अविद्या वा अल्पज्ञान जीव के स्वरूप मे है, उस पर आरोपित नही है। प्रकृति प्रलयावस्था मे सूक्ष्म होकर परमात्मस्वरूप मे लीन रहती है,‡ किन्तु परमात्मा से उसका अभेद नही होता। केवल नाम-रूप विना, सूक्ष्म होने से उसकी पृथक् प्रतीति नही होती। सब पदार्थो से परमात्मा का सम्बन्ध नित्येच्छामूलक है, जीव का ऐसा नही है। जीव तो अनादि काल से कर्म करता और सुख-दुःख भोगता चला आता है। अविद्या प्रकृति को भी कहते है और तत्कार्य (अविद्याकार्य) अज्ञान को भी कहते है। यदि अविद्या वा अज्ञान जीव मे आरोपित न होता, उसके स्वरूप मे ही होता तो कभी दूर न हो सकता, परन्तु उसका दूर होना स्पष्ट है। उसके दूर होने से ही जीव की मुक्ति कही जाती है।

---

† "अनादि मायया सुप्त"—माण्डूक्योपनिषत्

‡ "तम परे देव एकीभवति"—

इससे यह निष्कर्ष निकला कि ज्ञान और शक्ति के बिना कुछ भी नही हो सकता क्योकि जड कर्म अपने आप फल पर नही पहुँच सकता । माया जड है और जीव भोगनेवाला है, अतएव भोग करानेवाले सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की आवश्यकता होती है, परन्तु वह परमेश्वर भी कर्म के अनुसार ही भोग कराता है। वह कर्म उस माया का अग है जो परमात्मा का विशेषण है। इससे सब मे परमात्मा की ही प्रमुखता प्रतीत होती है।

परमात्मा के गुणो और नामो का माहात्म्य

वह परमात्मा अनन्तगुणयुक्त है। उसके प्रत्येक गुण मे बडा भारी चमत्कार है। यदि एक-एक गुण को लेकर परमात्मा के नामो की गणना की जाय तो उसका भी कोई अन्त न होगा क्योकि उसके नाम तो अनन्त होगे। उस दिव्य मगलविग्रह के न रूप-सौन्दर्य की सीमा है, न गुणो की और न नामो की। युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्म ने कहा है—"जिससे सब भूत युग के आदि मे उत्पन्न होते है और युग के अन्त मे वे सब उसी मे प्रलीन होजाते है, उस लोकप्रधान, जगन्नाथ, भूपति विष्णु के पाप-भय को मिटानेवाले सहस्र नामो को सुन। उस परमात्मा के जो गौण नाम विख्यात है और ऋषियो ने जिनका परिगान किया है, उनको कल्याण के लिए कहूँगा।"† उन नामो को गौण इसीलिए कहा है कि उनसे भगवद्गुण प्रतिपादित होते है। भगवान् का दिव्य मगल विग्रह तो इस मायामण्डल मे भ्राम्यमाण जीवो के दर्शन करने मे आता नही है, और न वह वाणी और मन का विषय ही बनता है, जिसके वर्णन मे वेदो को भी 'नेति-नेति'

---

† यत सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे ।
यस्मिश्च प्रलययान्ति पुनरेव युगक्षये ।।
तस्य लोकप्रधानस्य जगन्नाथस्यभूपते ।
विष्णोर्नाम सहस्र मे श्रृणु पापभयापहम् ।।
यानि नामानि गौणानि विख्यातानि महात्मन ।
ऋषिभि परिगीतानि तानि वक्ष्यामि भूतये ।।

का ही सहारा लेना पडता है, इसलिए भगवान् के प्रकट रूप से सुवि-ख्यात एक सहस्र गुणो के प्रतिपादित करने वाले नामो को सहस्रनाम की माला मे ग्रथित करके भीष्म ने ससारी जीवो की उत्तम गति का मार्ग खोल दिया है। उन्होने स्पष्टत बतला दिया है कि सब धर्मो से अधिकतम धर्म अनेक स्तवो से सदैव पुण्डरीकाक्ष का भक्तिपूर्वक अर्चन करना है।†

करण, कारण कर्त्ता, विकर्त्ता

उसी विष्णुसहस्रनाम के अन्तर्गत 'करण, कारण, कर्ता, विकर्ता' —ये चार नाम एक साथ आए है। पहले तीन नामो से भगवान् को उपादानकारण, सहकारीकारण, और निमित्त कारण कहा है। सूक्ष्म चित् और अचित् विशिष्ट होने से ब्रह्म की उपादानता है। इस भाव को लेकर उसे करण कहा है। काल और अदृष्ट आदि से विशिष्ट होने से 'सहकारिता' है। इस भाव को लेकर कारण कहा है। ज्ञान, शक्ति आदि से विशिष्ट होने से निमित्तता है, इस भाव को लेकर कर्त्ता कहा है। ये तीनो नाम ब्रह्म को कारण मान कर कहे गये है। ब्रह्म की कार्यरूपता उसी का विकार है। जो कारणावस्था मे चित्, अचित् और ईश्वर है, उसी का स्थूल चिदचिद्विशिष्ट होना 'कार्यता' है। इस भाव को लेकर ब्रह्म को 'विकर्ता' कहा गया है।

उपादानता अवस्थाश्रयत्व है। कार्यता अवस्था मे रहती है। सिद्धान्त मे सब वस्तु नित्य होने से चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर मे उपा-दानता है, केवल ईश्वर मे नही है। घट का उपादान कारण मृत्तिका है जिसमे पिण्डत्व और घटत्व दोनो अवस्थाएँ होती है। घटत्वावस्था के प्रति पिण्डत्वावस्था कारण है। सब वस्तुओ मे उत्तरावस्था के प्रति पूर्वावस्था कारण है। उपादान कारण की कार्य मे नित्यस्थिति रहती है। अतएव उसे अधिष्ठान रूप से समझना चाहिए। अपने शरीर मे ही जीव पर घटाकर देखिये कि बाल्य, कौमार, यौवन और

---

† **एष मे सवधर्माणा धर्मोऽधिकतमो मत ।**
यदभक्त्या पुण्डरीकाक्ष स्तवैरर्चेन्नर सदा ।।

बार्द्धक्य अवस्थाएँ होती है। यह परिणाम शक्ति स्वत जड माया मे नही है। जीव के अधिष्ठान से बाल शरीर युवा शरीर हो सकता है, वृद्ध हो सकता है। जीव का अधिष्ठान यदि शरीर की बाल्यावस्था मे ही दूर हो जायगा तो शरीर की कौमार, यौवन एव बार्द्धक्य अवस्थाएँ नही होगी। इस व्यवस्था मे शरीर की अवस्थाओ के प्रति जीव की उपादानता समझनी चाहिए। अवस्थाश्रयत्व लक्षण होने से अविकारी-जीव-स्वरूप मे यह उपादानता नही हो सकती है, शरीरविशिष्ट जीव-स्वरूप मे हो सकती है। इस शरीर के उदाहरण को समझ कर आगे ईश्वर मे लेचलना चाहिए क्योकि भगवदधिष्ठान विना किसी भी पदार्थ मे परिणाम-शक्ति स्वत नही है, इसी कारण तो उपनिषत् ने यह कहा है कि ईश्वर प्रपच मे अनुप्रवेश करके आप ही चित् होगया और आप ही अचित् होगया। यह परिणाम शक्ति केवल ईश्वर मे भी नही है और केवल चेतनाचेतन मे भी नही है, भगवदधिष्ठित चेतनाचेतन मे है। अवस्थाश्रयत्व के लक्षण को लेते हुए जीवाधिष्ठित शरीर मे परिणाम-शक्ति चेतन अधिष्ठान के सहारे से है और इतना ही भेद चेतन स्वरूप और परमात्मस्वरूप का है। हाँ, यह बात अलग रही कि शरीर-सबध से जीव को सुखित्व-दु खित्वादि विकार हो जाता है। परमात्मा मे यह नही होता है क्योकि जीव तो कर्म-परवश होने से कर्मानुसार सुख-दु खादि भोगता है और परमात्मा कर्माधीन न होने मे शरीर-सबध-युक्त सुख-दु खादि नही भोगता है। उपादानता समझाने मे यह "करण" नाम की व्याख्या हुई। अब चारो नामो के सबध मे चारो नामो की व्यवस्था इस प्रकार समझनी चाहिए —

(१) करण—सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टत्वेन ब्रह्मण उपादानता।

(२) कारण—कालाऽदृष्टादिविशिष्टत्वन सहकारिता।

(३) कर्त्ता—ज्ञानशक्त्यादिविशिष्टत्वेन निमित्तता।

(४) विकर्त्ता—स्थूलचिदचिद्विशिष्टत्वेन कार्यता।

इस व्यवस्था को समझने के लिए घट का उदाहरण ले सकते है। घट-निर्माण मे मृत्तिका उपादान करण है। वह, किसी एक अवस्था के आश्रय सेघट मे निरन्तर रहती है। उसके बिना काम नही चल सकता। घट के निर्माण मे काल, अदृष्ट रस्सी-चाक आदि सामग्री रहती है। ये सहकारी कारण है। बनाने वाला कुम्हार एव उसमे घट बनाने की चतुरता, शक्ति, ज्ञान आदि निमित्त कारण है। इसी प्रकार उस प्रधान पुरुषेश्वर मे यह सब कारणता प्रथम तीन नामो "करण, कारण, कर्त्ता," के स्वरूप मे स्थित है। कार्यावस्था मे भी वही चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर स्थूल रूप से रहता है जो कारणावस्था मे सूक्ष्म रूप से था। कार्यावस्था पूर्व सूक्ष्मावस्था का ही विकार है। अतएव इसमे होने से प्रभु का चौथा नाम विकर्ता हुआ है।

यह नामार्थबोध होकर सबध-ज्ञान के साथ-साथ स्पष्टत वेदान्त ज्ञान होजाता है कि परमात्मा शरीरी अधिष्ठान है। उसी मे स्वतत्रता के साथ धारकत्व लक्षण बनता है। उसके सहारे के बिना इस प्रपच का एक क्षण भर भी ठहरना सभव नही है क्योकि यह प्रपच उसी के रूप मे अधिष्ठित है और उसका शरीर होने से इसमे धार्यत्व लक्षण विद्यमान है। अथवा एक मोटा सा दृष्टान्त यह ले सकते है कि जिस प्रकार मेरुदण्ड के बिना मनुष्य का शरीर नही ठहर सकता अथवा दीवार वा पत्र बिना चित्र नही बन सकता उसी प्रकार परमात्मा के बिना यह प्रपच नही ठहर सकता।

जब यह ज्ञान का प्रकाश होता है तो अधेरे मे पडी हुई भक्ति रूपी मणि दीखने लगती है। जब ज्ञानी पुरुप उसे उठाता है तो

विलक्षण भक्ति

मानो उसमे कान्ति आजाती है और विशेष रुचि होती है। जब प्रभाव बढता है तो भाव प्रेमवाणी द्वारा अनेकश व्यक्त होने लगता है। कोई कहता है "त्रिलोकीनाथ को छोड कर कुछ भी सार नही है"। कोई कहता है—"बिना हुकम हालै नही तरवर हू को पात"। कोई कहता है—"मेरे तो जीवन कान्हा'। कोई कहती है—मेरे तो

गिरिधर गोपाल, दूसरा न कोई"। कोई बोलता है—"मेरे प्राणाधार तो केवल नदलाल है"। कोई कहता है—"राम के बिना एक क्षण भरभी टिकने की योग्यता नही है"। कोई कहता है—"हे रघुनन्दन, आपकी सत्ता से यह चराचर का सब व्यवहार दीखता है"। कोई कहता है—"प्रभु, इस सारी ससारलीला के मुख्य कारण आप ही हो"। कोई कहता है—"आपकी तनिक दृष्टि से ही सब जगत् की शोभा बनी हुई है, उसके तनिक हटा लेने से ही सब जगत् सिमट सकता है"। स्वामी यामुनाचार्य ने भी कहा है—

"नावेक्षसे यदि ततो भुवनान्यमूनि ।
नाल प्रभो भवितुमेव कुत प्रवृत्ति ॥
एव निसर्गसुहृदि त्वयि सर्वजन्तो ।
स्वामिन् न चित्रमिदमाश्रितवत्सलत्वम् ॥"

अर्थात् हे प्रभो! आपकी दृष्टि के बिना इन भुवनो का होना ही नही बनता, प्रकृति की तो बात ही क्या है! इस प्रकार स्वभाव ही से सब जीवो के सुहृद आप मे आश्रित यह वत्सलता कुछ विचित्र नही है।" फिर भी भक्ति की प्राप्ति सहज नही है। नारद मुनि ने कहा है—"हजारो जन्मो मे तप, ध्यान और समाधियो द्वारा जिन मनुष्यो ने अपने पापो को क्षीण कर दिया है उन्ही की कृष्ण मे भक्ति होती है।"† यो तो भगवदनुग्रह से सब कुछ सुलभ होता है। किन्तु जो कुछ ऊपर बताया जा चुका है वह सब ज्ञान होने पर, तथा स्व, पर एव विरोधी स्वरूप, उपायस्वरूप, और फलस्वरूप का ज्ञान होने पर तथा जीव और ईश्वर के सबध का ज्ञान होने पर और उस सबध के होते हुए जीव मे स्वरूपानुसार रहने के ज्ञान के होने पर भक्ति का जो उदय होता है, वह विलक्षण होता है। भगवान् ने 'ज्ञानी भक्त' को सबसे अधिक प्रिय बतलाया है।

यदि ईश्वर सर्वज्ञ न होता तो घट-घट की बात कैसे जानता

---

† जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभि ।
नराणा क्षीणपापाना कृष्णे भक्ति प्रजायते ॥

उसको तो सबका न्याय करना है, अतएव सर्वज्ञता अनिवार्य है। साथ ही उसकी सर्व शक्तिमत्ता भी अनिवार्य है, नही तो सामर्थ्य के बिना कर्मफल का यथायोग्य भोग कैसे करा सकता है? काल, अदृष्टादि सब अनुकूलवर्ती होते है, तत्त्वत्रय मे किसी की अनित्यता न होने से सब व्यवस्था ठीक बैठने मे कोई त्रुटि नही है।

ईश्वरीय सर्वज्ञता एव सर्वशक्तिमत्ता

कुछ लोगो को यह आपत्ति है कि परमात्मा को साकार मानने से उसमे एकदेशीयता का दोष आजायगा। ऐसी बुद्धि पूर्व संस्कारो के दुर्बल होने से ही उत्पन्न होती है, क्योकि उसे सर्व-एश्वर्य-सम्पन्न कहना और साथ ही साथ रूप-सम्पत्ति का दरिद्र मानना, कुबुद्धि नही तो क्या है? हम तो ऐसा भी नही कहते कि वह निराकार नही है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि भगवान् इस प्रपच मे आत्मा-रूप से अनुप्रविष्ट है। 'आत्मा-रूप' शब्द निराकार का ही बोधक है। निराकार के व्यवहार मे निराकार-भाव लेना तो ठीक है, किन्तु साकार के व्यवहार मे साकार का निषेध करना क्या चातुर्य है? चार प्रकार के मोक्षो मे 'सारूप्य' का भी नाम आता है। यदि भगवान् को रूपरहित मान लिया जाय तो 'सारूप्य' की क्या स्थिति होगी, और सर्वान्तर्यामी के व्यवहार मे सामीप्य और सालोक्य भी कैसे भरोगे? निराकार अन्तर्यामी तो अत्यन्त समीप है ही, फिर वर्तमान काल मे सामीप्य मोक्ष क्यो नही है? अकेले सर्वव्यापी व्यवहार से कोई न्यारा लोक नही कहा जा सकता। फिर सालोक्य मोक्ष का निर्वाह कैसे होगा?

निराकार एव साकार

परमेश्वर का आकार परम सुन्दर और विलक्षण है और परमात्मा एकदेशीय भी है और सर्वदेशीय भी है। बद्ध जीव परमातमा पर अपना नियम लागू नही कर सकता। परमात्मा ऐसा विलक्षण है कि उसके विषय मे कोई भी तर्क ठहर नही सकता। जीव के रूप मे ही कितना भेद है!

ईश्वरीय सौन्दर्य

अणु होने से एकदेशीय रहने पर भी मुक्त होने के पश्चात् इसका ज्ञान सकुचित नही रहता, सर्वत्र फैल जाता है। परमेश्वर की बात तो दूर रही, यह तर्क तो जीव पर ही लागू नही होता। जगह-जगह साकार का वर्णन है। उस साकार मगलविग्रह की प्राप्ति का नाम ही तो परमपद है जिसकी सब इच्छा करते है, अन्यथा अन्तर्यामी निराकार तो अत्यन्त निकट भाव से सब को अभी प्राप्त है। वह दिव्य आकार ऐसा सुन्दर है कि यदि कृपा से उसका दर्शन हो जाय तो फिर कुछ भी आनद शेष नही रहता। एक क्षण मे ही बेडा पार हो जाता है। पर उन दर्शनो की अभिलाषा किसको है? जो रुचि वास्तव मे उन दर्शनो के लिए होनी चाहिए वह तो उसके निषेध मे लग रही है। भला दर्शन का यह क्या उपाय है? और उपदेश भी किसको दिया जाय? "हजारो वर्षो से मनुष्यो को जिस बुद्धि की भावना होती आरही है, जीव उसी का सेवन करते है। अतएव उपदेश निरर्थक है।†

धर्म की अनेकरूपता

किसी बडी बात के सबध मे हजारो आदमियो की सम्मति पूछिए किन्तु सब की सम्मति कदाचित् ही एक होगी। यही बात धर्म के सम्बन्ध मे है। धर्म एक बहुत बडी बात है। इसके सम्बन्ध मे अनेक सम्मतियाँ हो तो आश्चर्य भी क्या? धर्म के सम्बन्ध मे उन भिन्न मतो को ही सम्प्रदाय कहते है। अनेक सम्प्रदायो के अनेक रक्षक दीख पडते है, जिस प्रकार से अनेक दुकानो के अनेक रखवाले व मालिक दीख पडते है। किसी छोटी दुकान मे थोडा माल दीखेगा और बडी दुकान मे अधिक माल रक्खा हुआ दीखेगा। इसी प्रकार अनेक सम्प्रदाय इस धर्म की अनेक दुकाने है। धर्म बडा सम्पत्तिवान् है। उसके अनेक अग है। कोई लोग अगो को लेते है और कोई अगी को। 'मुण्डे

---

† जन्मान्तरसहस्रेषु या बुद्धिर्भाविता नृणाम्।
तामेव भजते जन्तुरुपदेशो निरर्थक:॥

मुण्डे रुचिर्भिन्ना' के सिद्धान्त के अनुसार धर्मक्षेत्र मे भी अनेक मत होगये है।

यदि पिता अपने अनेक पुत्रो को शिक्षा देना चाहे तो वह पहले उनकी स्वाभाविक रुचि का पता लगाता है क्योकि जो शिक्षा उन बालको की स्वाभाविक रुचि के अनुकूल होगी वह सुगमता से दी जा सकेगी और विपरीत होगी तो बहुत बडा कष्ट उठाने पर भी उसका ग्रहण न हो सकेगा। उस स्वाभाविक रुचि के चिन्ह बाल्यावस्था से ही प्रतीत होने लगते है। तदनुसार ही पिता किसी को डाक्टरी, किसी को कैमिस्ट्री (रसायनशास्त्र) एव किसी को कानून पढाता है। यह व्यवहार की सुगम रीति जब धर्मोपदेश मे आती है तो इसका नाम सम्प्रदाय हो जाता है। "जो भली प्रकार गुरु-परम्परा से दिया जाय, उपदेश किया जाय, वह सम्प्रदाय है।" उपदिश्यमान अर्थ ही सम्प्रदाय शब्द का अर्थ है। यह भी कुछ बुरी बात नही है, अच्छी ही बात है। पथ वा पथ का अर्थ है मार्ग या पथ। धर्म की ऊँचाई पर जाने को मनुष्य जो मार्ग अगीकार करता है वही उसका पथ कहलाता है। आस्तिक मतो मे तीन बहुत प्रसिद्ध हो गए है। वैष्णव, शैव और शाक्त मत।

वैष्णव, शैव और शाक्त मत

'विष् व्यापने' से विष्णु शब्द बनता है जिसका अर्थ सर्वव्यापी है। जो परमात्मा को इस प्रकार सर्वव्यापी मान कर उससे अपनी लौ लगाता है वह वैष्णव है। वह न कोठे मे छिप कर रिश्वत लेगा, न किसी की हानि करेगा क्योकि उसके इष्ट से कोई स्थान वा व्यक्ति रिक्त नही है। सब भगवद्विभृति है, फिर अन्याय कहाँ छिपकर किया जासकता है और कैसे? किसको हानि पहुँचाई जासकती है? जो मनुष्य मन, वाणी और कर्म से भगवद्विभति और माहात्म्य को समभता है और जो एकरस एव सरल रह कर प्रेमपूर्वक व्यवहार करता है, वह सच्चा वैष्णव है।

शिव कल्याणस्वरूप को कहते है। जो भगवान् को मगलस्वरूप

जानता हुआ सबके कल्याण के लिए सचेष्ट रहता है, कभी किसी का अकल्याण नही चाहता, वह सच्चा शैव है।

शक्ति भगवन्माया को कहते हैं। कोई कोई उसे प्रकृति भी कहते है। उसकी विशालता और सौन्दर्य से वि[illegible]मत [illegible] [illegible]ग्ध होकर उसके स्वामी की सराहना करता हुआ जो प्रकृति के नि[illegible]मो का यथावत् पालन करता है, अर्थात् खाना, पीना, सोना, उठना, बैठना, फिरना, शौचादि व्यवहार ठीक-ठीक अपने-अपने समय पर करता है तथा प्रकृति के नियमो के अनुपालन से सुख प्राप्त करता हुआ, यथा शीतकाल मे गर्म वस्त्र धारण करता हुआ वा उष्णकाल मे चदनादि का विलेपन और शीतल वायु का सेवन करता हुआ, उचित रीति से निर्वाह करता है, वह सच्चा शाक्त है।

वैष्णव सम्प्रदाय मे उपासना की तीन पद्धतियाँ है (१) अचेतनविशिष्ट ब्रह्मोपासना, (२) चेतनविशिष्ट ब्रह्मोपासना, तथा (३) केवल कल्याणविशिष्ट ब्रह्मोपासना। यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रपच की सृष्टि करके तथा उसके भीतर अनुप्रविष्ट होकर भगवान् स्वय 'चेतनाचेतन' होगए है। यह समानाधिकरण्य शरीर-शरीरीभाव निबधन है। इसमे अचेतनविशिष्टता परमात्मा मे प्रतिपादित है। इसकी उपासना करने वाले को उपासना के अनुसार फल-दशा मे अचेतन ही भोग्य होता है। स्वर्गादि लोको मे जड पदार्थो के भोग (यथा रभादि के शरीर) इसी के फलस्वरूप है। जो परमात्मा मे प्रतिपादित चेतनविशिष्टता की उपासना करते है उनको उपासनानुसार फलदशा मे चेतन ही भोग्य होता है। यह आत्मप्राप्ति काम अर्थात् केवल की उपासना है। "सत्यज्ञानमनत ब्रह्म, आनन्दोब्रह्म" आदि वाक्यो से भगवान् मे सत्यादि गुण प्रतिपादित है। जो कल्याणगुणविशिष्टता की उपासना करते है उनको उपासना के अनुसार फलदशा मे भी भगवद्गुण ही अनुभव मे आते है। यह उनकी उपासना है जो ब्रह्मप्राप्तिकाम है।

अध्याय ३

देखते है कि सुवर्ण की परीक्षा के लिए कसौटी की आवश्यकता होती है। कसौटी पर रेखा खीच कर देखने से विदित होजाता है कि सुवर्ण उत्तम है, वा निकृष्ट। इसमे जैसे प्रमेय वस्तु सुवर्ण के लिए निकष-रेखा प्रमाण होती है, वैसे ही समस्त अस्तित्व-व्यवहार के लिए निकषवत् प्रमाण मुख्यतया तीन है। इनमे से एक या अधिक की साक्षी होने पर ही बात ठीक समझनी चाहिए। वे तीन प्रमाण है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, और (३) शब्द। प्रत्यक्ष (प्रति = सामने + अक्ष = इन्द्रिय) का अर्थ इन्द्रियो के सामने होता है। इन्द्रिय-सनिकर्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है। आकाश के शब्दगुण द्वारा कान से, वायु के स्पर्शगुण द्वारा त्वचा से, तेज के रूपगुण द्वारा नेत्र से, जल के रसगुण द्वारा जिह्वा से वा पृथ्वी के गधगुण द्वारा नासिका से प्रत्यक्ष होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहेगे। इस ज्ञान मे 'प्रत्यक्ष' प्रमाण होता है। दूसरा प्रमाण 'अनुमान' है जो नित्य-सबध ज्ञान से होता है जैसे, जहाँ धुआँ होगा वहाँ अग्नि अवश्य होगी। इस नित्य-सबध-ज्ञान के रहते हुए पर्वत मे चाहे अग्नि भले ही न दीखे, धुआँ दीखने मात्र स कह दिया जा सकता है कि पर्वत मे अग्नि है। ऐसा कहना असत्य नही है। तीसरा 'शब्द' प्रमाण है। यह आप्त वाक्य होता है, कहा हुआ हो चाहे लिखा हुआ। उसमे पूरी-पूरी विश्वासयोग्यता होने से उसकी सच्चाई पर सदेह नही हो सकता।

पदार्थ-विभाग

इन तीनो प्रमाणो के प्रमेय दो है—एक द्रव्य, दूसरा अद्रव्य। अद्रव्य दस गुणवाला है। वे गुण ये है—(१) शब्द, (२) स्पर्श, (३) रूप (४) रस, (५) गध, (६) सत्व, (७) रज, (८) तम, (९) सयोग, और (१०) शक्ति

इनमे प्रथम पाँच गुण तो 'प्रत्यक्ष' प्रमाण की व्याख्या मे कही हुई बातो से ही अवगत होगए थे कि पाँच भूतो के पाँच गुण है। सत्त्व, रज, और तम ये तीनो गुण प्रकृति के हैं। सत्त्व गुण निर्मल एव प्रकाशक है। यथार्थ निश्चयात्मक ज्ञान कराता है और शाति प्रदान कराता है। इस गुण की वृद्धि की दशा मे मृत्यु होने से जीव को उत्तम लोक की प्राप्ति होती है। रजोगुण तृष्णा, स्त्री, धनादि मे आसक्ति कराता है, विषयो मे प्रीति और चचलता उत्पन्न करता है। इस गुण की वृद्धि मे मत्यु होने पर कर्म-सगियो मे जन्म मिलता है। तमोगुण से मोह की सृष्टि, ज्ञान का आवरण और विवेक की हानि होती है। वह अज्ञान का कारण होकर विपरीत ज्ञान और निरुद्यमता का विस्तार करता है और जीव को प्रमाद, आलस्य और निद्रा मे लगा कर उसका बन्धन करता है। इस गुण की वृद्धि की दशा मे मृत्यु होने पर जीव मूढ योनियो मे जन्म लेता है।

सत्त्व, रज और तम

दो द्रव्यो के पारस्परिक सम्बन्धभूत गुण को सयोग कहते है। इसके दो भेद हैं—पृथक्सिद्ध सयोग और अपृथकसिद्ध सयोग। हस्तपुस्तक सयोग प्रथम प्रकार का उदाहरण है और शरीरात्मा का सयोग दूसरे प्रकार का उदाहरण है।

सयोग और शक्ति

एक एक वस्तु मे एक एक शक्ति रहती है जैसे, अग्नि मे जलाने की और वायु मे सुखाने की शक्ति रहती है। तत्तत्कार्योत्पादन मे अनुकूल एक-एक शक्ति कारण मे मानी जाती है, जैसे बीज मे अकुर-शक्ति। यह दस गुणो का व्यवहार है। इसकी अद्रव्य सज्ञा है। जड और अजड, ये दोनो द्रव्य हैं। जड के दो भेद है—प्रकृति और काल। प्रकृति के चौबीस रूप माने जाते है प्रकृति, महत्, अहकार (जो तामस, राजस और सात्त्विक रूपो मे त्रिविध है), ग्यारह इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ,

द्रव्य

पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक अन्त करण, जिनकी सात्विक अहकार से उत्पत्ति है), पच भूत और उनकी पच-तन्मात्राएँ।†

वर्णमाला मे 'मकार' पच्चीसवाँ अक्षर है। शास्त्रीय व्याख्याओ मे मकार का अर्थ जीव बतलाया जाता है। जिस प्रकार 'म' चौबीस अक्षरो का पश्चात्‌वर्ती है उसी प्रकार माया के चौबीस रूपो के आगे पच्चीसवाँ स्वरूप जीव का है। जितने समय तक माया के सब स्वरूपो की साम्यावस्था रहती है, उतने समय का नाम प्रलय काल है। जब नियमानुसार उन्ही स्वरूपो की विषमावस्था होती है, तब सृष्टि हो जाती है। जब प्रकृति साम्यावस्था से वैषम्य की ओर आने लगती है तो उसकी प्रथम अवस्था की महत्' सज्ञा है और जितने समय तक वैषम्यावस्था रहती है उसको सृष्टिकाल कहते है। सृष्टि और प्रलय का क्रम-चक्र अनादिकाल से चलता चला आरहा है।

त्रिविध अहकार के बीच मे जो राजसाश है, वह सात्त्विक और तामस के स्व-स्व कार्योत्पादन मे सहकारी माना जाता है। अद्रव्य के वर्णन मे आए हुए दस गुणो के अन्तर्गत जिन शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध का उल्लेख किया गया है, उन्हे पचभूतो के साथ वर्णित पचतन्मात्रा—शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा, तथा गध तन्मात्रा—से अभिन्न वा अपृथक् न समझ लेना चाहिए। वे तो अद्रव्य के भेद मे गुण थे और ये तन्मात्राएँ प्रकृतिरूप जड द्रव्य के चौबीस रूपो के अन्तर्गत है तथा तत्तद्‌भूतो की सूक्ष्मावस्था है। द्रव्य होने से पच तन्मात्रा और पचभूत मिलाकर चौबीस की गणना मे दस कहे गये है।

जड माया का यह स्वरूप बधनरूप है। असख्य जीव इसमे लिपटे रहते है, जीते-मरते जन्म-मरण चक्र मे घूमते रहते है।

† शब्द तन्मात्रा, उससे आकाश, आकाश से स्पर्श तन्मात्रा, उससे वायु, वायु से रूप तन्मात्रा, उससे तेज, तेज से रस तन्मात्रा, उससे जल, और जल से गन्ध तन्मात्रा, उससे पृथिवी। तामस अहकार से शब्द तन्मात्रा होकर, इन दशों की उत्पत्ति मानी जाती है।

इस मार्ग मे सुखो के साथ दु खो की भीड लगी रहती है। इस चक्र मे कई जीव सुखी भी रहते है, शेष आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक नामक तापत्रय मे फँसे रहते है।

तापत्रय

मन मे अनेक प्रकार की चिन्ताओ और दुर्बलताओ के आजाने तथा अनेक बातो के स्मरण वा प्रत्यक्ष होने से अन्त करण जिस क्लेश की अनुभूति करता है, उसे आध्यात्मिक क्लेश कहते है। ऐसा क्लेश जिसका उदय किसी आदमी के मारने, कुत्ते, सर्प, बिच्छू आदि के काटने अथवा सिह, व्याघ्र आदि के खाने से होता है, उसे आधिभौतिक क्लेश कहते है। ओलो के प्रहार, बिजली के गिरने, भूकम्प से गिरे हुए मकान के नीचे दबने आदि से उत्पन्न हुए क्लेशो को आधिदैविक कहते है।

ये सब कर्म-फल है। माया मे जीव कर्म करता रहता है और भोगता रहता हे, क्योकि कार्य-कारण का नियम माया-मण्डल मे अनादिकाल स चला आरहा है और जीव मे अविद्या, कर्म, वासना, रुचि, प्रकृति सबध—ये पाँच चक्रवत् परिभ्रान्त रहते है। इसी चक्र मे कोई एक दु खमय स्थल ऐसा आजाता है जहाँ भगवान् की करुणा† सजग होजाती है। भगवान् की वह कृपा अनिवर्चनीय होती है।

भगवत्करुणा का औचित्य

कुछ लोगो का मत है कि इस प्रकार कृपा और करुणा करना भगवान् के लिए उचित नही है, किन्तु भगवान् की ऐसी करुणा मे अनौचित्य के लिए कोई अवकाश भी नही है। किसी निरपराध को दु खी करना न्याय विरुद्ध है, कृपा और करुणा करना बुरा नही है। दूसरे के ऋण वा वदले से किसी को छुडा कर किसी को असन्तुष्ट करना बुरा होता हे। भगवान् के पास करुणा का अक्षय भडार है। वे उसे अपनी इच्छ से सदा लुटाते रहते है। इससे उनकी कुछ हानि

† एव ससृतिचक्रस्थे भ्राम्यमाणे स्वकर्मभि ।
जीवे दु खाकुले विष्णो कृपा काप्युपजायते ॥

न होकर जीवो का परम कल्याण होता है। सन्दूक मे बन्द रहने से रत्नाभूषणो की क्या शोभा और क्या फल ? उनकी सार्थकता तो शरीर पर धारण करने मे है। इसी प्रकार दया, करुणा, कृपा आदि के प्रयोग और परिचय के बिना भगवान् के दीनबन्धु, करुणानिधान, दयासागर, कृपानिधि आदि नामो मे क्या सार्थकता रहे ? हम ससारी जीवो को तो भगवान् की करुणा की इतनी बडी आवश्यकता है कि इसके बिना अपना बेडा पार होना ही कठिन है। इसी का तो हमे बडा सहारा है। दैनिक व्यवहार मे भी देखा जाता है कि एक मनुष्य दूसरे को बात की बात मे क्षत-विक्षत कर देता है जिसके दण्डस्वरूप वह दसियो वर्ष जेल मे पडा रहता है। इमीसे हम अनुमान कर सकते है कि एक-एक क्षण मे हम जो घोर अपराध कर डालते है उनका फल अनेक जन्मो तक भोगना पडता है। जीव अनादिकाल से माया-बधन मे है। अगणित पाप सकलित होजाने से इसका तो बेडा पार होना ही कठिन है। इनसे मुक्ति पाना तो करुणानिधान की दयादृष्टि पर ही निर्भर है। जिस प्रकार जीव की यह योग्यता है कि वह अनेक जन्मो तक दड भोगने योग्य पापो को थोडी-सी देर मे कर डालता है, उसी प्रकार परमात्मा की दयालुता की भी ऐमी अमोघ शक्ति है कि उसकी तनिक सी किरण के पड जाने से ही जीव के अनेक जन्मो के पाप उसी क्षण नष्ट होजाते है। इसीसे यामुनाचार्य स्वामी ने भगवान के प्रति कहा है—"लाल कमल के समान आपके दोनो चरणो के अनुराग रूपी अमृत-सागर की एक-एक बिन्दु मे वह सामर्थ्य है कि ऊँची उठी हुई ससार-दावाग्नि को एक क्षण मे बुझा कर वह मोक्ष देदेती है।"१ "हे भगवन् ! अनन्त ससार-समुद्र के बीच मे डूबते हुए मुझको चिरकाल के लिए आप किनारे की तरह प्राप्त हुए है और साथ ही साथ आपको भी दया टिकाने के लिए अब यह सर्वोत्तम ठिकाना मिल गया है"।२

१ उदीर्ण ससारदवाशुशुक्षणि क्षणेन निर्वाप्य पराच निर्वृति ।
प्रयच्छति त्वच्चरणारुणाबुज द्वयानुरागामृतसिन्धुसीकर ॥

२ निमज्जतोऽनन्तभवार्णवान्तश्चिराय मे कूलमिवासि लब्ध ।
त्वयापिलब्ध भगवन्निदानीमनुत्तम पात्रमिद दयाया ॥

व आगे फिर कहते है ३-(क) "मै असख्य अपराधो का भाजन हूँ। भयकर ससार-समुद्र के बीच मे पडा हूँ और कुछ भी मेरी गति नही है। हे पापो के हरनेवाले, मुझ शरणागत को कृपा करके केवल अपना लीजिए। (ख) हे अच्युत, इस ससार रूपी दुर्दिन मे जिसमे अविवेक रूपी बादलो से दिशाओ के मुख अधे होगए है तथा जिसमे अनेक प्रकार से निरन्तर दु खरूपी वर्षा होती रहती है, मुझ मार्ग-भ्रष्ट की ओर दृक्पात कीजिए। (ग) यह मिथ्या नही है, यथार्थ है, अपने आगे मेरी एक प्रार्थना सुनिए। यदि आप मुझ पर दया न करेगे तो हे नाथ! आपको भी (ऐसा) दयनीय (दयापात्र) न मिलेगा। अतएव आप के बिना मै नाथवान् नही हूँ और मेरे बिना आप दयनीयवान् नही ह।"

दूसरे श्लोक मे अपने को 'अनन्त ससार समुद्र के बीच मे डूबता हुआ' कह कर यह दिखलाया गया है कि तटके निकट होने पर कदाचित् तैर कर भी किसी तरह पार होजाता, परन्तु बीचोबीच मे डूबते हुए, सर्वथा नि सहाय के उद्धार का आपकी दया के सिवा और कोई उपाय नही है। 'चिरकाल के लिए प्राप्त हुए है' से यह अभिप्राय है कि 'शरणागत मै अब आप को छोडूगॉ नही'। आप मेरे ऊपर अवश्य ही दया कीजिए। ऐसा दया का पात्र आपको दूसरा न मिलेगा। तीसरे के (क) श्लोक मे भगवान् की केवल कृपा' कही गई है, उससे स्पष्टत यही अभिप्राय है कि भगवत्प्राप्ति के लिए भगवान् की कृपा के अति-

---

३-(क) अपराधसहस्रभाजन पतित भीमभवार्णवोदरे।
अगति शरणागत हरे कृपया केवलमात्मसात्कुरु ॥

(ख) अविवेकघनाधदिङ्मुखे बहुधा सतत दु खवर्षिणि।
भगवन् भवदुर्दिने पथ स्खलित मामवलोकयाच्युत ॥

(ग) न मृषा परमार्थमेव मे श्रृणु विज्ञापनमेवमग्रत।
यदि मे न दयिष्यसे ततो दयनीयस्तव नाथ दुर्लभ ॥
तदह त्वदृतेन नाथवान्मदृते त्व दयनीयवान्न च।

रिक्त और कोई उपाय नही है। तीसरे के (ख) श्लोक मे भगवान् को 'अच्युत' कह कर पुकारा गया है जिसका अर्थ 'अडिग' है क्योकि 'स्खलित' डिगे हुए, गिरे हुए को वही सँभाल सकता है जो स्वय अडिग होगा और तीसरे के (ग) श्लोक मे स्वामी जी ने भगवान् के प्रति कहा है कि "आपको ऐसा दयनीय मिलना दुर्लभ है"। इससे उन्होने दैन्यभाव द्वारा अपनी अत्यत नीचता प्रकट की है क्योकि अत्यन्त अधेरे मे प्रकाश करने से जैसे दीपक का बडा गुण प्रकट होता है, वैसे ही दया की उत्कृष्टता भी घोर पापी के पार लगाने मे ही मानी जाती है। इसी कक्षा मे स्वामी जी ने अपने को दुर्लभ दयनीय कहा है, नही तो भगवान् को क्या दुर्लभ है ?

महात्मालोग सदैव भगवत्कृपा चाहते रहते है। मुकुन्दमाला मे भी कहा गया है—"हे भगवन् ! हे विष्णो ! हे अनन्त !, हे हरे ! तू प्रसन्न होजा। तू अत्यन्त करुणामय है, इसलिए मुझ अकिचन पर निश्चय ही अपनी कृपा कर। तू ससार सागर मे डूबते हुए दीन का उद्धार करने मे समर्थ है। तू पुरुषोत्तम है"। † कृपा की कामना से ही उक्त श्लोक मे इतने सबोधन दिये गये है। पहले 'भगवन्' कहा है। इससे अभिप्राय है कि आप ऐश्वर्यादि गुणो से सम्पन्न है। मै उनसे विहीन हूँ, इसलिए आप की कृपा से ही काम चलेगा। फिर 'विष्णो' कहा है, इससे अभिप्राय है कि मै आप से अन्यथा नही कह सकता हूँ। आप सर्वव्यापी होने से घट-घट की जानते है। आपके आगे कपट नही चलेगा। फिर 'अनन्त' कह कर यह व्यक्त किया गया है कि मेरे ऊपर कृपा करने से आपकी कृपा के भडार मे कुछ टोटा नही आएगा, क्योकि आप अनन्त है। 'हरे' कह कर भगवान् की पापो की हरने की सामर्थ्य की ओर इगित किया गया है, और भग-

---

† स त्व प्रसीद भगवन् कुरु मय्यनाथे
विष्णो कृपां परमकारुणिक खलु त्वम्।
ससार-सागर-निमग्नमनन्तदीनमुद्धर्तुमर्हसि
हरे पुरुषोत्तमोऽसि ॥

वत्कृपा की कामना की गई है क्योकि उसके बिना भी काम नही चल सकता ।

अन्यत्र कहा गया है कि "हे प्रभो, मुझ अधे का इन्द्रिय नामवाले बलवान चोरो ने विवेक-महाधन हर लिया है और मै मोहरूपी अध-कूप के गहरे गर्त मे पडा हुआ हूँ। हे देवेश ! मुझ दीन को करावलम्ब दीजिए।"† यहाँ भगवान् को प्रभो और देवेश इन दो सम्बोधनो से पुकारा गया है। प्रभुता मे बलवत्ता और सर्वशक्तिमत्ता का समावेश होने से, एकमात्र प्रभु ही गहरे गर्त मे गिरे हुए को सहारा दे सकता है और 'देवेश' से यह ध्वनि निकलती है कि मै ऐसा घोर पापी हूँ जिसका उद्धार देवताओ के भी वश का नही है। आप (भगवान्) देवताओ के भी ईश्वर है, इसलिए आप सहारा दे सकते है ।

इन सब उद्धारणो के सहारे इसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि भगवान् परम कारुणिक है और उनकी कृपा-वृष्टि जीवो पर सदैव होती रहती है। यदि यह मान लिया जाय कि भगवान् कृपा करते ही नही है तो महात्माओ के ये सब वचन व्यर्थ हो जाएँगे, जीवो का उद्धार का मार्ग रुक जाएगा, और भगवान् का करुणा नामक गुण जो शास्त्रसिद्ध है निष्फल एव व्यर्थ सिद्ध हो जाएगा। परन्तु भगवान् की परमकारुणिकता से अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न अवाछनीय है। परमात्मा के करुणामय होने को अपने पापो के दूर करने की अग्रिम दृढ सामग्री मानकर विचारपूर्वक पाप नही करते रहना चाहिए, नही तो विशेष दु खी होना होगा। भगवान् स्वतन्त्र है, कृपा करना उनके हाथ मे है, बलात् कृपा करा लेना जीव के वश की बात नही है। जीवो को तो यही उचित है कि अपने स्वरूपानुरूप ही व्यवहार करते रहे क्योकि माया का बधन बडा विकट है।

---

† अन्धस्य मे हृतविवेकमहाधनस्य ।
चौरै. प्रभो बलिभिरिन्द्रियनामधेयै- ।।
मोहान्धकूपकुहरे विनिपातितस्य ।
देवेश देहि कृपणस्य करावलम्बम् ।।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि स्वरूप-व्यवहार का ज्ञान न होने पर उसका आचरण कैसे हो सकता है। मनुष्य निष्क्रिय तो रह नही सकता, कुछ न कुछ करता ही रहता है। उसकी क्रियाएँ सविशेष होती है। उनसे वह अपनी ससारी आशाएँ पूरी होना समझता है—उनसे ऐसी आशाओ की सिद्धि की कामना करता है जो अपार है—

स्वरूपानुरूप व्यवहार

निस्वो वष्टि शतशती पश शत लक्ष सहस्राधिपो ।
लक्षेश क्षितिराजता क्षितिपति श्चक्रेशता वाछति ।।
चक्रेशस्सुरराजता सुरपति ब्रह्मास्पद वाछति ।
ब्रह्मा शैवपद शिवो हरिपद तृष्णावधि को गत ।।

यह सभव नही है कि जीव इन सब सीढियो को इसी जीवन मे पूरी करले। कर्म-शिथिल रहना मृतक तुल्य होजाना है और ससारी आशाओ के लिए कर्म करते रहना माया के बधन मे वृद्धि करना है। फिर काम कैसे चले और मनुष्य क्या करे?

वस्तुस्थिति तो यह है कि "जो आशा के दास है वे सब लोक के दास है। और आशा जिनकी दासी है उनके दास सब लोक है।"† ये आशाए स्वार्थबुद्धि से होती है। वह स्वार्थ काया मे आत्मबुद्धि रखने से आता है। काया (शरीर) मे आत्मबुद्धि अविवेक से होती है। इसलिए विवेक की आवश्यकता है। ससार-सागर से पार होने की इच्छावालो को विवेक से आचरण करना चाहिए। "कुए मे पडा हुआ पशु भी निकलने के लिए पैर हिलाता है। हे चित्त तुझको धिक्कार है कि ससार-समुद्र मे से निकलने की इच्छा भी नही करता।"‡ अभि-प्राय यह है कि यदि ससार-समुद्र से निकलने की इच्छा हो तो विवेक पूर्वक चलना चाहिए। ससारी अभिलाषाओ के लिए काम करना

---

† आशाया ये दासा ते दासा सर्वलोकस्य ।
आशा दासी येषा तेषा दासीयते लोक ।।

‡ पतित पशुरपि कूपे नि सर्तुं चरणचालन कुरुते ।
धिक् त्वा चित्त भवाब्धेरिच्छामपि नो बिभर्षि नि सर्तुं ।।

बधन है। यह देखा जारहा है कि अज्ञान में आवृत और स्वार्थ मे लिप्त तथा प्रकृति के नियमो के दास बने हुए मनुष्य इधर से उधर और उधर से इधर कैसे टकराते फिरते है! वे वक्रता को अच्छा और सरलता को बुरा समझते हैं। जो दोहा तुलसीदास का नही है उस पर उनकी छाप लगा कर इस प्रकार पढ देते है—

तुलसी या ससार में पाखडी का मान।
सीधे को सीधा नहीं, टढ़े को पकवान ॥

यह अनुचित है। लोग कहते है कि फारसी मे 'वाव' का आकार वक्र है, इसलिए वह अक्षर खून के बीच मे रहता है और अलिफ का आकार सीधा होने से वह जान के बीच मे रहता है। टेढा मार्ग लोग इसलिए लेते है कि उसके द्वारा वे अनेक कठिनाइयो से बच जाएँ। यह नही सोचते कि टेढे मार्ग से उनका मार्ग खो जायगा और अधिक क्लेश होगा।

कहा जाता है कि झूठ कई जगह चल जाता है, परन्तु इसमे मुख्यता झूठ के स्वरूप की नही है। यदि वह अपने स्वरूप मे आए, तो उसका कोई भी सत्कार नही करेगा। उसका मान भी तभी होता है जब वह साँच के कपडे पहन कर आता है। वे कपडे ही उसकी स्वीकृति का कारण बनते है। इसमे महत्व साँच (सत्य) का ही है। ठग अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए साहूकारो का वेश धारण करते है, इससे स्पष्ट है कि साहूकारो मे कुछ वास्तविक महिमा है। अतएव यह सिद्ध है कि पात्र-भेद होने पर भी प्रतिष्ठा बस गुण ही की है। जीव का गुण सरलता है। सरलता मे आनन्द और वक्रता मे दुख सनिहित रहता है। यह जगत् जीवो की परीक्षास्थली है। जिस प्रकार परीक्षा मे उत्तीर्ण हुए बिना छात्र उच्च कक्षा मे नही पहुँच सकता, उसी प्रकार जीव भी इस जगत् की परीक्षा को पास किये बिना ऊँचा नही चढ सकता—इस भ्रान्तिमय जगत् से मुक्ति प्राप्त नही कर सकता। परीक्षा पास करने मे कठिनाई अवश्य होती है, किन्तु वह अवसर धन्य है जो परीक्षोत्तीर्ण होने के निमित्त मिलता

है। इसकी योग्यता तो इस मनुष्य-जीवन मे ही है। इसको वृथा खोकर असफल होजाने मे क्या महत्व होगा? यह बडे भाग्य से मिलता है।

इसको चार विभागो मे व्यतीत करना अच्छा है। पहले विभाग मे माता-पिता और गुरु मे भक्ति रखते हुए तथा ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए मर्यादापूर्वक विद्याध्ययन करना चाहिए। दूसरे विभाग मे पत्नीव्रत रख कर सन्तानोत्पत्ति करना, न्यायपूर्वक धनार्जन करते हुए उसे सन्मार्ग मे व्यय करना और विनयान्वित तथा सदाचाररत रह कर अतिथिसत्कार करते हुए कर्तव्यरत रहना चाहिए। तीसरे विभाग मे शनै शनै भागवतो के सग मे पहुँच कर उनका उनके कैंकर्य, उपदेश तथा सग से ऐसा अभ्यास बढाना चाहिए जिससे स्वरूप, पर-रूप, विरोधी-रूप, उपायरूप और फलरूप का बोध होकर उत्कृष्टता सपादित हो और ससार के लोभ, मोहादिक कम होकर भगवत्, भागवत और आचार्य की ओर अनुराग-वृद्धि हो, तथा चौथे विभाग मे काम-काचन से अलग रह कर एकान्ती तथा परम एकान्ती निष्ठा धारण कर लेनी चाहिए।

व्यवहार-क्षेत्र में कर्म-परपरा

कर्म तीन प्रकार के होते है सचित, क्रियमाण और प्रारब्ध। जन्मान्तर मे किये हुए कर्म जिनके फलो का भोगना शेष है, उन एकत्रित कर्मो को सचित कर्म कहते है। आगे भोगने के लिए जो कर्म किए जाते है उन्हे क्रियमाण कर्म कहते है, और सचित कर्मो से छट कर जिन कर्मो का इस जन्म मे भोगने के लिए प्रारभ होगया है, उनको प्रारब्ध कहते है।

लोगो को कहते हुए सुना है कि स्टेशन से रेलगाडी छूट गई। इसका अर्थ यह है कि अगले स्टेशन पर पहुँचने से पहले वह बीच मे कही नही ठहरेगी। इसी प्रकार प्रारब्ध कर्म को भी समझिए। जिसका प्रारभ होगया है, वह प्रारब्ध कहलाता है और वह अवश्य भोगना पडता है। 'प्र' पूर्वक 'आरभ' से प्रारभ शब्द बनता है। जिसका

प्रारभ प्रकृष्ट रूप से हुआ है वह प्रारब्ध होता है। भला, वह कैसे टल सकता है?

इन तीनो कर्मो का भुगतान रीतिपूर्वक होना चाहिए। सचित कर्म चाहे पर्वत के समान ही बडे क्यो न हो, ज्ञान प्राप्त होने पर ज्ञानाग्नि मे दग्ध होजाते है। प्रारब्ध कर्म इस वर्तमान शरीर के रहने तक रहते है। क्रियमाण कर्मो के करने मे स्वार्थ-बुद्धि नही रहनी चाहिए। ससारी अभिलापाओ के लिए कर्म करना बधन होता है, नही तो बधन का काम ही क्या? किसी ससारी फल की इच्छा करने पर ही तो उस फल की प्राप्ति के लिए अथवा उस आकाक्षा के सबध से किसी प्रकार फिर जन्म लेना पडता है। जिस प्रकार जल मे रहते हुए भी कमलपत्र जल से निर्लिप्त रहता है, उस पर जल नही लगता, उसी प्रकार नि स्वार्थ कर्म करनेवाले लोग ससार मे रहते हुए भी बधन मे नही पडते। यह मनुष्य-शरीर धन्य है, किन्तु इसका सदुपयोग न करना बडी भूल है।

यहाँ यह प्रष्टव्य है कि यदि सभी कर्म बधन का कारण बनते है तो क्या किसी की सहायता जैसा कर्म भी वर्जित है? सहायता वर्जित नही है, अवश्य करनी चाहिए, किन्तु मन और शरीर को काम करने दो, बदला मत चाहो। यदि उपकार का बदला चाहने पर भी इस जन्म मे न मिला तो उपकार-कर्म का फल भोगने के लिए इस ससार मे फिर जन्म होना चाहिए, मोक्ष नही होना चाहिए। इसीलिए किसी महात्मा ने ठीक ही कहा है कि—किसी के साथ की हुई अपनी भलाई तथा अपने साथ की हुई किसी की बुराई, इन दो बातो को भुला देना ही उत्तम है। यदि उपकृत व्यक्ति कृतघ्नी है तो उसके व्यवहार से अपने किए हुए को न भूलने की दशा मे उपकारी को दु ख ही होगा। इसी प्रकार दूसरे के द्वारा की हुई बुराई के स्मरण से भी चित्त को खेद ही होगा। अतएव जगत् के चार प्रकार के लोगो के साथ तत्तदनुरूप व्यवहार करना चाहिए। बडे के साथ यह समझ कर कि यह हमसे बडा है, अच्छा है, बडे हर्ष की बात है कि समय पर छोटो को सहायता

दे सकता है, मुदता (प्रसन्नता) का आचरण करना चाहिए। मुदता के अभ्यास से ईर्ष्या निर्मूल होजाती है। मानलो कि कोई पुरुष घोडे पर चढा जारहा है। यद्यपि उसने दूसरे पैदल जानेवाले का कुछ भी अनिष्ट नही किया, फिरभी पैदल की यह कुबुद्धि जागृत होजाती है कि यह चढा क्यो जाता है ? क्या अच्छा हो कि यह गिर पडे वा इसकी टॉग पकड कर नीचे पटक दिया जाय! विचारने की बात है कि उसके घोडे से गिर पडने से पैदल व्यक्ति को कुछ सुख नही मिलता, तोभी वह इसमे वृथा ही कुछ सुख-सा मानता है और कुबुद्धि को सरसित होने देता है। इस रोग की औषधि मुदता है। २ बराबर वालो के साथ 'मैत्री' का व्यवहार करना चाहिए। मैत्री एक ऐसा भाव है कि वह जिसके प्रति बन जाता है उसके दोषो को ढकने और गुणो को प्रकट करने मे उत्साह होता है। इस भाव से छिद्रान्वेषण एव दोष-दर्शन का उन्मूलन होता है। ३ छोटो के प्रति सकरुण व्यवहार करना चाहिए। इससे जिनको आप से सहायता पहुँच सकती है, पहुँचेगी। ४ दुष्टो के साथ 'उपेक्षा' भाव रखना ही समीचीन होता है। दुष्टो से अलग्न रहना, कुछ प्रयोजन न रखना ही कल्याणकर आचरण है। इस प्रकार मुदता, मैत्री, करुणा एव उपेक्षा, ये चार प्रकार के व्यवहार चार प्रकार के मनुष्यो के साथ सदैव आचरणीय है।

दुष्टो से प्रयोजन न रखने मे निन्दा का पात्र न बनना पडेगा। उनकी निन्दा या बुराई करने से, जो समय सत्कर्म मे लग सकता है, वह व्यर्थ जायगा। कहना न होगा कि भलो का बोध कराने मे बुरे लोग साधन बनते है। स्वास्थ्य का मूल्याकन रोग के कारण होता है। प्रकाश की महिमा अहकार के सम्बन्ध से भासित होती है। द्वन्द्वात्मक विपर्यय न रहने से सद्वस्तु अपना गौरव प्रकाशित न कर पाती। इसी प्रकार अभद्र भी भद्रजनो के प्रकाश की प्रतीति कराते है। परन्तु दुष्ट लोगो से दूर रहना ही अच्छा है, क्योकि पास रहने से दुर्गुण आएँगे, चित्त मलीन वा दुःखी होगा। काजल की कोठरी मे चाहे कैसा ही चतुर प्रवेश करे, काजल की एक रेखा तो लग ही

जाती है, इसी प्रकार दु सगति का कुछ न कुछ बुरा प्रभाव अवश्य ही पडता है। दुष्टो की निन्दा करने से न केवल समय ही व्यर्थ जाता है, अपितु आगे निन्दा का अभ्यास बढता है जो अच्छा नही है, अतएव उनसे अलग्न रहना ही ठीक है। दुष्टो की चित्तवृत्ति का हरण करना अति कठिन है। कहा भी है—"दुस्तर सागर के तरने के लिए नौका है, अधकार होने पर प्रकाश करने के लिए दीपक है, वायु न चलने पर पखा है, मदान्ध गज के दर्प की उपशान्ति के लिए अकुश है। इस प्रकार इस पृथ्वी पर ऐसा कुछ भी नही है जिसके सबध मे विधाता ने उपायचिन्ता न की हो, परन्तु मेरे विचार से दुर्जन की चित्तवृत्ति हरण करने के सम्बन्ध मे विधाता भी भग्नोद्यम है।"† उत्तम कर्म करने और अध पतन से बचने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य दुर्जनता से बचा रहे, किन्तु इसके लिए उत्तम और अधम का विवेक चाहिए।

विवेक धर्मसाधक है। धर्म के चार लक्षण है—श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपने आत्मा का प्रिय।‡ श्रुति (वेद) सबके ऊपर है। उसके पीछे स्मृति का पद है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रुति और स्मृति दोनो का एक ही मार्ग है, परन्तु श्रुति स्वत प्रमाण होने से बडी चीज है और स्मृति परत प्रमाण होने से उससे दूसरी श्रेणी पर है। यदि इन दोनो मे कही विरोध दीखे तो श्रुति-वाक्य को ही अगीकार करना चाहिए। इन दोनो के पीछे सदाचार है। सदाचार के पथ मे उस मर्यादा और परपरा पर दृष्टि रखनी होती है जिसको महापुरुष पदचिन्ह के रूप मे बना गये है। इन सब का

---

† पातो दुस्तरवारिराशितरणे दीपोऽन्धकारागमे ।
निर्वाते व्यजन मदान्धकरिणा दर्पोपशान्त्यै सृणि ।।
इत्येतद्भुवि नास्ति यस्य विधिना नोपायचिन्ता कृता ।
मन्ये दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे धातापि भग्नोद्यम ।।

‡ श्रुतिस्मृतिसदाचार स्वस्य च प्रियमात्मन. ।
एतच्चतुर्विध प्राहु. साक्षात् धर्मस्य लक्षणम् ।।

पता न लगे तो 'स्वात्मप्रिय' के मापदण्ड से अपने व्यवहार तथा आचरण की परीक्षा करनी चाहिये।

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि किस महापुरुष के आचरण का अनुकरण किया जाय क्योंकि इस विशाल पुण्यभूमि मे पुण्यकर्मा महा पुरुष तो अनेक ही हुए है। इस सम्बन्ध मे विवेकियो और मनस्वियो का मत है कि महात्मा राम का आचरण ही परम अनुकरणीय है क्योंकि वह सब प्रकार से पूर्ण है। बडो ने कहा है—"रामविद्धि परब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम्"। इससे स्पष्ट है कि राम के सिवा किसी अन्य चरित्र मे पूर्णता नही है। राम महावीर्यवान्, प्रतापवान्, सत्यवादी दृढव्रत, समर्थ, विचक्षण, यशस्वी, धर्मरक्षक, ज्ञानसम्पन्न, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञ, सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञ, द्युतिमान, धृतिमान्, नीतिमान्, धीर, वीर, गभीर, सर्वलोकप्रिय, सर्वभूतहित और प्रिय-दर्शन है। उनके चरित्रो के सम्पर्क से मन पावन होता है। मन की पवित्रता ही के लिए लोग रामायण सुनते और पढते है क्योंकि उनके निर्मल चरित्र के पढने, सुनने, और मनन करने से सद्गुणो का आवि-र्भाव होता है जिससे परम गति मिलती है। राम के साथ कभी-कभी सीता अथवा भरतादि को रख कर भी उनके भक्त उनका स्तवन करते है। कोई कहता है—

"वन्देऽहरामचन्द्रस्य पादौ प्रणतरक्षकौ।
सीतायाश्च पुन पादौ सर्वसिद्धिविधायकौ॥"

कोई भक्त लक्ष्मण, सीता और हनुमान को साथ लिए हुए महात्मा राम के स्वरूप की वदना करते हुए कहता है—

"दक्षिणे लक्ष्मणोयस्य, वामे तु जनकात्मजा।
पुरतो मारुतिर्यस्य त वन्दे रघुनन्दनम्॥"

कोई-कोई महात्मा इस प्रकार केवल एक का ही स्तवन करते है—

"नमामि परमात्मन राम राजीवलोचन।
अतसीकुसुमश्याम रावणान्तकमच्युतम्॥"

कोई-कोई उपासक सारे समाज ही को इस प्रकार प्रणाम करते है—

"राम रामानुज सीता भरत भरतानुज ।
सुग्रीव वायुसूनु च प्रणमामि पुन पुन ।।"

कौन भक्त राम के किस रूप की उपासना करता है और क्यो ? यह प्रश्न करने की बात नही, यह तो अपने-अपने अन्तकरण के भाव की बात है। कोई-कोई ऐसा भी कहते है कि राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न ये चारो एक ही स्वरूप के चार भेद है जो अवध मे नित्य विहार करते है। कहा भी है—

"चतुर्धा च तनु कृत्वा देवदेवो हरि स्वय ।
अत्रैव रमते नित्य भ्रातृभि सह राघव ।।"

राम से शत्रुघ्न की ओर आइये तो एक से दूसरे मे विलक्षणता का साक्षात्कार होगा। श्रीराम कर्त्तव्यपरायणता मे आदर्शरूप है। पिता की आज्ञा का पालन, पत्नी, भ्राता और भृत्यो के साथ व्यवहार, प्रजापालन, शरणागतरक्षा, स्वजनो और आश्रितो का निर्वाह, उत्तम जनो की रक्षा, सत्सेवको की ऐश्वर्यवृद्धि, चारो वर्णो का अपने-अपने धर्म और मर्यादा मे नियोजन, बनवासी की जीवनचर्या आदि की शिक्षा हमे राम के चरित्र से मिलती है। इसलिए उनको सामान्य धर्म, शुद्धाचार और सत्य की मूर्ति कहते है। लक्ष्मण का चरित्र भी अद्भुत ही है। उन्होने बाल्यावस्था से ही श्रीराम का साथ दिया। चौदह वर्ष के बनवास मे उनके साथ जाकर बडे-बडे विकट कार्यो मे भाग लिया, मेघनाद तथा अन्यान्य बडे-बडे विकट राक्षसो का वध किया, अत्यन्त प्रेम के साथ श्रीराम का कैकर्य किया, इस सप्रेम कैकर्य मे भी हठपूर्वक उत्साह रक्खा। यद्यपि कैकर्य बडा कठिन है, किन्तु लक्ष्मण जी इसमे कोई कठिनता प्रतीत नही करते थे। वे इसे अपना परम सौभाग्य और सुख मानते थे। लक्ष्मण जी को शेषावतार बताया जाता है। शेष जी के विषय मे श्री यामुनाचार्य स्वामी ने लिखा है—हे भगवान् ! आपके निवासस्थान, शय्या, आसन, पादुका, अशुक (वस्त्र) तथा वर्षा एव

आतप-निवारण होने के हेतु अपने शरीर-भेदो से आपकी शेषता प्राप्त करलेने के कारण लोगो के द्वारा उनको 'शेष' नाम उचित ही दिया गया है।"† श्रीमन्नारायण के कैंकर्य मे शेषजी सदैव सलग्न रहते है। जब श्रीमन्नारायण कौसल्यानन्दन होकर पधारे तो इस दिव्य मगल मूर्ति की किकरता के लिए शेषजी भी सुमित्रानन्दन होकर पधारे। यह व्यवहार स्वरूप के योग्य ही है। जब शेषजी का लक्ष्य भगवत्कैंकर्य ठहरा तो बनवास के समय शेषावतार लक्ष्मण जी अयोध्या मे कैसे ठहरते ? आज्ञा देने से आज्ञा का पालन करना और स्वामी को प्रसन्न रखना अधिक कठिन है तथा ज्येष्ठ भ्राता के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए---इस सबध मे लक्ष्मण जी के आचरण को आदर्श माना जा सकता है। जिस धर्म का लक्ष्मण जी न पालन किया उसका नाम 'शेषत्व' है।

भरत जी का चरित्र इससे भी विलक्षण है। वे बडे महात्मा, परम रामभक्त, सकैंकर्य परतन्त्रता की सीमा, तथा निर्लोभ एव निरीह थे। उनको अयोध्या के राज्य-भोग की लिप्सा ने कभी छुआ तक नही, क्योकि राजा होने के योग्य वे राम को ही मानते थे, अपने को नही। उनकी माता कैकेयी ने राम को निर्वासित कराया, इससे उनको अमित परिताप हुआ। राम की चरण-पादुका पाकर उन्हे इतना हर्ष हुआ मानो कोई जन्म-दरिद्र सहसा लक्षाधीश बन गया हो। नन्दिग्राम की तपोभूमि मे उस परम तपस्वी ने चौदह वर्ष तक उन पादुकाओ के प्रति वही भाव रखते हुए जो राम के प्रति था, राजकाज चलाया। यदि भरत की परतन्त्रता इतनी बढी-चढी न होती तो वे अयोध्या का राज्य कभी स्वीकार करने वाले नही थे। परतन्त्रता की उसी सीमा मे उन्हे राम की आज्ञा के उल्लघन करने का उत्साह न हुआ। उल्लघन करते भी कैसे वे तो उस कक्षा के भक्तो मे से थे जो यह कह

---

† "निवासशय्यासनपादुकांशुको पिधान वर्षातपवारणादिभि ।
शरीरभेदैस्तवशेषतागतैर्यथोचित शेष इतीर्यते जनै ॥"

देते है—"हे नरकान्तक ! मेरा निवास स्वर्ग मे हो, वा पृथ्वी पर हो, और चाहे नरक मे ही क्यो न हो, मेरी तो प्रार्थना यही है कि मै जहाँ भी रहूँ वहाँ अत तक आपके बुद्धि-अगम चरणारविन्दो का चिन्तन करता रहूँ।"† भरत के धर्म मे 'शेषत्व' के अतिरिक्त पारतत्र्य भी है।

शत्रुघ्न का चरित्र इन सबसे ही विचित्र है। भरत जी भगवद्दास थे, परन्तु शत्रुघ्न भागवत-दास थे। यदि एक भगवान् की सेवा मे अति तत्पर थे तो दूसरे भगवान् के दासो की सेवा मे अतिपरायण थे। यह भाव बडा विलक्षण है। विदुरजी ने भी इसी भाव को व्यक्त किया है—"जो वासुदेव के भक्त है, शान्त एव तल्लीन है, मै जन्मजन्मान्तर मे उनके दास का भी दास हूँ।‡ इसी भाव को कृपाचार्य जी ने इस प्रकार व्यक्त किया है—हे मधुकैटभारे, मेरे जन्म का फल यही है तथा मेरा प्रार्थनीय एव मेरे प्रति अनुग्रह भी यही है कि हे लोकनाथ ! आप अपने भृत्य के भृत्य के परिचारक के भृत्य के भृत्य के दास के रूप मे मेरी याद रक्खे।"¶ शत्रुघ्न उन सेवको मे से है जिन्होने अपने सेवा-भाव को व्यक्त करने की कभी चेष्टा ही नही की। उनका यही लक्ष्य रहा कि जैसा भी हो राम का अधिक से अधिक अनुग्रह भरत ही को प्राप्त होता रहे। वे राम के दास श्री भरतजी के दास रहने मे ही प्रसन्न है। वे जानते थे कि भरत राम की प्रसन्नता को सुरक्षित रख सकते थे तो केवल अयोध्या मे सुप्रबन्ध रख कर, प्रजा को सुखी रख कर, रघुकुल की मर्यादाओ को अक्षुण्ण रख कर, राज-नियमो का पालन कर के तथा सब का हित करते रह कर ही। इसके लिए उन्होने भरत को अपना पूर्ण सहयोग दिया। वे भरत

---

† दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक प्रकाम ।
अवधीरितशारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ।।

‡ वासुदेवस्य ये भक्ता शान्तास्तद्गतमानसा ।
तेषा दासस्य दासोऽहमभव जन्मजन्मनि ।।

¶ मज्जन्मन फलमिद मधुकैटभारे, मत्प्रार्थनीयमदनुग्रह एषएव ।
त्वद्भृत्यभृत्यपरिचारकभृत्यभृत्य भृत्यस्य भृत्य इति मा स्मर लोकनाथ।।

की सेवा मे नि स्वार्थ भाव से परायण रहे। इस धर्म का नाम भागवत-धर्म है और यह सब से बडा है।

अन्यत्र धर्म के चार लक्षणो मे 'स्वस्य च प्रियमात्मन' कह कर 'आत्मप्रिय' को भी एक धर्म-लक्षण माना है। यहाँ आत्मप्रिय का तात्पर्य स्वेच्छाचारिता नही है। आत्मप्रिय मे पशुओ की-सी स्वतन्त्रता का समावेश नही हो सकता। आत्मप्रिय का अभिप्राय उस आत्म-नियन्त्रण से है जो कल्याण का साधक है। जब तुम्हे यह प्रिय है कि तुम्हारी कोई सहायता करे तो तुमको चाहिए कि तुम भी दूसरे की सहायता करो। यदि तुम्हे यह प्रिय है कि भूख लगने पर तुम्हे कोई भोजन दे, तो तुम्हे भी यह चाहिए कि क्षुधार्त पर द्रवित होकर उसे भोजन देना पिय समझो और अनुकूलता हो तो दो भी। यदि तुमको यह प्रिय है कि जब कभी तुमसे कोई बोले, मीठा बोले, तो तुमको भी चाहिए कि किसी को कभी कटु न कह कर जब बोलो तो मीठा बोलो। जिस प्रकार तुम किसी से अपना पिटना सहन नही कर सकते हो उसी प्रकार यह भी सोच लो कि दूसरे को भी तुमसे पिटना अच्छा नही लगता होगा। जब तुम्हारे घर से कोई तुम्हारी चीज चुरा लेता है तो तुमको कितना बुरा लगता है ? इसी प्रकार यह भी ध्यान रक्खो कि जब किसी की चीज तुम चुराओगे तो दूसरे को कितना बुरा लगेगा ? अतएव 'आत्मप्रिय' का अभिप्राय यह है कि 'अपने प्रतिकूल का दूसरो के साथ आचरण मत करो।'* सर्वत्र अपनी-सी स्थिति समझ कर आचरण करो। गीता मे भी यही कहा गया है—"हे अर्जुन, जो मनुष्य सब को अपना-जैसा देखता है और सुख-दु ख दोनो को समान समझता है वह परम योगी माना जाता है।"† इसी दृष्टि से 'आत्मप्रिय' को धर्म का लक्षण माना है।

---

* 'आत्मन प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

† आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुन
सुख वा यदिवा दु ख स योगी परमो मत। —गीता ६ ३२

पिछले प्रकरणो मे निरूपित कर्म-व्यवस्था और सदाचार से यह सिद्ध हो जाता है कि माया मिथ्या नही है। यदि माया मिथ्या हो तो सन्मार्ग-प्रवृत्ति की बाते और उत्तमोत्तम उपदेशो का कोई महत्त्व ही न रहे। विष्णु सहस्र-नाम मे भगवान् का एक नाम 'नैकमाय' भी आता है। इससे स्पष्ट है कि भगवान् अनेक अचिन्तनीय आश्चर्यवती मायाओ का विग्रह है। यह माया शब्द मिथ्यार्थक नही है। अनेक सत्यार्थ मे माया शब्द का प्रयोग है। 'माया तु प्रकृति विद्यात् मायिन तु महेश्वर' इति श्वेताश्वतरोपनिषत् मे अनेकार्थक्रियाकारिणी प्रकृति के लिए माया शब्द का प्रयोग हुआ है और मायावपुन ज्ञान' इति वैदिक निघटु मे माया शब्द ज्ञान-पर्याय मे भी है। वाराह पुराण मे—

क्या माया मिथ्या है ?

"तेन माया सहस्र तत् शवरस्याशुगामिना।
बालस्यरक्षतादेह एकैकस्येन सूदित ॥"

और—

"मेघोदयस्सागरसन्निवृत्तिरिन्दोविभागस्फुरितानि वायो
विद्युद्विभगो गतमुष्णरश्मे विष्णोर्विचित्रा प्रभवति माया।"

इस प्रकार महाश्चर्य मे माया शब्द का प्रयोग किया गया है।

यह माया अजा है, सत्य है और दुस्तरणीय है। तभी तो भगवान् ने इसके सतरण का विधान कहा है। यदि यह मिथ्या हो तो इसका सतरण कैसा! गीता मे भगवान् ने कहा है—'यह अनादि काल से चली आनेवाली गुणमयी माया तरने मे बडी कठिन है, जो मेरी ही शरण आते है वे इस माया को तर जाते है।"¶ इससे स्पष्ट है कि माया भगवान् की है और वह उनकी सामर्थ्य के अधीन है, तभी तो वे शरणागतो से माया के बन्धन को हटा देते है। शरणागत होने का तात्पर्य ही यह है कि अपने को भग-

¶ दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

वान् को समर्पित कर दो । जब आपने आत्म-समर्पण कर दिया तो आप भगवन्निधि बन गये । फिर आपको क्या चिन्ता ? भगवान् अपनी सम्पत्ति की अपने आप रक्षा करेगा । जब तक आप 'ज्ञान को चैतन्य कर के पूर्ण अनन्यता एव भगवन्निर्भरता के भाव के साथ' 'तवास्मि' कह कर अपने को परमात्मा की निधि नही बना देते, तब तक भगवच्चरण आपको आत्मसात् नही करते । जब तक जीव भगवान् का नही होता तब तक माया पर उसका कोई वश नही चलता । वह कितने ही यत्न करे चल नही सकते, क्योकि माया ईश्वर की है, जीव की नही । जीव को तो उसने बाँध रक्खा है । जब वह भगवान् का हो जाता है तो वे क्षण भर मे अपने कृपा-कटाक्ष से उसे माया-बन्धन से मुक्त कर देते है । जो मायापति है, वही शक्तिमान् स्वामी माया का निवारण कर सकता है, किसी दूसरे की शक्ति नही । बाजीगर की माया सब दर्शको को मोहित कर लेती है, परन्तु वह उसके 'जमूरे' को (वह लडका जो बाजीगर के साथ रहता है) मोहित नही करती ।

निरीह या निष्काम कर्म

जो कर्म सासारिक अभिलाषाओ को लेकर किए जाते है वे बन्धनमात्र होते है, किन्तु जिन कर्मो का समर्पण भगवच्चरणो मे कर दिया जाता है, जो तदर्थ किये जाते है वे मोक्षकारी होते है । ससारी लोग तीन कारणो से मर्यादा मे रहते है—एक तो उत्तम वस्तु की प्राप्ति की आशा से, दूसरे दण्ड के भय से, तीसरे आशा और भय तीनो से अलग रह कर कर्तव्य-भावना से । इन तीनो के लिए तीन प्रकार के शब्दो का प्रयोग किया जाता है, रोचक, भयानक और यथार्थ । तीसरी कक्षा के लोग बहुत कम है जो 'यथार्थ' के अधिकारी हो और मानव-कर्तव्य पर आरूढ हो । वे धीर पुरुष ऐसे होते है कि "नीति-निपुण पुरुष उनकी निन्दा करे, चाहे स्तुति करे, द्रव्य आए चाहे जाए, मृत्यु आज आए चाहे दूसरे युग

मे, वे (धीर पुरुप) न्याय-मार्ग से एक पद भी विचलित नही होते।"†
ऐसे उत्तम कक्षा के पुरुपो की भी तीन सरणियाँ है एक तो वे है जो किसी के साथ भलाई करने मे उस कर्तव्यपरायणता का भाव रखते है जो ऋण चुकानेवाले के अन्त करण मे होता है मानो भलाई करने का उन पर कोई बोझ है और यह आकाक्षा नही हे कि उन्हे भलाई का कुछ और अच्छा बदला मिले। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि ऋण चुकानेवाला अपना बोझ उतारा करता है। वह जिसके साथ भलाई करता है उसे ऋणी करना नही चाहता। वह अपनी भलाई का बदला नही चाहता। दूसरे लोग इससे भी ऊँची कक्षा के है। जिनकी उपकार के प्रति रति होती हे, बोझ के स्थान पर उनके हृदय मे उत्साह होता हे। इसलिए उनको अपना काम सरलतर भी प्रतीत होता हे। तीसरे सर्वोत्तम कक्षा के लोग है जिनको न कर्तृत्व-अभिमान है और न फलाकाक्षा ही हे। वे जो कुछ करते है भगवदर्थ समझते है। अपना विशेप प्रयोजन नही मानते। कर्म के 'कृष्णार्पण' का यही अर्थ है। कैंकर्यभाव के उपासक अपने जीवन को ऐसा मानते है कि उसमे जितने व्यवहार है, भगवत्कैंकर्य के अर्थ है।

लका का राज्य देने के पश्चात् इक्ष्वाकु-कुल देवत श्री रगनाथ की मूर्ति देते हुए (जिसकी प्रतिष्ठा कावेरी के तट पर की गई थी) श्री राम ने विभीपण को यह आज्ञा दी थी ——तू मेरी दी हुई लका मे जा और अकण्टक राज्य-भोग कर। मेरे लिए मेरा अनुस्मरण करता हुआ धर्म से राज्य कर। तू और तेरे (लोग) इस देश मे न आना। तू केवल मेरा ही स्मरण कर ओर मै तेरा स्मरण करता हूँ। मोक्ष के उपाय और मेरे रहस्य को भी सुन। सब कर्मो और सब कर्म-फलो को छोड कर सब बन्धनो से विमुक्त होने के

---

† निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु, लक्ष्मी समा विशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा, न्यायात्पथात् प्रविचलन्ति पद न धीरा ॥

लिए मेरी शरण मे आ।"†

यहाँ 'मेरे लिए मेरा अनुस्मण करता हुआ राज्य कर' इस वाक्य से कर्मावलम्बन निर्दिष्ट है, कर्म-त्याग नही। फिर 'सब कर्मों और सब कर्म-फलो को छोड'—इस वाक्य से विरोध-सा दीखता है। 'इस देश मे न आना' कह कर 'मेरी शरण मे आ', इन दो वाक्यो मे भी विरोध परिलक्षित होता है। ध्यानपूर्वक देखने से इन वाक्यो म विरोध नही मिलता। अन्तिम वाक्य मे जहाँ 'कर्मो और कर्म-फलो को छोड कर मेरी शरण मे आ', यह आज्ञा दी है, वही यह भी कहा है कि 'यह मेरा रहस्य है'। सब जानते है कि 'रहस्य' का अर्थ 'गुप्त बात' है। वही भगवद्भेद है। भगवान् जिसे अपना गुप्त भेद कहे, उसमे विरोध कभी नही आ सकता। हाँ, विषय सूक्ष्म होने से इसे सूक्ष्म बुद्धि से ही समझना चाहिए। कर्म को छोडने से अभिप्राय चेष्टा-शून्य होने का होता तो 'ऐसा करो, वैसा करो' इस आदेश को वे कभी न देते, सब आज्ञाए निष्फल हो जाती। कर्म छोडने से यही अभिप्राय समझना चाहिए कि जो तुम इस भाव को अन्त करण मे पकडे रक्खोगे कि कर्मो को तुम अपने निमित्त करते हो, तो शरण मे आने की योग्यता नही रहेगी और शरण मे आए बिना मोक्ष नही होगा। अतएव इस भाव को और कर्म-फलो को छोड कर मेरी शरण मे आओ, तब सब बन्धन छूट जाएँगे—यह आदेश है। यही 'राज्य-कर', केवल इतना ही आदेश नही है, यह भी है कि 'मेरे लिए मुझे अनुस्मरण करता हुआ राज्य कर'। भगव-

† "गच्छ लका मया दत्ता भुक्ष्व राज्यमकण्टकम् ।
राज्य कुरुष्व धर्मेण मदथ मामनुस्मरन् ।।
मा भवान्मा त्वदीयाश्च देशमेत व्रजन्तु वै ।
मामेवानुस्मरन् सदा त्वामह सस्मरामि च ।।
उपायमपवर्गश्च रहस्यमपि मे शृणु ।
सर्वकर्माणि सत्यज्य सवकर्मफलानि च ।
शरण मा प्रपद्यस्व सर्व-बध-विमुक्तये ।।

होकर कही जाता है तो अनेक किकर लोग साथ चलते है—कोई भागता है, कोई धीरे चलता है, कोई आगे रहता है, कोई पीछे। किसी के पास दर्पण होता है, किसी के पास खड्ग, किसी के पास धनुप होता है और किसी के पास द्रव्यादिक। वे लोग उन सब वस्तुओ को रखते है और स्वय चलते है, परन्तु उनके वे कार्य अपने अर्थ नही है। यदि उनमे से कोई क्षुधार्त होकर भोजन करने के लिए मार्ग मे बैठ भी जाता है तो उसका यह भोजन-व्यापार भी स्वामी के अर्थ ही माना जाता है क्योकि उसका जीवन ही स्वामी के अर्थ है। शरीर की शक्ति ठीक रहने से आगे कैकर्य (राज-कैकर्य) बन सकेगा। इस प्रकार 'ये सब व्यापार भगवदर्थ है,' सब व्यापारो मे यह बुद्धि रखने से 'तत्कुरुष्व मदर्पणम्' ठीक-ठीक समाचरित होगा। 'जैसे मेरे प्रति अर्पण हो वैसे कर'§—इस भाव मे अपना कर्म-व्यापार नही छूटा और अभिमान तथा फलाकाक्षा का त्याग हो गया। अपना शेषत्व रहने से स्वरूपानुरूप व्यवहार हो गया। इसमे बन्धन का कुछ भी काम नही रहा। यही श्रीमद्‌भागवत का वचन है—

> कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतिस्वभावात्।
> करोमि यद्यत् सकल परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

योगभाष्य मे इसी भाव की पुष्टि मिलती है—

> ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम्।
> तत्सर्व त्वयि सन्यस्त त्वत्प्रयुक्त करोम्यहम्॥

और भी अनेकानेक ग्रथो मे उपर्युक्त अभिप्राय के वचन मिलते है।

हाँ, तो अपने आदेश मे भगवान् ने विभीषण से पहले तो यह कहा—"इस देश मे न आना", फिर कहा कि—"मेरी शरण मे आ"—इसम भी विरोध आभासित होता है, किन्तु वास्तव मे विरोध है नही, क्योकि आने का निषेध उस देश विशेष के लिए

§ मयि अपण मदपण, मदपण यथास्यात् तथा कुरुष्व।

है जो कावेरी के तट पर श्रीरगनाथ की रगस्थली बन रहा है और 'मेरी शरण मे आ' से अभिप्राय किसी देश विशेष मे आन से नही है। यह तो 'शरणागति' भाव है जिसको आत्म-समर्पण अथवा प्रपत्ति कहते है, जिसको कोई भी, कही भी, कभी भी अवलबन कर के असशय मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इसमे देश, काल और पात्र का नियम नही है। इस कर्म-व्यवस्था मे भी वही अन्यत्र कही हुई मायावाली बात दूसरे प्रकार मे फिर आ जाती है जिसमे समझाया गया है कि अपने मे 'तवास्मि' भाव होने से मायाधीश प्रभु उस माया-बन्धन को हटा देगे। यह ज्ञान-गर्भ कर्म-योग की कक्षा है।

यह पहले ही कह जा चुका है कि 'प्रकृति' और 'काल' ये दो भेद जड के है। प्रकृति के स्वरूप का विवेचन पीछे किया जा चुका है। यहाँ सक्षेप मे काल-निरूपण करना है। काल समय को कहते है। सिद्धान्त मे यह 'काल' अद्रव्य नही है, द्रव्य है। इसके दो भेद है—एक सखण्ड और दूसरा अखण्ड। माया-मण्डल मे काल मुहूर्त, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, वर्ष आदि नामो से खडित होने से सखड कहा जाता है। वैकुण्ठ मे नित्य प्रकाश है। माया-मण्डल मे प्रकाश-पिण्डो या ज्योति-गोलको के सचार से जो खड का व्यवहार रहता है, यह वहाँ नही है। इससे काल वहाँ अखड है।

काल का स्वरूप

काल और प्रकृति का भेद

प्रकृति सत्त्वरजस्तम त्रिगुणाश्रय है और काल इन तीनो गुणो से शून्य है।

पीछे द्रव्य के दो भेद—जड और अजड कहे गये है। जो जड नही वह अजड है। उस अजड के दो भेद है—एक प्रत्यक और दूसरा पराक। 'अपने प्रति स्वयभासमानत्व को प्रत्यकत्व'‡ कहते है और 'दूसरे के प्रति भासमानत्व पराकत्व'† कहलाता है। इस दृष्टि से जीवात्मा

अजड द्रव्य

‡ स्वस्मै स्वय भासमानत्व प्रत्यकत्वम्।

† परस्मै भासमानत्व पराकत्वम्॥

और परमात्मा, ये दोनो प्रत्यक है, क्योकि ये दोनो ही अपने प्रति आप भासमान होते है। अपने (स्वरूप के) प्रति आप भासमान होने मे इन्हे किसी दूसरे की अपेक्षा नही होती। धर्मभूत ज्ञान और नित्यविभूति, ये दोनो पराक है क्योकि ये अपने प्रति आप भासमान नही होते, दूसरे के प्रति भासमान होते है।

धर्मभूत ज्ञान

धर्मभूत ज्ञान को समझने से पहले धर्मी और धर्म को समझ लेना चाहिए। दुग्ध धर्मी है और उसकी श्वेतता वा मधुरता धर्म है। पुष्प धर्मी है और चारो ओर फैलनेवाली सुगध धर्म है। दीपक धर्मी है और चारो ओर फैलनेवाला उसका प्रकाश धर्म है। इसी प्रकार प्रत्यक् स्वरूप जो ज्ञानवान् है वह धर्मी है। उसका ज्ञान (ज्ञानी मे रहता हुआ भी) चारो ओर फैलता है, वह धर्म है। जो ज्ञान धर्मी के स्वरूप मे रहता है और प्रसरणशील है, उसको धर्मभूत ज्ञान कहते है। आत्मा को अपने स्वरूप से अतिरिक्त शरीर और अनेक बाह्य पदार्थो का बोध धर्मभूत ज्ञान के बिना नही हो सकता है। अपने गुण और चेतनाचेतन को जानने के लिए धर्मभूत ज्ञान की आवश्यकता रहती है। धर्मी जो प्रत्यक् है अपने स्वरूप के अतिरिक्त दूसरे किसी भी पदार्थ को धर्मभूत ज्ञान के बिना कैसे ग्रहण कर सकता है ? दीपक को जो धर्मी है अपने स्वरूप के प्रति आप प्रकाशमान रहने मे दूसरे किसी भी पदार्थ की अपेक्षा नही है, परन्तु उसके प्रकाश की, जो धर्म है और जो चारो ओर फैलता है घट-पटादि अनेक पदार्थों के देखने मे अथवा धर्मी (दीपक) का स्वरूप दूसरो को दिखाने मे, अपेक्षा रहती है। यह दीपक का उदाहरण थोडा सकुचित रहता है, क्योकि दीपक जड होने से ज्ञान-शून्य है, परन्तु आत्मा ज्ञान-शून्य नही, ज्ञानवान् है, इसीलिए दीपक के सम्बन्ध मे प्रकाशमान् होना वा दीखना जैसे शब्दो का व्यवहार किया जाता है, ज्ञान वा बोध शब्दो का प्रयोग नही होता। आत्मा अजड है। इसमे ज्ञान शब्द का प्रयोग ठीक-ठीक होता है। आत्मा

का धर्मभूत ज्ञान अपने प्रति आप भासमान् नही होता है, दूसरे के प्रति भासमान होता है। ससार के अनेक घटपटादि पदार्थों का बोध आत्मा को होने मे अथवा अपना या एक प्रत्यक का बोध दूसरे प्रत्यक को होने मे इस प्रसरणशील धर्मभूत ज्ञान की आवश्यकता रहती है।

जीवात्मा और परमात्मा के सबध से धर्म निरूपण

पीछे प्रत्यक के दो भेद, जीवात्मा और परमात्मा कहे गये है। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि जीवात्मा को, अणु होने से, धर्मभूत ज्ञान की आवश्यकता अवश्य रहनी चाहिए, परन्तु परमात्मा विभु होने से सर्वव्यापी एव ज्ञान-स्वरूप है। उसको धर्मभूत ज्ञान की क्या आवश्यकता है ? अपने ज्ञान-स्वरूप से ही सब कुछ जान सकता है ? यह ठीक है कि जीवात्मा अणु है और परमात्मा विभु, किन्तु वे अपने स्वरूप का ज्ञान आप रखते है। "सत्यज्ञानमनन्त ब्रह्म" आदि श्रुति-वाक्य परमात्मा को ज्ञान-स्वरूप कहते है। यहाँ ज्ञान शब्द से धर्म प्रतिपादित है और "यस्सर्वज्ञ सर्ववित्" आदिक श्रुति-वाक्य परमात्मा को ज्ञानवान् बताते है। समझने की बात है कि धर्मभूत ज्ञान न रहने से उस धर्मी परमात्मा को श्रुति ज्ञानवान् कैसे कहती ? यह तो उसकी समृद्धि है। परमात्मा विभु होने से आकाशवत् व्याप्त अपन विभु स्वरूप को आप ही जानता है। 'व्यापक' शब्द के प्रयोग से 'व्याप्य' की सिद्धि हो जाती है। बिना व्याप्य के परमात्मा को व्यापक कैसे माना जा सकता है ? परमात्मा के सम्बन्ध मे व्याप्य शब्द सापेक्ष है। व्याप्य पदार्थ (चेतनाचेतन) परमात्मा का शरीर है। उसको तथा अपने गुणो को जानने मे धर्मभूत ज्ञान की अपेक्षा है, ऐसा न मानने से धर्मी स्वरूप अपने स्वरूप से व्यतिरिक्त अन्य द्रव्यो को कैसे ग्रहण करेगा ? इससे ऐसा न समझ लेना चाहिए कि परमात्मा के सर्वशक्तिमत्त्व मे कुछ न्यूनता आती है। यह ज्ञानशक्ति उसी की है, न्यूनता का कोई काम ही नही। यहाँ 'सर्वशक्तिमान्' शब्द का प्रयोग छुट्टी लेने के

लिए नही है, विवेक और मर्यादा की बात है। ऐसी अगणित शक्तियो मे रहने से ही तो 'सर्वशक्तिमत्व' है और असख्य शक्तियो मे एक बडा भाग इसका भी है।

ये दोनो पराक है। जानने की बात है कि एक नित्यविभूति है और एक लीलाविभूनि। नित्यविभूति वैकुठ को कहते है और लीलाविभूति माया-मडल के वैभव को कहते है।

धर्मभूत ज्ञान और नित्यविभूति

रज तम के साथ जो सत्त्व है, वह मिश्र सत्त्व कहलाता है। माया इसका कार्य है। लीलाविभूति मे जितने पदार्थ है, वे इस मिश्र सत्त्व के परिणाम है। इसी प्रकार नित्यविभूति शुद्ध सत्त्व का परिणाम है, जिसमे-रज-तम विहीन केवल सत्त्व रहता है। वैकुण्ठ मे गोपुर, मडप, प्राकारादि मुक्त नित्यो के शरीर और भगवान् का दिव्य मगल विग्रह, ये सब शुद्ध सत्त्व के परिणाम है। भगवदिच्छा से भगवद्वि-ग्रह रूप-परिणति को भी प्राप्त होता रहता है। "इच्छाग्रहीताभि-मतो स देह", "षाड्गुण्यविग्रह देव भास्वज्ज्वलनतेजसम्" आदि प्रमाणो मे शुद्ध सत्त्वमय भगवदविग्रह का वर्णन है। जीव ज्ञानस्वरूप है। इसका जैसे मायामण्डल मे मिश्र सत्त्व आच्छादन करता है, वैसे नित्यविभूति मे शुद्ध सत्त्व उस ज्ञान-स्वरूप का आच्छादक नही है और धर्मभूत ज्ञान जैसे प्रत्येक धर्मी का धर्म है, वैसे यह शुद्ध सत्त्व धर्म नही है। यह तो एक स्वयप्रकाश स्वतत्र द्रव्य विशेष है। जब किसी मुक्त जीव को शुद्ध सत्त्व शरीर मिलता है तो वह शरीर मुक्तात्म शरीरी के प्रति भासमान होता है। इस प्रकार मुक्तात्मस्वरूप के प्रति भासमान होने से अजड के भेद मे पराक माना जाता है।

"धर्मभूत ज्ञान" भी दूसरे के प्रति इसी प्रकार भासमान होने से "पराक" माना जाता है, परन्तु भेद यह है कि धर्मभूत ज्ञान सत्त्व-गुणाश्रय नही है और उसका गोपुर, मण्डप, प्राकारादि रूप से अथवा शरीर रूप से परिणाम नही होता है।

अध्याय ४

प्रत्यक के जीवात्मा और परमात्मा, ये दो भेद कहे गये है। परमात्मा के गुण, नाम और स्वरूप अवर्णनीय है। यदि ब्रह्मा के ऊपर अनेक ब्रह्माओ की कल्पना मे एक उच्चतम ब्रह्मा की कल्पना करले जिसने अनादि काल से भगवद्गुण-वर्णन के अतिरिक्त अन्य काम नही किया हो तो उसके द्वारा भी परमात्मा का एक भी गुण यथार्थ रीति से वर्णन नही किया जा सकता। एक गुण का पूरा होना तो अलग रहा, यह भी कल्पना नही कर सकते कि उसका कोटयश भी वर्णन हो सका होगा। काटि की सख्या मे तो एक के ऊपर सात ही विन्दु होते है, यदि ऐसी कल्पना करे कि वैसा ही दूसरा ब्रह्मा अनादि काल से एक-एक क्षण मे अनन्त-अनन्त कोटि बिन्दु उस अक पर लगाता आया हो, अब भी इसी हिसाब स लगा रहा हो और आगे भी अनन्त काल तक इसी हिसाब से लगाता चला जाये तो भी यह नही कहा जा सकता है कि भगवत् के एक भी गुण के 'इतने' भाग का वर्णन हो गया। शप जी भगवन्नामोच्चारण से अपनी जिह्वा को सदा पवित्र करते रहते है और नये से नये नाम लेते रहते है, परन्तु अब तक कोई भी नाम पूरा नही लिया जा चुका है। फिर स्वरूप वर्णन की बात तो असभव है। अनन्त का अन्त कदापि सभव नही है। परमात्मा के पराक्रम का भी परिमाण नही है। इसी से 'सहस्रनाम' मे उसको "अमितविक्रम" कहा गया है। उसके अनेकरूप है। इ.ग उसे "नैकरूप" कहा गया है। उसकी माया के अगणित रूप है, इसलिए उसे "नैकमाय" कहा गया है। अनेक नियमो का विधायक होते हुए भी, स्वय नियम-बध स मुक्त है, अतएव उसे 'अनियम" एव विमुक्तात्मा" कहा गया है। उसकी किसी से तुलना नही हो

परमात्म प्रत्यक का निरूपण

सकती, इससे उसका नाम 'अतुल' भी है। ऐसे परमात्मा का वर्णन कैसे हो सकता है। स्तुति करते समय श्रीयामुनाचार्य स्वामी कहते है—"जिसके महिमा-समुद्र की एक बिन्दु का भी शर्व, ब्रह्मादि ठीक-ठीक माप नही कर सके है उसकी महिमास्तुति के लिए उद्यत हुए मुझ निर्लज्ज कवि को नमस्कार हो। अथवा यो कहो कि श्रम की अवधि तक मै अशक्त भी यथामति स्तुति करता हूँ और वेद, ब्रह्मादिक भी सदा स्तुति करते रहते है, किन्तु परमात्मा की स्तुति के असीम क्षेत्र मे किसी की विशेषता नही, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार कि महासागर मे डूबते हुए अणु और कुलाचल मे कोई भेद नही अर्थात् महासागर की गभीरता मे जिस प्रकार अणु डूबता है उसी प्रकार कुलाचल भी। इस काम मे दोनो ही समान है। अति तुच्छ मै जिस प्रकार परमात्मा की पूर्ण स्तुति नही कर पाता हूँ उसी प्रकार वेद ब्रह्मादिक बहुत बडे होते हुए भी पूर्ण स्तुति नही कर पाते है। अपूर्णता दोनो मे है, तो भी स्तुति वे भी करते है और मै भी।"*

यद्यपि भक्त द्वारा भगवत्स्तुति करना केवल उसकी अयोग्यता का परिचय है, फिर भी जबकि उसके सभी व्यवहार भगवदर्थ है तो गिरासे भी जो कुछ निकलता है वह भी तदर्थ है। भगवान् को प्रणाम करते हुए स्वामी यामुनाचार्य कहते है—"वाणी और मन की अतिभूमि (ऐसे भगवान् जिसे वाणी और मन नही पा सकते) को नमस्कार है, वाणी और मन की एकभूमि (यदि वाणी और मन कुछ पा सकते है तो एकमात्र उसी को) को नमस्कार है, अनन्त और महाविभूति परमात्मा को नमस्कार है, अनन्तदया के एकमात्र सागर (परमात्मा) को नमस्कार है।"†

---

* तत्वेन यस्य महिमार्णव शीकराणु शक्यो न मातुमपि शर्वपितामहाद्यै ।
कर्तुं तदीय महिमस्तुतिमुद्यताय मह्य नमोस्तु कवये निरपत्रपाय ॥
यद्वा श्रमावधि यथामति वाप्यशक्त स्तौम्येवमेव खलु तेऽपि सदास्तुवन्त ।
वेदाश्चतुर्मुखमुखाश्च महार्णवान्त को मज्जतोरणुकुलाचलयोर्विशेष ॥

† नमो नमो वाङ्मनसातिभूमये, नमो नमो वाङ्मनसैकभूमये ।
नमो नमोऽनन्तमहाविभूतये, नमो नमोऽनन्तदयैकसिन्धवे ॥

यहाँ यह शका रह सकती है कि महाविभूतिवान् होने से वह हमारी ओर दृष्टि क्यो करने लगा ? इसके समाधान के लिए अन्तिम पद मे कह दिया गया है कि वह अनन्तदया का एक समुद्र है। अतएव हम जैसे हीन जीवो का ठीक-ठीक निर्वाह होगा, क्योकि उस दया के पात्र होने से वह हम लोगो पर दया करेगा। जहाँ यह है कि परमात्मा वाणी और मन की पकड मे नही आ सकता, वहाँ चित्त के उत्साहित करने के लिए यह भी कहा गया है कि भगवान् ही वाणी और मन की एकभूमि है अर्थात् मन और वाणी मे उसके पूर्ण स्वरूप के ग्रहण करने और वर्णन करने की शक्ति नही है, तथापि ये दोनो जो कुछ भी पकडते है, उसी को पकडते है। अधिष्ठान होने से मुख्य होकर वही आ जाता है।

राम होने से सब जगह वही रम रहा है। "विद्वान् लोग उसे वासुदेव इसलिए कहते है कि वह सर्वत्र समस्त बसता है।"* अच्युत, अनन्त, गोविन्द, जगन्नाथ, देवेश, नारायण, पुरुषोत्तम, भूतभव्यभवन्नाथ, माधव, हरि आदि उसी के नाम है।

उसके पाँच रूप कहे जाते है —(१)पर (२) व्यूह (३) विभव, (४) अन्तर्यामी, (५) अर्चा। 'पर' वैकुण्ठनाथ है। वे विरजा के पार, माया-मण्डल के परे विराजते है। इस दिव्य, मगल विग्रह के चरणारविन्द मे पहुँच जाना ही उन मुमुक्षुओ का उद्देश्य है जो वास्तव मे 'भगवत्पर' है। ऐसा रूप-सौन्दर्य किसी मे नही है।

पर के पीछे दूसरा भगवत्स्वरूप 'व्यूह' है। यह चतुर्धा है—वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। इन चारो म ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य, ये छे गुण पूरे-पूरे है, किन्तु वासुदेव मे तो वे प्रकट है और शेष तीनो मे भिन्न-भिन्न दो-दो प्रकट

---

* **सर्वत्रासौ समस्त च वसत्यत्रेति वै यत ।**
अत स वासुदेवेति विद्वद्भि परिपठ्यते ॥

और चार-चार अप्रकट है। उपासको की उपासना और जगत् की सृष्टि, रक्षा और सहार के व्यापार-भेद से यह मूर्ति-भेद है।

तीसरा 'विभव' स्वरूप है जो राम, कृष्ण आदि अवतारो मे मिलता है। जब जब धर्म की ग्लानि होती है तब-तब महात्माओ के (साधुओ के) परित्राण और धर्म की सस्थापना के लिए भगवान् अवतार धारण करते है। ये सब अवतार 'विभव' कोटि मे है।

चौथा 'अन्तर्यामी' स्वरूप है। वह सब के अन्तर मे प्रविष्ट होकर यमन करता रहता है। अत्यन्त सूक्ष्म होने से उसकी इन्द्रिय-गोचरता के अर्थ जीवो मे योग्यता नही है। इसलिए 'सहस्रनाम' मे उसके 'अव्यक्त', 'अतीन्द्रिय', अमूर्तिमान', अदृश्य आदि नाम है। व्यापक अधिष्ठानस्वरूप होने से माया-मण्डल का यावत्प्रपच इसी की सत्ता से खडा है। 'निराकार' शब्द से जो कोलाहल सुना जाता है, वह इसी 'अन्तर्यामी' 'अव्यक्त का प्रतिपादन है, किन्तु 'पर', 'व्यूह', 'विभव' और 'अर्चा' ये चारो स्वरूप साकार है।

पाँचवाँ स्वरूप 'अर्चा' है। जहाँ-तहाँ भगवान् के मदिरो मे तथा उपासका के घरो मे जो पूजन होता है, वह भगवान् के 'अर्चा' स्वरूप का होता है।

ऊपर 'विग्रह', 'चरणारविन्द' और 'रूप-सौन्दर्य' आदि शब्दो से वैकुण्ठनाथ का साकारत्व प्रतिभासित होता है। वे साकार है।

भगवत्साकारता

उनके आकार की मधुरता असीम है और उनके दर्शन की अभिलाषा महात्माओ को सदैव लगी रहती है। यामुनाचार्य स्वामी अपनी प्रार्थना मे कहते है—"जिन महात्माओ ने एक बार तेरे आकार के दर्शन करने की अभिलाषा मे सर्वोत्तम योग और मुक्ति को तृण कर दिया है और जिनका विरह तुझे एक क्षण भर भी दु सह है, उनकी दृष्टि मुझ पर डाल।"†

---

† **सकृस्त्वदाकारविलोकनाशया तृणीकृतानुत्तमभुक्तिमुक्तिभि ।
महात्मभिर्मामवलोक्यता नय क्षणेऽपि ते यद्विरहोतिदु सह ॥**

अनन्य भक्त महात्माओ को मायामण्डल से छूटने की लालसा नही रहती, उन्हे केवल भगवदाकार के दर्शनो की लालसा बनी रहती है। उस दर्शन मे वे कृतकृत्य हो जाते है। मायामण्डल तो स्वत ही छूट जाता है। भगवान् के नित्ययौवनमय दिव्य आकार की सन्निधि पाकर तथा उस छवि को देख कर जिसके अद्भुत लावण्य और दिव्य माधुर्यादि गुण का ह्रास कभी नही होता, एक माया क्या अनेक माया दूर भाग जाती है। उसी स्वरूप को 'विरजा के पार' कहा है।

रजादि माया के गुण है। वे विरजा पर ही विगत हो जाते है। इसी से वैकुण्ठनाथ का नाम कही-कही 'निवृत्तात्मा' और 'निर्गुण' भी आ जाता है। माया तथा उसके गुणो की सीमा विरजा शब्द से ही सिद्ध होती है। वैकुण्ठ मे माया का नाम भी नही है। वहाँ इसका कुछ भी बल नही पहुँचता। वहाँ तो माया के स्वामी साक्षात् परमेश्वर है जिनको 'केशव', 'पुण्डरीकाक्ष' और 'मुकुन्द' भी कहते है और जो समस्त कल्याण और गुणामृत के सागर है। उनकी छवि ही आनन्द स्वरूप है।

युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्म ने भगवान के विख्यात और गौण एक सहस्र नाम बतलाये थे। उनमे अमृतवपु, दीप्तमूर्ति, द्युतिधर, वराग, बृहद्रूप, महामूर्ति, सच्चिदानन्दविग्रह, शरीरभृत और शान्ताकार आदि नाम भी आए है। ये नाम सार्थक है। उस स्वरूप मे यह विशेषता है कि उसका कोई मान निश्चित नही कर सकता, इसलिए भीष्म ने भगवान् को 'अमेयात्मा' भी कहा है। यावद्विभूति उसी साकार परमात्मा की है। स्वामी यामुनाचार्य अपनी स्तुति मे कहते है—"जो यह ब्रह्माण्ड है, जो कुछ इस ब्रह्माण्ड के भीतर गोचर है, जो दशोत्तर आवरण है और जो गुण, माया, जीव, परपद और परात्पर ब्रह्म है, ये तेरी विभति हैं।"*

* यदण्डमण्डान्तरगोचरञ्च यद्दशोत्तराण्यावरणानि यानि च।
गुणा प्रधान पुरुष परपद परात्पर ब्रह्म च ते विभूतय ॥

देखने की बात है कि ऊपर 'परपद' और 'परात्पर ब्रह्म' (चेतनाचेतनविशिष्ट भगवत्स्वरूप जो प्रपच का शरीरी और अधिष्ठान है) भी उसी साकार स्वरूप की विभूति कहा गया है। धन्य है वे मुक्तात्मा जो इस स्वरूप की सन्निधि मे पहुँच कर इसके गुणो का अनुभव और विग्रह का कैंकर्य प्राप्त करते है। यह स्वरूप सबसे विलक्षण और सबसे ऊँचा है। चार प्रकार का मोक्ष (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य) भी इसी विग्रह के सम्बन्ध से है। उस दिव्यरूप से प्रतिष्ठित लोक को प्राप्त करके ही सालोक्य मोक्ष मिलता है, अन्यथा 'सालोक्य' कैसा ? उस रूप (आकार) के समीप पहुँच कर ही सामीप्य मोक्ष प्राप्त होता है। बिना उसके आकार के सामीप्य किसका ? समीप और दूर का भाव विना रूपाभिव्यक्ति के हो नही सकता और उस प्रभु के रूप के बिना 'सारूप्य' मोक्ष कैसा ? उस रूप की अभिव्यक्ति के बिना सायुज्य भी कैसे सभव हो सकता है ?

प्रत्यक्षवादी उसे रूपसम्पत्तिहीन कह सकते है, किन्तु सर्वैश्वर्यसम्पन्न को ऐसा मानना बुद्धि की शोच्यता नही तो क्या है ? इस मायामण्डल मे निवास करते हुए उस धर्मी को 'इदम्' कहकर समक्ष निर्देश करना सभव नही है। भगवद्विग्रह शुद्ध सत्त्वमय होने से लौकिक, त्रिगुणात्मक प्राकृत द्रव्य से विलक्षण है, अतएव अनुपम होने से 'ईदृश' कहकर उसका प्रकार-निर्देश भी नही हो सकता। इसी कारण सहस्रनाम मे भगवान् का नाम 'अनिर्देश्यवपु' भी आया है। इस शुद्ध सत्त्वमय भगवद्विग्रह को 'पञ्चोपनिषद्विग्रह', षाड्गुण्यमय विग्रह', 'पञ्चशक्तिमय विग्रह' ऐसे एक-एक निमित्त से प्रतिपादन करते है। शुद्ध सत्त्व स्वय प्रकाश होने से दर्पणान्तस्थ पदार्थ की भाँति शरीरान्तस्थ आत्मस्वरूप गुणादिक प्रकाशित रहते है। इस षाड्गुण्यप्रकाशकत्व के कारण उसे 'षाड्गुण्यविग्रह' प्रतिपादन करते है। यह शुद्ध सत्त्व परमेष्टि, पुमान्, विश्व, निवृत्ति और सर्व, पाँच प्रकार का है। इन पाँचो को पञ्चोपनिषत् एव पञ्च-

शक्ति नाम से अभिहित किया गया है। इसलिए भगवद्विग्रह को पचोपनिषत्विग्रह एव पचशक्तिविग्रह नाम से प्रतिपादित किया जाता है।

स्वामी रामकृष्ण परमहस ने भी अपने उपदेशो मे यही प्रतिपादित किया है कि ईश्वर के दर्शन होते हैं और हम उसका प्रत्यक्ष रूप मे मित्रवत् स्पर्श भी कर सकते हैं। वैकुण्ठनाथ के दिव्य मगलविग्रह की सन्निधि मे पहुँचना ही परम भक्तो और परम भागवतो का मोक्ष है। भगवान् का अन्तर्यामी अव्यक्त स्वरूप, जिसको आजकल प्राय निराकार शब्द से अभिहित किया जाता है वह तो अब भी (वर्तमान काल मे भी) अत्यन्त निकट है और अव्यक्त अधिष्ठान स्वरूप वह सब जीवो मे सदा समरूप मे स्थित रहता है, किन्तु इससे सबकी सामीप्य मुक्ति की दशा नही कह सकते। देखने की बात है कि वैकुण्ठनाथ के साकार स्वरूप की उपासना ही को तो कल्याणगुणविशिष्ट ब्रह्मोपासना कहते हैं और भगवत्प्राप्तिकाम जन इसी उपासना का अवलम्बन करते है। फलदशा मे उपासना के अनुसार भगवद्गुण ही उनके अनुभव मे आते हैं। 'उपासना' शब्द की सागता-सिद्धि भी भगवान् के साकार स्वरूप स ही है क्योकि 'उप' का अर्थ समीप और 'आसना' का अर्थ बैठना है। अतएव उपासना शब्द की सार्थकता भगवान् को साकार मानने से (भगवद्विग्रह को स्वीकार करने से) ही सिद्ध हो सकती है। यदि आकार ही न होगा तो 'समीप' और 'दूर' की माप कैसे हो सकेगी ?

भगवान् शब्द की व्याख्या

यह शब्द 'भग' शब्द के साथ 'वतुप' प्रत्यय के लगने से बना है। 'भग' शब्द ऐश्वर्यादि छै गुणो का वाचक है और 'वान्' का अर्थ वाला है। इस प्रकार भगवान् शब्द परमात्मा के उस रूप की ओर सकेत करता है जो ऐश्वर्यादि छै गुणो से युक्त है। वे छै गुण ये है—ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और

वैराग्य ।† (१) सब पदार्थों के नियमन की सामर्थ्य को 'ऐश्वर्य' कहते है, (२) सर्वविरोधिनिरसन-सामर्थ्य को 'वीर्य' कहते है, (३) सार्वत्रिककल्याणगुणप्रथा को 'यश' कहते है, (४) सदा अपरिमित दान किए जाने पर भी अक्षय समृद्धिमत्त्व की क्षमता को (योग्यता को) 'श्री' कहते है, (५) एक काल मे समस्त पदार्थविषयक प्रत्यक्षीकरण का नाम 'ज्ञान' है और (६) अवाप्त समस्तकामत्व को 'वैराग्य' कहते है। ये छै गुण भगवत्स्वरूप मे सदा रहते है।

भगवत्स्वरूप की अव्यक्तता और साकारता की सगति

भगवत्स्वरूप का आकार सदैव प्रकट नही है, इस आशय से उसे निराकार कहने मे कोई हानि नही है, किन्तु निराकार से यह आशय ग्रहण नही करना है कि उसमे आकार का होना सदैव असभव है। यह समझना भूल होगी कि अव्यक्त से तात्पर्य साकार से नही होता और साकार एकदेशीय एव अव्यापक होता है। क्या प्रह्लाद की सी दृढ एव अनन्य भक्ति रखने वाले अपने पचास भक्तो को भगवान् अपने चतुर्भुज स्वरूप से एक ही समय मे दर्शन नही दे सकते ? अवश्य दे सकते है। ऐसी बात नही है कि व्यापक स्वरूप मे केवल निराकारता ही की सभावना और योग्यता हो। यदि ऐसा हो तो यह आकार कहाँ से प्रकट होगा ? यदि साकारता के कारण भगवत्स्वरूप की एक-देशीयता मानले तो वे एक ही समय अपने अनेक भक्तो के समीप नही पहुँच सकते, किन्तु ग्रन्थो मे अनेक प्रमाण है कि भगवान् ने अपने अनेक भक्तो को अविलम्ब एक ही साथ दर्शन दिये है। इससे अव्यक्त रूप से व्यापकता सिद्ध है—वह व्यापकता जो साकारता से शून्य नही है।

---

† ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशस श्रिय ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरण ॥

ऐसी बात नही है कि भगवान् मे दो विपरीत भाव प्रश्रय नही पाते। वे दो क्या, लाखो विपरीत भावो के आश्रय है। सहस्रनाम मे जिनको 'कृश' कहा गया है, उन्ही को स्थूल भी कहा गया है। उन्ही के लिए 'अणु' और उन्ही के लिए 'बृहन्' नाम का प्रयोग भी हुआ है। जिनका नाम 'भयकृन' है, उन्ही का नाम व्यवहारभेद से 'भयनाशन' भी है। वे दुरात्माओ के लिए भयकर्ता और भक्तो के लिए भयहर्ता है। विपरीत भावो की स्थिति भगवान् का दोष नही, गुण है। उन्ही को 'अविज्ञाता' और 'सहस्राक्ष' दोनो नामो से अभिहित किया गया है। प्रपन्न लोगो के दोषो पर दृकपात न करने से भगवान् को 'अविज्ञाता' कहा गया है, किन्तु सर्वज्ञ होने से उनका 'सहस्राक्ष' कहना युक्त ही है। भगवत्-स्वरूप मे अनेक प्रकार की बात | सगत बन जाती है, इससे सहस्रनाम मे उनको 'सर्वलक्षणलक्षण्य' कहा गया है।

'अन्त प्रविष्ट शास्ता जनाना सर्वात्मा', इस श्रुतिवाक्य से भगवान का सूक्ष्म अन्तर्यामी स्वरूप प्रमाणित होता है। 'अणोरणीयान्' श्रुतिवाक्य भी भगवत्स्वरूप की सूक्ष्मता का प्रतिपादन करता है, परन्तु भगवान् के अव्यक्तस्वरूप की महिमा मे ऐसा नही मानना चाहिए कि भगवान् का स्वरूप केवल छोटा ही है, क्योकि 'महतोमहीयान्' श्रुतिवाक्य से उसका स्वरूप सब से बडा भी प्रमाणित होता है। यदि ऐसा न हो तो ये वाक्य नितान्त मिथ्या हो। चिदचिद्विभागो मे बँटा हुआ यह विचित्र विश्व किसके अयुतायुत कलाश के एक अश म ही है?'† अथवा 'हरविरचि मुख्य है जिसमे ऐसा यह प्रपच किसके उदर मे है?' ‡ अथवा आपके सिवा अन्य ऐसा कौन है जो आक्रमण करके इस

---

† 'कस्यायुतायुतशतैककलाशकाशे विश्व विचित्रचिदचित्प्रविभागवृत्तम'।

‡ 'कस्योदरे हरविरञ्चिमुख प्रपञ्च'।

प्रपच को निगल कर फिर उद्‌गीर्ण कर दे?'† यह सब वैभव भगवान् के बडे स्वरूप का है। वह इतना बडा है कि उसके लम्बाई चौडाई आदि गुणो का प्रमाण करना भी सभव नही है। इसीकारण उसको 'अप्रमेय' कहा जाता है।

'अणीयान्' और 'महीयान्' इन दो गुणो से युक्त ही भगवान् का अव्यक्त स्वरूप नही है, अपितु 'अव्यक्त स्वरूप' मे 'द्रव्यमात्र के समान' स्वरूप का भी आकलन होता है। इस भाव का स्पष्टीकरण 'कलश-सागर' उदाहरण से किया जा सकता है। यदि समुद्र मे एक कलश डाल दिया जाए तो जितना जल कलश के भीतर आजावेगा उसका आकार कलश के आकार से छोटा होगा, किन्तु कलश के बाहर जो सागर-जल दूर तक भरा हुआ है उसका आकार कलश के आकार से बहुत बडा होगा, ‡ किन्तु एक तीसरा आकार द्रव्यमात्र के समान और माना जायगा। जिस प्रकार जल का आकार कलश से छोटा, कलश से बडा और कलश के समान मान सकते है, उसी प्रकार भगवतस्वरूप द्रव्यमात्र से बडा, द्रव्यमात्र से छोटा और द्रव्यमात्र के समान भी माना जाता है, किन्तु भगवान् द्रव्यमात्र मे पूर्णस्वरूप है। ऐसी बात नही है कि एक द्रव्य मे भगवान् का एक अश है। इस भूल से कदाचित् सहस्र द्रव्यो मे पूर्णभगवान् मानने की सभावना होगी और कदाचित् एक-एक द्रव्य मे भगवान् के सहस्राश की कल्पना करनी होगी। जब तक वे एक सहस्र अश इकट्ठे नही होगे तब तक वह 'अशी' भगवान् पूर्ण नहीं होगा। जिस प्रकार पचास घटो मे से प्रत्येक को उसके 'घटत्वधर्म' मे पूर्ण कहा जायगा अर्थात् यह कहा जायगा कि यह भी घट है, यह भी घट है और

---

† 'क्रान्त्वा निगीर्य पुनरुद्‌गिरति त्वदन्यक'।

‡ हाँ, यह उदाहरण अवधिवाले द्रव्य का है भगवत्स्वरूप सावधि नहीं है।

यह भी घट है उसी प्रकार द्रव्यमात्र के लिए यह कहा जा सकता है कि यह भी विष्णु है, यह भी विष्णु है और यह भी विष्णु है। यह केवल मन की कल्पना नही है, इस विषय मे श्रुति प्रमाण है—"ज्योतीपि विष्णुर्भुवनानि विष्णु × × × × ।" अतएव सहस्रद्रव्यो मे से विष्णु का एक-एक अश इकट्ठा करके, उनको जोड कर एक पूरा विष्णु बनाने की बात तो हास्यास्पद होगी। वह प्रत्येक व्यक्ति और द्रव्य मे पूर्ण है। हिरण्यकशिपु के स्तभ मे पूरे ही विष्णु थे जो "नृसिहरूप' मे प्रकट हुए थे।

'सहस्रनाम' मे विष्णु को एकात्मा कहा गया है, इसलिए विष्णु एक ही है, परन्तु उसके अनेक रूप हैं। 'अनेक रूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे'—आदि वाक्यो से यही तथ्य सिद्ध होता है। प्रत्येक स्वरूप अपने प्रति आप पूर्ण होने के भाव मे यदि कोई 'अनेक विष्णु' कहे तो इसमे कोई हानि की बात नही, प्रत्युत गौरव है। सहस्रनाम मे इस अभिप्राय के भी अनेक नाम है, जैसे अनन्तरूप अनन्तात्मा, नैक, नैकात्मा, अनेकात्मा, अनेकमूर्ति, असख्य आदि।

विष्णु भगवान् का एकत्व

अन्यत्र कहा गया है कि वैकुण्ठनाथ का 'पर' स्वरूप माया-मण्डल के परे है और अन्तर्यामी अव्यक्त स्वरूप, जो चेतनाचेतन के भीतर अन्त प्रविष्ट होकर इस प्रपच के अधिष्ठान रूप मे प्रतिष्ठित रहता है, मायामण्डल के भीतर है। ये दोनो स्वरूप सर्वथा भिन्नसे प्रतीत होते है। यदि विलक्षणता के साथ पाँच व्यवहारो की प्रतीति न होती तो पाँच स्वरूपो का कथन व्यर्थ होता, परन्तु इनमे वास्तव मे भेद नही है। यदि इनमे भेद की प्रतिष्ठा होती तो भगवान् स्वय 'एकोऽहम्' न कहते। 'एकोऽहम्' को स्वीकार करके भगवान् के अनेकत्व की बात ही नही उठती। इस विषय मे भेद-बुद्धि के निवारण के लिए ही 'तत्त्वमसि' के वाक्य का अनुसधान किया जाता है। इस महावाक्य मे निकटवर्ती

मुख्य शरीरी अन्तर्यामी को सम्बोधन करके 'त्व' (तू) का प्रयोग किया गया है। तत् (वह) से दूरवर्ती का ग्रहण होता है और 'असि' वर्तमान काल की क्रिया है, इसका अर्थ है 'है'। भाषा मे इस वाक्य का अर्थ होता है—तू वह (या वही) है। यह अनुसधान भगवत्स्वरूपो के प्रतीयमान भेद को गला कर अभेद की स्थापना करता है।

भगवदाकार

भगवदाकार कैसा है, यह तो कोई तभी कह सकता है जबकि मूर्ति बने। शास्त्रो मे जहाँ-तहाँ भगवदाकार का वर्णन आया है। यह कहना केवल मिथ्या प्रचार होगा कि वर्णन करने वालो मे से किसी ने भी दर्शन नही किए। भगवान् के अनेक भक्त और उपासक हो चुके है और वेद ने भी उसे 'दृष्टव्य' कहा है। दर्शन करने वालो के अनेक आख्यान कहे-सुने जाते है। ऐसे अनेक आख्यानो का प्राचीन ग्रन्थो मे भी प्रसग और उल्लेख है। विधान करने वालो की बात निर्मूल नही है। जो शास्त्रो मे विश्वास करते है, वे उनकी बातो को सत्य भी मानते है। जो केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते है, उन्हे भगवद्दर्शनो की चेष्टा करनी चाहिये। दर्शन हो जाने पर भगवदाकार स्वीकार करने की बात तो उचित भी है, किन्तु दर्शन-चेष्टा से पूर्व ही, सत्याग्रह से पूर्व ही दुराग्रह या मिथ्याग्रह करके, भगवदाकार का निषेध कर देना नितान्त अनुचित है। ऐसे लोगो के सम्बन्ध मे यही कहा जा सकता है कि भगवद्दर्शन अभी उनके भाग्य मे नही है। दर्शन से पूर्व दर्शन-चेष्टा उचित ही है। कुछ लोग दर्शन-चेष्टा न करके पहले ही दर्शन को असभाव्य मानकर इस मार्ग का बहिष्कार कर देते है। उनकी जो रुचि दर्शन मे होनी चाहिए वह तो निषेध मे लगी रहती है, फिर दर्शन कैसे हो? शास्त्रीय आधार पर ही भगवान् की मूर्ति बनाई जाती है। उसको परपरा और सस्कारो की अमोघ शक्ति प्राप्त होती है। भगवान् की किसी नूतन मूर्ति की भावना को

अनुचित तो नही कह सकते, परन्तु उसको परम्परा और सस्कारो से उत्पन्न हुई चिरन्तन मान्यता प्राप्त नही हो सकती। भगवन्मूर्ति खुर्पे के आकार की भी हो सकती है, क्योकि भगवदाकार मे सब प्रकार के आकार सन्निविष्ट है। एक मूर्तिकार एक ही शिला से हाथी, घोडा, मयूर आदि जो चाहे वह बना सकता है। यह नही कहा जा सकता कि ये रूप बाहर से लाये गये है। ये अनेक आकार शिला मे ही प्रस्तुत है, किन्तु अव्यक्त रूप मे। जिस आकार के प्रति मूर्तिकार की रुचि हुई उसी को काट-छाट कर व्यक्त रूप मे निकाल लिया। भगवान का आकार भक्त की निर्मल अनन्य भावना से उत्पन्न होता है।

विचार एव चिन्तन का स्वातत्र्य मन का जन्म सिद्ध अधिकार है। कोई उक्त सिद्धान्त को मानता है या नही, यह हमारी चिन्ता का विषय नही है। यदि चिन्ता का विषय होगा तो मुमुक्षुओ के लिए जो पर-स्वरूप का सान्निध्य अथवा कैकर्य प्राप्त करना चाहते है, क्योकि वह (पर-स्वरूप) जो साकार है, उनका अन्तिम लक्ष्य बना है। सुगमता की दृष्टि से साकार ही के कैकर्य का अभ्यास करना उचित है। साकार पर-स्वरूप की प्राप्ति अभ्यास के लिए सुगम न होने के कारण साकार अर्चा-स्वरूप से अभ्यास करना चाहिए, जिससे फल-दशा (मोक्ष दशा) मे साकार पर-स्वरूप ही मिले। यदि उपाय-दशा मे साकार-कैकर्य का अभ्यास रुचिपूर्वक न किया जायगा तो फल-दशा मे साकार कैसे मिल सकेगा ?

भगवान् का अर्चा स्वरूप

भगवद्विग्रह का अर्चन और दर्शन करने वाले इस माहात्म्य को जानते है। जगन्नाथजी की सवारी के साथ-साथ दारु-ब्रह्म का दर्शन करते हुए जाने वाले उपासक लोग मुख से बोलते जाते है, 'जगन्नाथ स्वामी नयनपथगामी भवतु मे', अर्थात् जगन्नाथस्वामी मेरे नयन-पथगामी हो। स्पष्ट है कि उपासक लोग दर्शन माँगते है।

अर्चा-स्वरूप जगन्नाथजी के दर्शन तो हो ही रहे है, इसका क्या माँगना ? फिर भी वे ऐसा माँगते है। इससे यह समझना चाहिए कि वे साकार अर्चा-स्वरूप के दर्शन करते हुए साकार वैकुठनाथ के दर्शन माँगते है। इस स्वरूप के दर्शन से उस स्वरूप के मिलने की सभावना होने से ही वे उस स्वरूप के दर्शन की याचना करते है। यहाँ यह न समझलेना चाहिए कि उपासको को वैकुण्ठनाथ के दर्शन ही वाञ्छनीय है। अर्चा-स्वरूप उनके ध्यान मे नही होता, क्योकि उनकी चेष्टाओ और 'रथारूढोगच्छन्' आदि वाक्यो से अर्चा-स्वरूप का ध्यान स्वयसिद्ध है ।

उक्त विवेचन से अभ्यास का महत्त्व स्पष्ट है। कई क्षत्रियो को देखा है कि वे दशहरे पर भैसे की बलि देने के निमित्त डेढ-दो पाख पहले से नित्य अभ्यास करने लगते है। अभ्यास की दशा मे वे गीली मिट्टी का भैसा बना कर उस पर प्रहार किया करते है। यह अभ्यास उन्हे दशहरे पर काम देता है। यदि वे अभ्यास की दशा मे निराकार पर खड्ग प्रहार किया करे तो दशहरे पर उनको सिद्धि नही मिल सकती, क्योकि प्रथम तो निराकार भैसे पर अभ्यास हो ही कैसे सकता है ? यदि वे उन्मत की भाँति वायु मे खड्ग चलाने भी लगे तो साकार भैसे की बलि मे उन्हे उससे क्या सहायता मिलेगी—उससे उन्हे क्या सिद्धि मिलेगी ? अतएव यह कहना उचित ही है कि उनके अभ्यास के अनुरूप ही उनकी सिद्धि होगी।

कहना न होगा कि भगवान् प्रेम-स्वरूप है। उनकी उत्तम मूर्ति प्रेम के अतिरेक मे ही बनती है। प्रेम की बहुलता एव अनन्यता की दशा मे ही प्रिय की मधुर मूर्ति मन के सामने रह सकती है। देश और काल के व्यवधान से प्रेम के लौकिक आलम्बन की मूर्ति तो हमारे मन के सामने ही आ सकती है, किन्तु भगवान् अलौकिक आलम्बन है। उनमे यह विलक्षणता है कि अनन्य प्रेमी के मन मे उनकी मूर्ति के स्थान पर उनका

साक्षात् स्वरूप ही उसकी आँखो के सामने आता है। यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि प्रभु के आकार मे सब प्रकार के आकार सन्निविष्ट है। उसको लक्ष्य करके कैसी ही मूर्ति बनाई जाए, उद्दिष्य प्रभु फल दशा म उद्देश के आधीन अपने अत्यन्त मनोहर स्वरूप मे दर्शन देगे। वह आपके कौशल (शिल्प) को नही देखता, वह देखेगा प्रेम को।

अब रही भगवत्स्वरूप को पहले देखने की बात। इस सबध मे इतना कहना ही पर्याप्त है कि माया-मण्डल म यह बात पहले नही हो सकती। यह जीव जो माया-मण्डल म आदिकाल से चला आ रहा है,† एक बार ही वैकुण्ठनाथ के दर्शन होते ही जन्म-मरण-रूप ससार-बधन से मुक्त हो जाता है और नित्य विभूति मे परमानन्द को प्राप्त हो जाता है।

अर्चा स्वरूप की विशेषता

अर्चा-स्वरूप मे जड-भाव की प्रतीति से लोगो को सकल्प-विकल्प होते रहते है, किन्तु अर्चा-स्वरूप की विलक्षणता के महत्त्व को भुलाया नही जा सकता। यदि अर्चा-स्वरूप मे जड-भाव से विलक्षणता न होती तो अचेतनविशिष्ट ब्रह्मोपासना म ही जो समस्त जड जगत् मे ईश्वर को बताती है, यह भाव समानरूप से आ जाता, परन्तु इस अर्चा-स्वरूप को तो भगवान् का पाँचवाँ स्वरूप बताया है। कहना न होगा कि सौशील्य, वात्सल्य, स्वामित्व और सौलभ्य, भगवान् के इन चार गुणो मे से 'सौलभ्य' का परिचय विशेषत इस अर्चा-स्वरूप मे ही मिलता है। इसके अतिरिक्त और कोई भी भगवत्स्वरूप इतना सुलभ नही है जिसको पूजक जब चाहे उठाले, जब चाहे स्नान करादे, जब चाहे वस्त्र पहनादे, जब चाहे भोग लगादे और जब चाहे शयन करादे। पर, व्यूह, विभव और अन्तर्यामी इन चारो स्वरूपो को मानते हुए

---

† 'अनादिमायया सुप्त'

किसी मे भी अर्चा-स्वरूप की सी सुलभता नही है। अर्चा-स्वरूप के सबन्ध मे यह प्रश्न हो सकता कि 'सर्वव्यापक' को किसी एक विशेष स्थान मे कैसे माना जासकता है? क्या ऐसा मानने से उसका महत्त्व सकुचित नही होता? सुनने म तो यह प्रश्न विकट दीख पडता है, किन्तु विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जो सर्वव्यापक है वह किसी भी स्थान विशेष मे हो सकता है। यदि वह सर्वत्र है तो स्थान विशेष पर उसे न मानने का कोई कारण नही दीख पडता। उस स्थान को उससे शून्य मानना असगत है। इससे भगवन्महत्त्व सकुचित नही होता, प्रत्युत अनेक लोगो की योग्यता को (जो अनेक कारणो से सकुचित रहती है) अपने अनुकूल लाभप्रद भगवत्स्वरूप मिल जाता है।

अर्चा-स्वरूप की व्यावहारिकता

यह सब जानते है कि हम सब सकेत के अनुसार व्यवहार करते हैं—भोजनालय मे भोजन करते है, शौचालय मे शौच जाते है, पाठशाला मे पढने जाते है और चिकित्सालय मे नीरोगता प्राप्त करने के लिए जाते है। यह सब व्यक्तिगत व्यवहार की महिमा हे। माना कि भोजनालय, शौचालय, पाठशाला, चिकित्सालय आदि हमारे बनाए हुए ही सकेत है, किन्तु प्रत्येक का स्वकीय महत्त्व है। उसी महत्त्व की रक्षा के लिए हमे मर्यादा मे चलना पडता है। मर्यादा को तोडने मे व्यक्ति स्वतत्र है, किन्तु उत्तमता के मूल्य पर यदि मर्यादा तोडकर भोजनालय को कोई शौचालय बनाले तो निकृष्टता अनिवार्य है। इसी प्रकार पाठशाला मे चिकित्सा के लिए और चिकित्सालय मे अध्ययन के लिए जाना निष्फल एव व्यर्थ होगा। यह कहा जा सकता है कि पाठशाला मे चिकित्सा की सामग्री और चिकित्सालय मे पढने की सामग्री का अभाव ही असफलता का कारण होगा, किन्तु सर्वव्यापी होने के कारण भगवान् का अभाव कही नही हो सकता। बात तो ठीक है, किन्तु हम लोग 'एकदेशीय व्यक्ति' और 'सकुचित

ज्ञान वाले' है, अतएव सर्वत्र समान व्यवहार करने के योग्य कहाँ है ? केवल कहना और बात है और आचरण और बात। मर्यादा-सकेतो के बिना सब काम नही चल सकते। यदि कदाचित् सब काम यो ही सुगमता से चल जाते तो भगवान् को यह आवश्यकता ही न होती कि वे पार्थ को (गीता मे) 'व्यक्तिगत व्यवहार' बतलाते। फिर वे क्यो आज्ञा करते कि 'नक्षत्रो मे चन्द्रमा मै ही हूँ, धातुओ मे सुवर्ण मुझे ही समझो, वृक्षो मे पिप्पल मुझे मानो, और मनुष्यो म राजा को मेरा स्वरूप समझो।' यह व्यक्तिगत व्यवहार नही तो क्या है ? यह मनुष्यो के कल्याण के लिए है। ईश्वर सब नक्षत्रो, सब धातुओ, सब वृक्षो और सब मनुष्यो मे समान रूप से विद्यमान है। फिर भी श्रीकृष्ण ने व्यक्तिगत व्यवहार का उपदेश किया है जो परिमित व्यक्तियोग्यता के अनुरूप ही है।

याद रहे कि भगवान् के असख्य गुणो मे स जितने मूर्ति-दर्शन से स्मृतिगत होते है उनके कारण वही साकार सकेत है जो मूर्ति मे रहते है। कहना न होगा कि भगवान् के अर्चा-स्वरूप के द्वारा ही जीवो के ध्यान को साकार-सकेतो के साथ-साथ भगवद्गुणो पर जाने की योग्यता प्राप्त होती है क्योकि भगवान् मे अनन्त कल्याण-गुण व्यष्टि-रूप से विद्यमान है जिनको समष्टि रूप से गुणी के आकार सहित बोध कराने वाला यही (अर्चा) स्वरूप है। कवि ने ठीक ही कहा है कि "जिसके पास जैसी वस्तु होगी तदनुरूप ही मन होजायगा, चाहे परीक्षा करके देखलो माला हाथ मे होने पर भगवन्नाम लेने को मन होगा और गिलोल हाथ मे होने पर किसी पर निशाना लगाने को मन होगा।" †देखने की बात है कि आपकी बनाई हुई और आपकी ही प्रतिष्ठा की हुई भगवान् की मूर्ति

मूर्तिद्वारा सकेत

---

†जैसी जापै वस्तु है, तैसा ही मन होय।
माला और गिलोल को कर ले देखो कोय।।

आपके मन को अन्यत्र न लेजाकर भगवान् मे लगाती है।

मूर्ति-दर्शन से ऐसे लोगो का भी मन, जो मूर्ति को काष्ठ या पाषाण मानते है और निन्दा करते है, भगवान् की ओर चला जाता है। यदि उनका मन उस ओर नही जाता है तो वह निषेध वा खण्डन किसका करते है ? चित्त सकेत के साथ लक्ष्य पर ही जाता है, किन्तु उत्तम सस्कार बिना उत्तम भाव नही हो सकता। क्या उत्तम भाव से पूजन करने वाले इस बात को नही जानते कि मूर्ति काष्ठ पाषाण की है ? अवश्य जानते है, परन्तु भगवान् 'जगत सेतु' की उनके प्रति अनुकूलता है। इससे उनकी दृष्टि भगवान् की ओर जाती है। जिनके सस्कार दूसरे प्रकार के है उनका चित्त काष्ठ-पाषाण की भट-भीड मे उलझ कर सकेतनीय की व्यापकता को ग्रहण नही कर पाता।

मूर्तिद्वारा मन का सग्रह

दैनिक अनुभव की बात है कि 'लीलानुकरण' के प्रेमी लोग अर्चा-स्वरूप से कितना लाभ उठाते है। वल्लभकुल की मर्यादा के अनुपालक वात्सल्य भाव से भगवत्सेवा करते है। जिस पुत्र-भाव से नद-यशोदा ने ईश्वर के साथ प्रेम किया था, वे भगवान् की मूर्ति की सेवा द्वारा अपने मे उस भाव की पूर्ति करते है। इस भाव मे मग्न होकर वे अलौकिक आनन्द लूटते है। माता-पिता जानते है कि पुत्र कितना प्यारा होता है। कभी मन चाहता है कि लाल को स्नान कराके टोपी पहनावे, कभी यह विचार करके कि देर से कुछ खाया नही है इसे कलेवा करावे, कभी खेलने के लिए खिलौना देने का विचार होता है और कभी अतिकाल से होने वाले कष्ट का ध्यान करके उसे रात्रि मे समय पर सुलाने की व्याकुलता होती है। इस प्रकार अपने पुत्र मे सचार करने वाले वास्तविक प्रेम को नारायण मे निहित करने के लिए उपासक जन बाल-भाव की उपासना करते है और बालकृष्ण की मूर्ति द्वारा उसकी अनेक प्रकार की सेवा से

मूर्ति और लीलानुकरण

परम सुख के भागी होते है। इसी प्रकार निम्बार्क सम्प्रदाय के भक्त लोग 'प्रिय-प्रिया' के युगल स्वरूप की उपासना करते है। इस पद्धति के प्रेम मे शृगार रस के मधुर प्रवाह की अनुपम छटा छलकती रहती है। उसके एक अग की झाँकी श्री जयदेव के गीत-गोविन्द मे मिलती है। रसखान का यह सवैया भी उसी रग से पूर्ण है—

ब्रह्म मे ढूँढि पुरानन गानन वेद ऋचा पढि चौगुने चायन।
देख्यौ सुन्यौ न कहूँ कबहूँ वह कौन स्वरूप है कैसे स्वभायन॥
हेरति हेरति हारिपरी रसखान बतायौ न लोग लुगायन।
देख्यौ दुर्यो वह कुज-कुटीर मे बैठ्यौ पलोटत राधिका पायन॥

भगवान् का अर्चा-स्वरूप उपासना एव पूजा की वस्तु है। भगवान् की उपासना के लिए पूजा-भाव अनिवार्य है। पूजा सम्मान को कहते है। जिसकी मूर्ति पूजी जाती है, स्पष्टत उसका सम्मान हमारे हृदय मे निहित है। सम्मान का फल सम्मान्य की प्रसन्नता है। कहा जाता है कि किसी राज्य मे कोई पुरुष वहाँ के राजा की मूर्ति बना कर उसको एक सुन्दर स्थान मे सिहासन पर प्रतिष्ठित कर बडे प्रेम से उसका नित्य पूजन करने लग गया। कुछ काल के अनन्तर राजा को विदित हुआ तो राजा स्वय उसको छिप कर देखने आया और उसकी अगाध भक्ति को देखकर वह दग रह गया। वह उसके भाव मे अपना सम्मान पाकर बडा प्रसन्न हुआ और उसके नाम गाँव का पट्टा कर दिया। उसने यह तनिक भी विचार नही किया कि मूर्ति उसकी सच्ची प्रतिकृति थी भी या नही। जब लौकिक प्रेम की यह करामात है तो अलौकिक प्रेम का तो कहना ही क्या? यदि सर्वज्ञ करुणानिधान अपनी पूजा से प्रसन्न होकर स्व-लोक (वैकुण्ठ) मे बुलाले तो असम्भव क्या है? हाँ, उनके प्रति पूजा-भाव दिखावटी नही होना चाहिए, वह स्वाभाविक होना चाहिए।

पूजा की अमोघता

द्वितीया का चदा दिखाने वाले कहा करते है—'चदा सामने

दीख रहा है। उस नीम की टहनी पर देखो।" वास्तव मे वह उस टहनी पर नही है। उससे सहस्रो मील दूर है, किन्तु टहनी के सम्बन्ध से वह दृष्टिगोचर हो जाता है। इसी प्रकार मूर्ति भगवान् के मिलान का साधन है। साधन के अभाव मे साध्य का विचार क्लिष्ट कल्पनामात्र है।

साकार रूप की उत्कृष्टता

इसमे सन्देह नही है कि भगवान् का साकार स्वरूप अति उत्कृष्ट है। ऊँचे से ऊँचा काम उसी से सम्पन्न होता है। अग्नि सर्व-व्याप्त है। इस जगत् के एक-एक परमाणु मे वह अव्यक्त रूप से रहती है, किन्तु अनेक व्यवहारो मे अव्यक्त अग्नि से काम नही चलता। जब दियासलाई के रगडने से अग्नि का साकार रूप प्रकट होता है तो तिमिर-तोम का निवारण होकर अनेक अन्य कार्य सिद्ध होते है। इसी प्रकार सच्चे प्रेम की दियासलाई रगडने से प्रभु अपना साकार रूप प्रकट करते है। जो कृतकृत्यता प्रभु के व्यक्त रूप से सभवनीय है, वह अव्यक्त रूप से नही।

मूर्तिपूजा और मनुष्यपूजा

कुछ लोगो का यह कहना भी है कि मूर्ति मे ईश्वर-बुद्धि रखने की अपेक्षा जीवित मनुष्य मे रखना कही अच्छा है,। इस कथन मे कोई त्रुटि नही है। अनेक धर्मो मे गुरु मे ईश्वर बुद्धि रखने की बात का भी यही अभिप्राय है। जिनकी गुरु मे ईश्वर-बुद्धि स्थिर होजाती है, वे परम धन्य है, किन्तु अर्चा मे कुछ और बातो की आवश्यकता भी होनी है। उनकी पूर्ति काष्ठ, पाषाण आदि द्वारा होजाती है। काष्ठपाषाणादि मे यह योग्यता है कि अनेक उपासक अपनी-अपनी भावना एव रुचि के अनुसार उनकी ठीक-ठीक मूर्ति बनवा कर पूजन कर सकते है। विशेषता की बात यह है कि अनेक पूजको के प्रति मूर्ति की ओर से कोई व्यावहारिक वैषम्य सभव नही है किन्तु मनुष्य के व्यवहार मे समभ व के विच-लित होने का भय रहता है। आज किसी मनुष्य के प्रति ईश्वर-

बुद्धि आप रख सकते है । कुछ समय तक आपका प्रेम प्रिय के गुणा को पकड कर वृद्धि कर सकता है, किन्तु प्रतिकूल चरित्र देखने पर प्रिय के प्रति ग्लानि को जन्म मिलना कठिन नही है । तब प्रेम घृणा मे परिवर्तित होजाता है। घृणा के साथ-साथ ईश्वर-बुद्धि का निर्वाह कैसा ? अतएव मानव मे ईश्वर-बुद्धि रखने पर उक्त अनिष्ट की सभावना है, किन्तु मूर्ति (पाषाणादि की मूर्ति) मे उसकी किचित् सभावना नही है ।

उपासक लोग यह जानते हुए भी कि मूर्ति कुछ खाती नही है और ईश्वर उनके भोग पर ही निर्भर है, भोगादि की आयाजना करते है । इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि ईश्वर-भक्तो का सेवा-स्वरूप होता है । उनका लक्ष्य स्वामि-कैंकर्य मे पूर्णत प्रवृत्त होना चाहिए । यदि दास पूर्णत स्वामि-कैंकर्य-प्रवृत्त नही होता तो उसका दासत्व कैसा ? दासत्व-भाव का अभिप्राय यह कदापि नही कि स्वामि-कैंकर्य मे तभी प्रवृत्त होना चाहिए जबकि स्वामी को उसकी इच्छा हो। स्वामी के उदासीन होने पर भी जो सेवा करता है, सच्चा सेवक तो वह है, अन्यथा यथाय कैंकर्य मे न्यूनता के कारण किंकर के स्वरूप मे न्यूनता आती है । प्रभु तो 'अवाप्तसमस्तकाम' है । उनकी कोई ऐसी वाञ्छा नही है जिसकी तृप्ति अवशिष्ट हो । सोचने की बात है कि जिसके उदर म अनेक ब्रह्माण्ड प्रस्तुत हो उसकी क्षुधा- निवृत्ति हमारे चढाये हुए आधसेर पक्वान्न से क्या कभी होसकती है अथवा जिसके भय से अनेक सूर्य तपते रहते है उसके लिए हमरे जलाए हुए एक छोटे से दीपक का क्या महत्त्व हो सकता है ? ईश्वर के अप्रमेय ऐश्वर्य म व्यक्तिगत उपहार की तुच्छता स्वयसिद्ध होते हुए भी, दास-स्वरूप की योग्यता के रक्षण मे उसका अवमूलन (Undervaluing) नही किया जा सकता, क्योकि भगवान् के करुणा-स्वरूप की सगति मे उपहार का कोई मूल्य नही है । मूल्य है उपहार की अमद एव परिपूर्ण भावना का । 'पत्र

भोगादिक की आवश्यकता

पुष्प फल तोय' आदि से भगवान् कृष्ण ने स्वय 'भाव की उत्कृष्टता' का प्रतिपादन किया हे। भाव के भूखे भगवान अपने भक्त के वश मे केवल भाव के कारण रहते है, उपहार के कारण नही।

जब हम मूर्ति के सामने भोगादिक निवेदन करते है तो हमारा अभिप्राय पाषाण को भोग समर्पित करने का नही है। यदि काष्ठ-पाषाण का पूजन करते तो मूर्ति के सामने हाथ जोड कर ऐसा न कहते कि 'आप सर्वेश्वर हो, सर्वान्तर्यामी हो, करुणानिधान और सर्वज्ञ हो,' अपितु यह कहते कि 'आप अमुक पर्वत की शिला हो, अमुक वृक्ष की लकडी हो, आपको शिल्पी या बढई ने बडे श्रम से बनाया है,' इत्यादि। सचतो यह है कि अर्चावतार भगवान् के पूजन को 'मूर्ति-पूजन' कहना आज-कल की बोल-चाल है। वस्तुत तो यह मूर्ति मे ईश्वर का पूजन है। मूर्ति को अचेनन मानने पर भी उसे भगवद्विग्रह से अलग नही कर सकते, क्योकि अचेतन भी तो भगवान् ही का शरीर है और शरीर की सेवा से शरीरी को प्रसन्नता हुआ ही करती है। अर्चा-स्वरूप जडके भेद मे ही नही, अजड के प्रत्यक भेद मे परमात्मा कहा गया है। उसके पॉच स्वरूपो मे से यह एक है। उसके प्रताप से अपने 'दासत्व' का निर्वाह इस प्रकार होता रहता है कि 'भोग पहले स्वामी को लगे, पीछे दास को, सुगधित द्रव्यादि सुख-सामग्री पहले स्वामी को समर्पित हो और पीछे अवशिष्ट दास को। यह योग्यता भगवान् के अर्चा-स्वरूप मे काष्ठ-पाषाण-बुद्धि करने से बिगड जायगी। भगवान् के पॉच स्वरूपो मे से पर, व्यूह और विभव स्वरूप तो सदैव लोगो के सामने आने से रहे और अन्तर्यामी को स्वामी मानकर व्यक्तिगत सेवा करने मे लोगो का प्रेम नही है। अब रहा भगवान् का अर्चा-स्वरूा इसी 'अर्चा भगवान् जगत सेनु' मे नित्य-सोलभ्य गुण विद्यमान है। यही एक ऐसा स्वरूप है जिसकी सेवा उपासक अपनी रुचि के अनुसार कर सकता है। यदि कदाचित् इसी मे दुर्भाव होजाए तो फिर रहा ही क्या ? बडी हानि होगी। इस पुल के आश्रय से

अद्यपूर्व अनन्त जीव पार उतर गये है। उसके बिना पार उतरना बडा कठिन है। मनुष्य शरीर बडे भाग्य से मिलता है। इसको पाकर यह उचित नही है कि अभृत या असभव भ्रमो की कल्पना कर पुल के आश्रय को छोडदिया जाए।

भगवान् की मूर्ति का लगाया हुआ भोग व्यर्थ नही जाता। पूजक और अन्य लोग श्रद्धापूर्वक उसे प्रसादरूप मे पाकर करके तृप्ति-लाभ करते है। जगदीशपुरी आदि तीर्थों मे भगवद्भोग का विशाल आयोजन किया जाता है। उसे व्यर्थ ढकोसला कहना व्यर्थ है। प्रत्यक्षत वह पुण्यक्षेत्र उस भोग के प्रताप से ही बना हुआ है। भोग से व्यावहारिक पक्ष की सफलता को देख कर उसके माहात्म्य की विलक्षणता को अस्वीकार नही किया जा सकता। उसका प्रत्यक्ष फल तो यह है कि दीन-क्षुधार्ता को मूल्य-बिना या थोड मूल्य मे ही क्षुधा-निवृत्ति के लिए समुचित भोजन मिल जाता है। थोडे से पैसो मे भात की पत्तल या हडिया खरीदते हुए यात्रियो की आँखो से भी भोग के माहात्म्य की विलक्षणता नही हटती। भोग की जो मर्यादा लाखो क्या, असख्यो दीन-दुखियो की प्रचण्ड जठराग्नि के प्रशमन का साधन हो, उसको---अन्न-दान की उस मर्यादा को---व्यर्थ, निष्फल आदि विशेषणो से विमानित करना अनुचित है।

मूर्ति-प्रतिष्ठा से लौकिक लाभ

मदिर मे भगवद्दर्शन अथवा कैंकर्य के निमित्त जो लोग आते है वे पट खुलने से पहले जितनी देर वहाँ ठहरते है, बडी उत्तमोत्तम बाते करते है। वहाँ कही हुई बातो का गहनाकन उनके स्मृति-पटल पर होजाता है। वहाँ कही हुई वाणी को वे कर्म मे प्रतिष्ठित करने का भरसक प्रयत्न करते है। मदिर मे घुसने पर परिक्रमा देते है जो स्वास्थ्य के लिए हितकर सिद्ध होती है। अर्चा, दर्शन और स्तुतिकाल मे मनुष्य सासारिक उपद्रवो से मुक्त रहता है। जल, धूप, चदन, अगरबत्ती, पुष्प आदिक से रहने वाली शुद्धता का भी उपासक लोग लाभ उठालेते है।

भगवत्परिचर्या मे उपासक लोग (किकर लोग) जो कुछ करते है वह कैकर्य-भाव से करते है, अपने लिए नही करते। यह सत्य है कि ससार म कर्म-जाल सब से विकट है। इसके भेद की ग्रन्थि सहज ही मे खुल कर, जिन उत्सव-चरित्रो द्वारा दास-लोगो के चित्तो पर कर्म-समर्पण का भाव ठीक-ठीक जमा रहे, वे चरित्र अत्यन्त प्रशसनीय और अनुकरणीय है। भगवदविष्ठानपूर्वक ऐसे उत्सवादि न करने से ये भाव कैसे जम सकते है ? कहना न होगा कि उत्तमोत्तम भावो के अर्जन मे अर्चा-स्वरूप ही सहायक है। न तो हम सब उपासक ही जड है और न उपास्य परमात्मा ही जड है। वह अन्त करण के प्रेम के अनुरूप सदैव फल देता रहता है। यह जानते हुए यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि भगवान् के अर्चा-स्वरूप के द्वारा वैकुण्ठनाथ की प्राप्ति अनेक प्रकार से होती है। इस विषय मे शास्त्र सहायक है। वेद वाक्य है—"हरि ओ३म् मुमुक्षुर्वै प्रतिमाया दारुमय्या प्रस्तरमय्या धातुमय्या पूर्णी देवतामावाहयेदर्चयेन्निवेदयेत्तन्निवेदितमन्न भुञ्जीयात् तस्यैतद्वृत्त सोऽश्नुते सर्वान् भोगन् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसे न सवर्गेणलोकेन ।" अर्चा-स्वरूप के बिना पाद-सेवन और अर्चन (जो भक्ति के अग है) का निर्वाह सभव नही है। अर्चा-स्वरूप के सेवन से साकार पर-स्वरूप का सामीप्य होता है, ऐसा कहा गया है। इसमे उपासना नाम की सगति है। 'उप' का अर्थ समीप और 'आसना' का अर्थ बैठना है। यह समीप बैठना साकार स्वरूप के विना सभव नही है। वह साकार स्वरूप साधन अवस्था मे 'अर्चा' है और साध्य अवस्था मे श्रीवैकुण्ठनाथ है । अर्चा-स्वरूप के समर्थन मे भीष्म जी का यह निर्णय है—"मेरी राय मे सब धर्मो मे अधिकतम धर्म यह है कि मनुष्य सदा अनेक स्तवो से भक्ति-पूर्वक श्री पुण्डरीकाक्ष का अर्चन करे।"* भीष्म जी के इस वाक्य

भगवान् की सवारी निकालने और उत्सव आदि मनाने से लाभ

---

*एष मे सर्वधर्माणा धर्मोऽधिकतमो मत ।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्ष स्तवैरर्चेन्नर सदा ।।

मे 'पुण्डरीकाक्ष' और 'नर' शब्द आया है। 'परमधाम, नित्य, अक्षर और अव्यय को पुण्डरीक कहते है।"† वहाँ पहुँचे हुए जीवो को जिस साकार दिव्य मगल विग्रह के दर्शन होते है, उसको पुण्डरीकाक्ष कहते है। 'नर' शब्द सामान्य मनुष्य का बोधक है। सामान्य मनुष्य सदा वैकुण्ठनाथ का अर्चन लोग कर सकते है। व तो माया-मण्डल मे स्थित है। इससे यह अभिप्राय है कि पर-स्वरूप और अर्चा-स्वरूप का सदैव इतना अभेद समझे रहना चाहिए कि अर्चा-स्वरूप की सेवा करने से अवश्य ही वैकुण्ठनाथ मिलेगे। ये दोनो ही स्वरूप साकार है। एक साधनावस्था म प्राप्य है, और दूसरा साध्यावस्था मे।

रूप-माधुरी और उसका उचित उपयोग

एक उत्सव मे भाँड अपनी लीला दिखा रहे थे। उनमे से एक ने गाया—'इलाही तूने हसीनो का क्यो किया पैदा, कि उनकी जान मे दुनिया म इन्तजाम नही।' अर्थ स्पष्ट है कि 'रूप-सौन्दर्य के क्षेत्र म प्रबन्ध (नियत्रण) दुःसाध्य है। सुख की उन्मत्त दशा आ जाती है।' फिर क्या नही भगवान् की मनोहर मूर्तियो द्वारा माधुर्य-भाव की उपासना को स्थिर रक्खा जाए? रूप-सौन्दर्य मे ऐसी शक्ति है कि आँखे टकटकी लगाए रह जाया करती है, निरखते-निरखते अघाती नही। जिनकी आँखो मे रूप-माधुरी समा जाती है उनको लोग 'हुस्नपरस्त' या 'माधुर्योपासक' कहा करते है। माधुर्य-भाव 'मधुर' के प्रति होता है। 'मधुर' विशेषण है जो विशेष्य की अपेक्षा रखता है। विशेष्य के विशेषण का लाभ उठाना ही बुद्धिमत्ता है। निर्झरिणी की प्रपात-शक्ति का सदुपयोग ही कल्याणकारी होता है। उसका दुरुपयोग भी हो सकता है, किन्तु वह विनाशक होगा। अनुकूल रेलगाडी मे बैठ कर यात्री अभिगम्य स्थल पर पहुँच कर रहेगा, किन्तु प्रतिकूल रेलगाडी उसे

---

† पुण्डरीक पर धाम नित्यमक्षरमव्ययम्।
तद्भक्तानामभिभूत पुण्डरीकाक्ष ईरित ॥

उस स्थल से निरन्तर दूर ही लेती चली जायगी। यदि रेलगाडी का सदुपयोग करना है तो उसके आनुकूल्य से काम लेना होगा। आनुकूल्य यथार्थ का साधक है और प्रातिकूल्य बाधक। माधुर्योपासको की साधना मानुषी रूप पर टूट पडने का अभ्यास कराती है। यही उनकी साधना का प्रातिकूल्य एव दुरुपयोग है अयथार्थ की सिद्धि है। उसे श्रीकृष्ण के मधुर रूप पर लगा कर देखो। कितना शीघ्र बेडा पार होता है!

श्रीकृष्ण नाम की विशेषता

यो तो नारायण, पुण्डरीकाक्ष, चक्रपाणि के अनन्त रूप है, परतु उनमे सौन्दर्य-सीमा (विभव-कोटि मे) श्रीराम और श्रीकृष्ण, ये दो ही है। इनमे भी अमर्याद प्रेम-पाश से आकर्षण करने की शक्ति श्रीकृष्ण-रूप मे ही विशेषता से पाई जाती है उन श्रीकृष्ण के रूप मे जिनको त्रिभगीलाल, नटनागर, वनमाली, बॉकेबिहारी, मदनगोपाल, रसिकविहारी और वशीधर आदि छबीले (शोभन) नामो से बोलते है और जो गोविन्द, गोपीनाथ, घनश्याम, दामोदर, नवनीतलाल, नन्दनन्दन, पार्थ-सारथी, यशोदानन्दन, राधावल्लभ और वेणुगोपाल आदि नामो से प्रसिद्ध है, जिनमे परकीयाभाव तक की उपासना भी चलती है तथा जिनमे उपासक लोग अद्भुत-अद्भुत भाव अर्पण करते है। कोई कहता है, "हे जगदीश! मै आपको भेट देना चाहता हूँ, परन्तु जिस वस्तु का आपके पास अभाव हो वह देना अच्छा है, किन्तु अभाव तो आपके पास किसी वस्तु का दीखता नही है, हॉ, एक मन का अभाव अवश्य हो सकता है क्योकि उसको तो राधा ने चुरा रक्खा है, इसलिए, हे यदुनन्दन! मै वही मन आपकी भेट करता हूँ, उसे स्वीकार कीजिए"। कोई कहता है—"हे दीनदयालु! मै तो टेढी बातें ही करूँगा और कुटिलता नही छोडूँगा, क्योकि आप टेढी टॉगवाले, तीखे नेत्रवाले, और मोर-मुकुटवाले त्रिभगीलाल है। सीधे हृदय मे आप कैसे निवास करोगे? दुख पाओगे।" कोई कहता है—"हे नन्दलाल! चोर

अपने छिपाने को अँधेरा खोजा करता है, आपने दूध, दही, मक्खन आदि की चोरी कर के चोर-पदवी धारण की है और जैसा घोर अन्धकार मेरे मन मे छा रहा है वैसा अन्यत्र न मिलेगा। फिर इसमे आकर क्यो नही छिप जाते हो ?" कोई कहता है—"आप गोपाल हो ! आपके पास बहुत दूध मिलेगा, यह सोच कर मै आपकी शरण मे आया हूँ, किन्तु यहाँ तो कुछ उलटी बात ही दीख पडती है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि माँ का दूध भी आगे न मिल सकेगा।" ऐसे ही अनेक भावो को भक्त कृष्ण को अर्पित करते है जिनमे सब प्रकार के प्रेम-भाव समा जाते है। कालिन्दी-कलकन्दुक-क्रीडा-रत, कदम्ब-केलिकर, कालीय-कन्दन, कस-निकन्दन, क्लेश-निवारक, कुसुम-सुकुमार-हास, कृपालु कृष्ण से विशेष लीला रूपवान् कोई कलेवर नही है। उनके लावण्य से असख्य कामदेव लज्जित होते है। वे अभिनव-जलधर-सुन्दर है। रूप-सौन्दर्य की अत्यन्त वेग-वती सभी नदियाँ कृष्ण-रूप-माधुरी के सागर मे विलीन होती है। उनकी छवि-माधुरी को निहारते-निहारते मन कभी तृप्त नही होता। उनकी लीला (कृति-गति) मे एक अद्भुत मोहन-मत्र है।† राधा ने उसी मोहनी मूर्ति पर सर्वस्व अर्पण कर दिया था। इसी से उनको अपूर्व पद मिला है। इस तथ्य को भारतेन्दुजी ने इस प्रकार गाया है—

"जय वृषभानु-नन्दिनी राधा,
शिव ब्रह्मादि जासु पद-पकज
हरि-वशहेतु अराधा"

राधा की प्रतिष्ठा कृष्ण की शक्ति के रूप मे हो चुकी है। राधा की चरण-रज की सरसता, सुखदता, लोकपावनता और वश-कारकता की प्रशसा करते हुए अलवर के जयदेव कवि कहते है—

---

† किसी शायर ने क्या ही अच्छा कहा है—

क्यो इस अदा से आये कि प्यार आ गया मुझे ?
यह आपका क़सूर है, मेरी ख़ता नहीं।

"ब्रह्मरुद्र भीषम वसिष्ठ शुक नारदादि साधत अखड भक्ति सुख सरसावनी।
तेऊ जाहि सहसा निहारि न सकत क्योहूँ जोगिन दुराय ज्योति जाकी जगपावनी।।
कवि जयदेव भनै ताही परब्रह्म काज सद्य वशकारक है भुरकी सुहावनी।
धारि रही ऐसी अति अदभुत अनन्त शक्ति राधे पद-पकज की रज मनभावनी।"

कृष्ण की रूप-माधुरी से मत्रमुग्ध स्नेह-नगर म सरे आम लुटती हुई गोपियाँ चौथ के चन्दा से कहती है—"तुम्हारे दर्शन करनेवाले को कलक अवश्य लगता है। तुम्हारी यह कीर्ति सुन कर ही हमने तुम्हारे दर्शन किये है। हमे श्रीकृष्ण का कलक अवश्य लगना चाहिए। कृष्ण-प्रेम के मद मे उन्मत्त गोपियाँ कहती है—"चाहे सब बान्धव परित्याग कर दे, अथवा गुरु-जन निन्दा करे, तो भी मेरे जीवन तो परमानन्द गोविन्द ही रहेगे।"‡

अन्यत्र गोपी कहती है कि—"मेरा मन कृष्ण के चरणारविद से एक क्षण भर के लिए भी निवर्तित नही होता है, प्रेमवर-अनुराग मुझे ऐसा मत्तायमान कर दे कि मुझे चिन्ता न हो। चाहे प्रिय बान्धव निदा करे, गुरुजन ग्रहण करे या परित्याग करे, लोग दुर्वाद परिघोपित करे और चाहे वश को कलक लगे।"¶

कृष्ण ने इसी प्रेम का परिचय प्राप्त कर के गोपियो के साथ कैसी-कैसी लीलाएँ की है, यह भागवत् के पाठको से छिपा नही है।

इस सब कहने का आशय यह नही है कि राम की रूप-माधुरी और मोहन-शक्ति कृष्ण से कुछ कम है। अपने-अपने ढग से दोनो ही अद्वितीय है। रघुनन्दन कर्तव्यपरायणता और धर्ममर्यादा की प्रतिमूर्ति है। उनसे बढ कर सदाचार का आदर्श और किसी को

‡ "त्यजन्तु बान्धवा सर्वे निन्दन्तु गुरवो जना।
तथापि परमानन्दो गोविन्दो मम जीवनम्।"

¶ चित्त नैव निवर्तते क्षणमपि श्रीकृष्णपादाम्बुजात्।
निन्दन्तु प्रियबान्धवा गुरुजना ग्रण्हन्तु मुञ्चन्तु वा।
दुर्वाद परिघोषयन्तु मनुजा वशे कलकोऽस्तु वा।
तादृक् प्रेमधरानुरागमधुना मत्तायमानन्तु मे।।

नही कहा जा सकता । श्रीकृष्ण भी स्वय प्रेमस्वरूप है और प्रेम-पाश डालने मे अद्वितीय है । राम दाना है, कृष्ण मस्ताना है जिन्होने किसी को अपनी छवि माधुरी मे फँसा लिया, किसी को वशी से मोह लिया, किसी पर अपने सरस चरित्रो का जादू कर दिया और किसी को ऐसा उन्मत्त बना दिया कि उसने अपनी सुध-बुध भूल कर पैरो के वस्त्राभूषण शिर मे और शिर के पैरो मे पहन लिये । लोक-लज्जा हवा हो गई । ऐसे इन्द्र-जाल के आकर मे मर्यादा की खोज करना व्यर्थ एव मूर्ख प्रयास है ।

जगत् मे दो भाव प्रधान रूप से विलम्बित है—प्रेम और घृणा । प्रेम दो व्यक्तियो के बीच की दूरी को मिटा कर समीप कर देता है और घृणा सान्निध्य को मिटा कर दो व्यक्तियो को दूर कर देती है । कृष्ण प्रेम-स्वरूप होने से आकर्षण करते है । जीवो का भगवद्दासत्व सिद्ध है, परन्तु वे प्राय प्रेम के आचरण से तथा वैकुण्ठ-नाथ की प्राप्ति से दूर रहते है । उनको कृष्ण अपनी रूप-माधुरी, वशी-ध्वनि, अथा रसिक-चरित्रो से प्रेम-मुग्ध कर के अपनी ओर खीच लेते है । ध्यान देने की बात है कि भगवान् का सौशील्य गुण भी (जो उनके चार गुणो मे से एक है) विशेषत नन्द-नन्दन ही के चरित्र मे चरितार्थ होता है । बडे का छोटो के साथ अभेद-भाव से मिलना ही तो सौशील्य है ।† इस सौशील्य को कृष्ण के प्रेममय चरित्र मे इस प्रकार देख सकते है कि इधर तो "कृष्ण स्वय भगवान् है"‡ और उधर नन्द गोपमात्र है । यह उनका सौशील्य है कि वे नन्द गोप के आत्मज होकर अवतीर्ण होते है ।¶ उनसे अभेद भाव से मिलते है कि कोई अन्तर नही रखते । यही बडे का छोटे से निरन्तर होकर मिलना है । यही उनका सौशील्य है ।

† 'महतो मन्दैस्सह नीरन्ध्रेण सश्लेष सौशील्यम् ।"

‡ "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।"

¶ "नन्दगोपप्रियात्मज "

किन्तु राम के स्वरूप मे यह रहस्य-भाव अगीकृत नही हो सकता, क्योकि उनका स्वरूप मर्यादा का है। इस भाव का उस स्वरूप मे अगीकृत होना स्वरूप-विरुद्ध है। राम शील-निधान है और कृष्ण प्रेम-निधान। भक्त कृष्ण की मधुर छवि मे, उनकी लीलाओ मे प्रेम की कोई कक्षा न्यून नही देखते। उनके विचार मे दाम्पत्य (पति-पत्नी) प्रेम भी प्राय इतना उन्मादक नही है। वे ऐसी नायिका का भाव भी ग्रहण करते है जो अपने इष्ट (प्रिय) के साथ प्रेम करती है, जिसे अपने माँ, बाप और पति के विरोध की चिन्ता नही है, एव जिसने 'कुल-कान' और लोक-बन्धन को तोड डाला है। प्रेम का स्वभाव है कि इसके नि सकोच सचार मे जितनी बाधाएँ समुत्पन्न हो उतना ही तीव्र होता है। इसके अतिरेक का परिचय यह है कि इसके मार्ग मे जितने कष्ट आते है वे सब सुख-पूर्वक सह लिए जाते है। जितनी बाधाएँ इसके प्रवाह-पथ मे उप-स्थित होती है वे सब इसके वेग से टूट जाती है। बाधाओ को तोड कर जो प्रेम अपना मार्ग निर्मित करता है उससे उसकी शक्ति बढती है। लोक-लज्जा, गुरुजन-उपालभ, तथा लोक-निन्दा का भय आदि बाधाएँ है। इनको वही तोड सकता है जिसका मन केवल अपने प्रिय मे लीन हो, जिसकी अनन्य 'लगन' हो ऐसी कि उसके आगे अन्य सब भाव तुच्छ हो जाएँ।

पति-पत्नी का पारस्परिक प्रेम तो स्निग्ध है, किन्तु उसमे प्रणय-कोप के लिए अवकाश प्राय नही होता। रसिक लोग इसकी विलक्षणता का अनुभव परकीया-भाव मे करते है। गहनता के साथ-साथ परकीया-भाव के नुकीले प्रेम मे प्रणय-कोप का भी एक विशेष सुख होता है। प्रिय के दूर रहने पर विविध विचारो का घटाटोप, मिलने के लिए एक विचित्र व्याकुलता, प्रिय की माधुरी-मूर्ति का चिन्तन, प्रिय के रूठ जाने पर अपने व्यवहार पर मधुर पश्चात्ताप, सकेत स्थान के भयमय पथ पर निर्भय गमन, ठीक समय या उससे पूर्व ही सकेत-स्थान पर जा पहुँचना, अनुराग भरे लोचनो

से पथ को झाँकते हुए प्रिय की प्रतीक्षा, मिलन-वेला के अति समीप आने पर चित्त की आकुलता की वृद्धि तथा वियोग-वेला के निकट आने पर उर-पीडा का अतिरेक, अभिसरण (छिप-छिप कर जाना) मे सतर्कता, प्रणय-कलह मे मधुराक्षेप तथा कटाक्ष-शर-सधान, वचनो के कटु होते हुए भी अन्तर की मधुर स्थिति, कभी-कभी दासत्व-स्वीकृति, अनुनय-विनय आदि अनेक शृगारिक सुखद अनुभव इस कक्षा के रसिक उपासको को ही होते है। गीत-गोविद के रचयिता जयदेव और पदावली के रचयिता विद्यापति को अनेक आलोचक इसी कक्षा के भक्तो मे मानते है। प्रेम की जो छटा राधा-कृष्ण के प्रेम मे मिलती है, वह कृष्ण-रुक्मिणी के प्रेम मे उपलब्ध नही है। एक स्थान पर परकीया-भाव है, दूसरे पर स्वकीया-भाव—एक मे मधुरता, तरलता और आकर्षण है और दूसरे मे उच्चता, मर्यादा और आदर्श। परकीया-भाव के उपासको को उतना आनन्द सयोग मे नही प्रतीत होता है जितना वियोग मे। सयोग की वियोगोन्मुखी परिस्थितियाँ ही ऐसे भक्तो को रुचिकर प्रतीत होती है।§ इसलिए प्रणय-कलह, मान आदि की माधुर्य भाव मे प्रतिष्ठा है।

जो प्रेम और मर्यादा का सम्बन्ध है वही कृष्ण और राम का भी कहा जा सकता है। कृष्ण के उद्‌भव के विषय मे किसी कवि की ये दो पक्तियाँ कितनी साभिप्राय है—

> प्रेम जहाँ मरजाद नही अरु यह मरजादा सागर ।
> तिहि रस कारण नन्द-भवन तब प्रकट भये नटनागर ॥

एक और दोहा लोक मे बहुत प्रसिद्ध हो चुका है जो कृष्ण और राम के स्वभाव एव चरित्र का सजीव चित्रण करता है वह यह है—

§ एक उर्दू के कवि का कहना है—

> "यो हमको प्यार करने से मिलता मजा नहीं;
> जब तक बिगड बिगड के कोई कोसता नही।"

सीतापति की कोठरी, चन्दन जड़ी किवाड़ ।
ताली लागी प्रेम की, खोलें कृष्ण मुरार ॥

ठीक भी है यदि भगवान् रघुनन्दन प्रेम की ताली न लगाएँ और किवाड खोल दे---मर्यादा छोड दे, तो यह कार्य उनके स्वरूपानुरूप न होगा, किन्तु इन किवाडो को मर्यादा से ऊपर विलास करनेवाले यदुनन्दन खोलते है क्योकि वे किसी नियम मे आबद्ध नही है। अन्यथा करदेने की शक्ति भी तो अलौकिक ही होती है। प्रेम को प्रेरित करनेवाली वही शक्ति कितनी दिव्य होती है, देखिये---

"उपजा प्रेम जो हिरदै माही, नेम अचार रहा कछु नाही ।"

लोक मे गुण रहने से गुणी की उत्तमता सिद्ध होती है, जैसे, सुगध गुण रहन से पुष्प की अथवा कान्ति-गुण रहने से रत्न की। इस प्रकार गुण ही प्रधान रहा, गुणी प्रधान नही रहा, किन्तु इस तथ्य की सिद्धि भगवान् मे विपरीत होती है। वह गुणी-प्रधान है। सत्य, ज्ञानादि गुण उसके आश्रय से शुभ हुए है। उनके गुणी-प्रधान होने से उनमे प्रक्षिप्त कोई भी दोष गुण होकर निकलता है। उनके स्वरूप ही की यह महिमा है कि उसमे पडते ही दोष भी गुण हो जाता है। इसी दृष्टि से किसी महात्मा ने श्री काञ्चीवरदराज के प्रति कहा है---

"लोक मे गुणी है। उनमे गुण का होना मगल पद है। परन्तु हे हस्तिगिरिपते! यह बात आप मे तो फिर उलटी है। सत्य, ज्ञानादि गुण आप मे आश्रय पाकर शुभ हो गये है। यह हम लोगो ने वेद-मर्यादा से निर्णय किया है।"¶

इस मर्यादा से प्रथम तो दोष कृष्ण मे ठहरने की क्षमता ही नही रखते, उनमे पडते ही वे गुण हो जाते है, फिर कृष्ण को दोषी

¶ "गुणायत्त लोके गुणीषु हि मत मगलपदम् ।
विपर्यस्त हस्तिक्षितिधरपते तत्त्वयिपुन ॥
गुणास्सत्यज्ञानप्रभृतय उत त्वद्गततया ।
शुभीभूय याता इति निरणयिष्म श्रुतिवशात् ।"

प्रत्यक्षत सौन्दर्योपासक थे। वे लौकिक स्वरूप पर मुग्ध होकर श्यामसुन्दर के दर्शन पागये। भक्तमाल अथवा हरिभक्त प्रकाशिका में इन भक्तो की कथा सविस्तर मिलती है। ये भाव अति सराहनीय है और अर्चास्वरूप की छवि-माधुरी तथा सेवा द्वारा भक्त लोगो को प्राय मिलते रहे है।

भगवान् गुणाकार है। उनके गुणो के वर्णन करने की शक्ति किसी मे नही है। फिर भी भक्तो को उनका गुण-वर्णन सदैव प्रिय रहा है। यामुनाचार्य स्वामी भगवान् के कुछ गुणो की ओर सकेत करते हुए कहते है—

भगवान् के कुछ गुणो का वर्णन

वशी वदान्यो गुणवानृजु शुचि
मृदुर्दयालुर्मधुर स्थिर सम।
कृती कृतज्ञस्त्वमसि स्वभावत
समस्तकल्याणगुणामृतोदधि॥

(१) **वशी**—यह शब्द 'प्रभुता' और 'अधीनता' दोनो भावो का द्योतक है।

"सर्वस्यवशी सर्वस्येशान"
जगद्वशे वर्ततेद कृष्णस्य सचराचरम्।

उक्त वाक्यो से 'वशी' का गौरव प्रकट होजाता है। 'वशी अधीन' पद से भी यह स्पष्ट है कि भगवान् अपने आश्रितो के अधीन है। विश्वामित्रजी के प्रति श्रीराम के वचनो से यही भाव इस प्रकार स्रवित होता है—

"इमौ स्म मुनिशार्दूल किकरौ समुपस्थितौ।
आज्ञापय यथेच्छ वै शासन करवाव किम्॥

अर्थ—हे मुनिशार्दूल हम दोनो किकर आपके सामने है। आप इच्छापूर्वक आज्ञा दीजिये। हम आपके किस आदेश का पालन करे?

इससे सिद्ध है कि जिन भगवान् के सब वश मे है वही अपने आश्रितो के वश मे है । इसी से उनके लिए 'वशी' शब्द सार्थक है ।

(२) **वदान्य** –इसका अर्थ है उदार । भगवान् की उदारता प्रसिद्ध है । कहा भी है–

"नित्योऽनित्याना चेतनश्चेतनाना ।
एको बहूना यो विदधाति कामान् ।।

जो अकेले ही बहुतो की कामना पूर्ण करते है नि सन्देह वे उदार है ।

(३) **गुणवान्**–गुण्यते, अभ्यस्यते इति गुण (सदा अनुसधान करने योग्य)

यहाँ सौशील्य गुण विशेषता से लिया गया है । गुणवान् का अर्थ यहाँ सौशील्यवान् है । पहले ही कहा जा चुका है कि भेदभाव को मिटा कर बडे-छोटो से मिलना ही सौशील्य गुण है । भगवान् का बडप्पन सिद्ध है । उनका गुह, शवरी गोपालादि के साथ मिलना इसी गुण का परिचायक है ।

(४) **ऋजु** —इस शब्द का प्रयोग अकुटिल के अर्थ मे होता है । भगवान् सरल है, कुटिल नही है । इस सम्बन्ध मे भगवान् राम के वाक्य स्वय प्रमाण है । उनका कहना है–"हे सीते, मै अपने जीवन को छोड दूँ, और चाहे तुमको भी लक्ष्मण सहित छोड दूँ, किन्तु अपनी प्रतिज्ञा को, (विशेषत ब्राह्मणो के प्रति करके) न छोडूँ ।' † इस सम्बन्ध मे द्रोपदी के प्रति कृष्ण के ये वाक्य भी स्मरणीय है–"हे द्रौपदि ! स्वर्ग गिर पडे, पृथ्वी शीर्ण होजाए, हिमालय के टुकडे होजाएँ, और चाहे समुद्र सूख जाए, परन्तु मेरा वचन अन्यथा न हो ।"‡ ऋजु का अर्थ आश्रितछदानुवर्ती भी होता है ।

---

† "अप्यह जीवित जह्या त्वा वा सीते सलक्ष्मणाम् ।
नहि प्रतिज्ञा सश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषत ।।

‡ "द्यौ पतेत पृथिवी शीर्येत् हिमवान् शकली भवेत् ।
शुष्येत्तोयनिधि कृष्णे न मे मोघ वचो भवेत् ।।"

(५) **शुचि** —अपहृत पाप्मा–उपकार के समय प्रत्युपकार की आकाक्षा न रखने वाला अथवा द्रव्य-तारतम्य बिना भक्तिमात्र से प्रसन्न होने वाले । भगवान् ने स्वय स्वीकार किया है–"भक्तो द्वारा प्रेम से लाया हुआ अणु भी मुझ को बहुत होता है और अभक्त के लाए हुए बहुत से भी मेरी प्रसन्नता नही होती ।"¶ अथवा शुचि का अर्थ है 'पावन । 'पावन' दूसरो को पवित्र करने वाले को कहते है । महापुरुषो के ये वाक्य प्रमाण है–

"पावनस्सर्वभूताना त्वमेव रघुनन्दन" वा
"अपवित्र पवित्रो वा सर्वावस्था गतोऽपि वा ।
य स्मरेत्पुण्डरीकाक्ष सबाह्याभ्यन्तर शुचि ।"

(६) **मृदु** —इस शब्द का सामान्य अर्थ है 'कोमल' । भगवान् भी कोमल है क्योकि वे अपराधी और सजातभय लोगो को सहसा आश्रयण प्रदान करने वाले है । भगवान् को कोमलता के सम्बन्ध मे अनेक उदाहरण दिये जा सकते है । ये शब्द प्रमाण है–

"विदित सहि धर्मज्ञ शरणागतवत्सल ।
तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि ।।"

मृदु उसे भी कहते है जो आश्रित के विश्लेष को सहन न कर सके ।"† भगवान् भी अपने आश्रित के विश्लेष (वियोग) को सहन नही कर सकते, अतएव उन्हे 'मृदु' कहना उचित ही है । प्रमाण के लिए अन्यत्र कहे हुए इस श्लोक को देखिये –

"सकृत्त्वदाकार विलोकनाशया तृणीकृतानुत्तमभुक्तिमुक्तिभि ।
महात्मभिर्मामवलोक्यता नय क्षणेऽपि ते यद्विरहोऽतिदु सह ।।

¶ भक्तेरण्वप्युपानीत प्रेम्णा भूयेव मे भवेत् ।
बह्वप्यभक्तोपहृत न मे तोषाय कल्पते ।।

† आश्रित विश्लेषासहिष्णु मृदु ।

(७) दयालु --(स्वार्थनिरपेक्ष होकर परदु ख से दु खी होना ही दया है ।) †बिना स्वार्थ बुद्धि के अर्थात् परदु ख से दु खी होना दया है । जिन से स्वार्थ है उनका दु ख देखकर दु खी होना दया नही है । स्वार्थ सापेक्षता की दशा मे दया का भाव दब जाता है, इसलिए निरपेक्ष भाव दया का साथी है । 'पर' शब्द से मित्र-शत्रु से व्यतिरिक्त केवल 'उदासीन' भाव का सकेत मिलता है क्योकि शत्रु-विषय मे दया होने से पुरुप अममर्थ कहलाता है । पुत्रादि के दु ख से दु खी होने मे पुत्रत्वादि-सम्बन्ध-भावना ही मुख्य ठहरती है । इसी भाव से प्रेरित होकर मनुष्य उनकी रक्षा करता है, दयाद्रवित होकर नही ।

'परदु खदु खित्व दया'

यह कहने से शका उठाई जासकती है कि जो परमात्मा नित्यानन्द स्वरूप है उसको दु ख कैसा ? उसको दु खी कहने से निर्विकार श्रुति का बाध होता है, अतएव शका वालो के मत से--

'परदु खापाचिकीर्षा' अर्थात् 'परदुख अपाकर्तुं दूरीकर्तुमिच्छा

परदु ख को निवारण करने की इच्छा ही दया है । यह ठीक नही है क्योकि लोक मे दूसरे के दु ख का निवारण करना असाध्य दीखने पर उसके मिटाने की इच्छा नही भी होती है, फिर भी अनेको को पर-दु ख से दु खी होते हुए देखा जाता है । उनको दयावान् कहा जाता है । इस व्यवहार मे हानि होगी । चेतन का दु ख देखकर परमात्मा को दु ख होना, रक्षा के हेतु होने से गुण है, दोष नही है । कर्म से दु ख का होना दोप है । वाल्मीकि रामायण का यह वाक्य इसका प्रमाण है--"वे मनुष्यो के व्यसनो (दु खो) मे बहुत दु खी हो जाते है और सब उत्सवो मे पिता की तरह बहुत प्रसन्न हो जाते है"¶ यदि अपने लोगो के दु ख देख कर परमात्मा को दु ख

---

† 'स्वार्थ निरपेक्ष परदु खदुखित्व दया'

¶ व्यसनेषु मनुष्याणा भृश भवति दु खित ।
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति ।"

न हो तो ऐसे कठिनप्रकृति स्वामी की शरण लेने से क्या फल होगा ? इसलिए 'स्वार्थनिरपेक्षपरदु खदु खित्व,' यह दया का लक्षण बहुत ठीक है। निर्विकार श्रुति का यही अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए कि परदु ख को देख कर परमात्मा को दु ख होना कर्म-प्रयुक्त-विकार नही हैं।

इसी सम्बन्ध मे कुछ लोग यहाँ प्रश्न कर देते है कि अपनी पत्नी सीता का अपहरण हो जाने पर क्या राम को उनके प्रति दया नही आई ? यदि दयाभाव उत्पन्न हुआ तो वहाँ 'पत्नीत्व' सम्बन्ध था, उदासीनता कहाँ थी ? ऐसा प्रश्न करने वालो को यह समझ लेना चाहिए कि 'जानकी जी के प्रति पत्नीसम्बन्ध से राम को दया नही आई, शोक हुआ। एक ही व्यक्ति के प्रति अनेक व्यवहार रहने से एक-एक व्यवहार के साथ एक-एक भाव हो सकता है। 'स्त्री जाति का अत्यन्त पराभव हुआ, यह असह्य है'--इस व्यवहार-भेद से उन्ही जानकी के प्रति राम की दया हो सकती है, परन्तु वह पत्नीव्यवहार से नही कही जायगी। ऐसे स्थल मे एक ही व्यक्ति के प्रति व्यवहार का विभाग होता है। इसी प्रकार पुत्र के विषय मे पुत्रत्व बिना, उदासीन व्यवहार से, दया हो सकती है। रामायण मे सीता के सम्बन्ध मे यह व्यवहार-विभाग स्पष्ट कर दिया गया है। "स्त्रीजाति मे से कोई प्रणष्ट हुई, यह भाव करुणा का है, 'प्रिया थी' यह भाव मदन-सम्बन्ध से होता है, 'पत्नी जाती रही' यह शोक है और 'वह एक आश्रिता थी' इस सम्बन्ध मे अहिंसकत्व-भाव है"†

(८) **मधुर**—'आनन्दरूपतावान्' मधुर। इसका प्रमाण यह है-

रसो वै स आनन्दो ब्रह्म-प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमह सच मम प्रिय।

ऐसे प्रमाणो से प्रतिपादित आनन्दरूपतावान् मधुर-शब्दार्थ है। कायिक-वाचिक मधुरता भी मधुर-शब्दार्थ मे आ जायगी। भगवान मे कायिक मधुरता का प्रमाण यह है--

---

† **स्त्री प्रणष्टेति कारुण्यात् प्रियेति मदनेन च।**
पत्नी नष्टेति शोकेन आश्रितेत्यनृशसत ।। (वाल्मीकि रामायण)

"सोमवत्प्रियदर्शन"

अथवा

"रूपौदार्यगुणै पुसा दृष्टिचित्तापहारिण"

और वाचिक मधुरता का प्रमाण यह है—

"प्रियवादी च भूताना सत्यवादी च राघव"।

(९) **स्थिर**—आश्रित की रक्षा मे बिना क्षोभ के स्थैर्यवाले व्यक्ति को 'स्थिर' कहा जाता है। ‡ राम की स्थिरता प्रख्यात है। अति विकट वातावरण होने पर भी विभीषण के शरण मे आने पर राम ने उन्हे बिना क्षोभ के ही आश्रय और रक्षण प्रदान किया। किसी को अपनाकर दुत्कारना अस्थिर व्यक्ति का काम है। स्थिर तो मित्ररूप से ग्रहण किये हुए को छोड़ना धर्म नही मानता। ¶ आश्रित-रक्षण के सम्बन्ध मे ऐसी स्थिरता ही स्थिर शब्द की सार्थकता है।

(१०) **सम**—जातिगुणवृत्तादि बिना सर्व-शरण्य होना ही समत्व है। गीता मे भगवान् कृष्ण ने स्वय कहा है—

समोऽह सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय"।

(११) **कृती**—कर्तव्यरहित कृती। गीता मे स्वय कृष्ण का वाक्य है—

"न मे पार्थास्ति कर्तव्यम्'

अथवा 'कृती' कृतकृत्य को भी कहते है। "लका मे राक्षस-राज विभीषण का राज्याभिषेक करके कृतकृत्य राम निश्चित होकर प्रमुदित हुए"।† यदि भगवत्रूप कृती न हो तो राम

---

‡ 'आश्रितरक्षणे स्थैर्यं अक्षोभ्यत तद्वान्'।

¶ मित्रभावेन सम्प्राप्त न त्यजेय कथचन।

† "अभिषिच्य च लकाया राक्षसेन्द्र विभीषण।
कृतकृत्यस्तदा रामो विज्वर प्रमुमोद ह॥"

रावण के हाथो मे लका के होते हुए भी विभीषण को लकेश न कह देते। भगवान् सत्यसकल्प है, इसीलिए विभीषण का अभिषेक कर देने पर वाक्दान की सिद्धि हो जाने से वाल्मीकिजी ने कहा कि 'राम कृतकृत्य हो गये।' 'भगवान् जो चाहे वही हो जाए', इस कार्यकुशलता और सामर्थ्य को लेकर यह कृती शब्द है।

(१२) **कृतज्ञ** —(उपकारज्ञ)। इस शब्द का प्रयोग उपकार मानने वाले के लिए आता है। किसी के किए हुए उपकार को सामान्यता से नही, विशेषता से मानना कृतज्ञ का गुण है। भगवान् उपकार को अच्छी तरह मानते है और कदाचित् एक ही उपकार से प्रसन्न भी हो जाते है। इस सम्बन्ध मे ये वाक्य प्रमाण है—

"न स्मरति अपकाराणा शतमपि आत्मवत्तया।
कथचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति ॥"

और इसीसे धौम्य ने कहा है—

"अपां समीपे शयनासनस्थितौ
दिवा च रात्रौ च यथाधिगच्छता।
यद्यस्ति किंचित्सुकृत कृत मया
जनार्दनस्तेन कृतेन तुष्यतु।"

भगवान् के अनन्त गुण युक्त अनन्त नामो मे से इन बारह नामो के वर्णन से यह सिद्ध हो जाता है कि राम, कृष्ण, नारायण भगवान् आदिक भगवन्नामो को छोड कर विश्व मे इतर कोई नाम जपने योग्य नही है क्योकि वे ही सब से बडे है और 'परत्व' उन्ही को प्राप्त है। ब्रह्मा से लेकर घास तक जितने प्राणी जगत् मे व्यवस्थित है वे सब कर्मजनित जन्म-मरण के वशवर्ती है। इसकारण यदि ध्यानी लोग उनका ध्यान करे तो वे उपकारक सिद्ध नही हो सकते क्योकि वे सब अविद्या के भीतर है और

परिणामी है ।†

इसलिए यह विचारणीय है कि जो स्वय अविद्या मे फँसे हुए है, परिणामी है, और जीते और मरते है, वे चाहे कितने ही बडे अधिकारी क्यो न हो, जब स्वय ससार-चक्र से बँधे हुए है तो अन्य जीवो को उससे कैसे छुडा सकते है। इस कारण ध्यान केवल नारायण ही का करना चाहिए। व्यासजी तो इस सम्बन्ध मे भुजा उठा कर कहते है—'मै भुजा उठा कर सत्य, सत्य और फिर सत्य कहता हूँ कि वेद से बढ कर कोई शास्त्र नही है और केशव से बढ कर कोई देव नही है ।‡ श्री शुकदेवजी ने अखिल शास्त्र-निष्कर्ष इन शब्दो मे निरूपित किया है—"सब शास्त्रो का मथन और बार-बार विचार करने पर एक यही मत निष्पन्न हुआ है कि सदा ध्यान करने योग्य एक नारायण ही है।¶

मैत्रेयजी को पराशरजी द्वारा दिये हुए इस उत्तर से भी सिद्ध होता है कि परत्व नारायण ही को प्राप्त है । कारणवस्तु की सूचना देते हुए वे कहते है—

'विष्णो सकाशादुद्भूतम्'

अर्थात् यह सब विष्णु से उत्पन्न हुआ है। विष्णु ही सब के कारण है। वेदान्त का निर्णय भी इसी प्रकार है—

---

† आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिता ।
प्राणिन कर्मजनिता ससार-वशवर्तिन ।।
यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारका ।
अविद्यान्तर्गतास्सर्वे ते हि ससारगोचरा ।।

‡ "सत्य सत्य पुन. सत्य भुजमुत्थाप्य चोच्यते ।
न वेदाच्च पर शास्त्र न देव केशवात्पर ।।"

¶ आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्यैव पुन पुन ।
इदमेक सुनिष्पन्न ध्येयो नारायण सदा ।।

"वेदवित्प्रवरप्रोक्तवाक्य न्यायोपवृंहिता वेदास्साङ्गा
हरिं प्राहु जगज्जन्मादिकारणम् ।"

इसी के अनुरूप "जन्माद्यस्ययत"—यह व्यास-सूत्र है। इसका मूल तैत्तिरीयोपनिषत् का यह वाक्य है—"जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते है, उत्पन्न होने पर जिसके आश्रय से ये जीवित रहते है और अन्त मे विनाशोन्मुख होकर जिसमे ये लीन होते है, उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा कर। वही ब्रह्म है।"¶

ऊपर श्रुति और सूत्र दोनो मे ब्रह्म को जगज्जन्मादि का कारण प्रतिपादित किया गया है। यहाँ ब्रह्म शब्द से क्या अभिप्राय ग्रहण करना चाहिए ? यह निश्चय करना है। इसके निर्णय के लिए छान्दोग्य उपनिषत् का यह वाक्य लेते है—

'सदेव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीय ब्रह्म'।

इस श्रुति-वाक्य मे 'ब्रह्म' का 'सत्' शब्द से प्रतिपादन किया गया है। इससे सच्छब्द वाच्य और ब्रह्म शब्द वाच्य की एकता प्रतीत होती है, किन्तु

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किंचनमिषत्"

इस वाक्य मे उसी उपनिषत् मे 'आत्मा' शब्द से कारण-वस्तु का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु महोपनिषत् का यह वाक्य—

"एकोह वै नारायण आसीत् न ब्रह्मा
नेशानो नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि"

नारायण को कारण-वस्तु प्रतिपादित करता है।

ध्यान देने की बात है कि उपर्युक्त वाक्यो मे कारण-वस्तु को 'ब्रह्म', 'सत्', 'आत्मा' और 'नारायण' कहा गया है। यह

¶ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति ।

नारायण शब्द भगवद्व्यक्तिविशेष में रूढ होने से सत्, ब्रह्म, आत्मा ये साधारण शब्द इस विशेष मे पर्यवसित हो जाते है, जैसे पदार्थेन जलमाहर, द्रव्येण जलमाहर, पार्थिवेन जलमाहर, घटेन जलमाहर---इन वाक्यो मे जलाहरण के उपकरण को पहले पदार्थ शब्द से, फिर द्रव्य शब्द से, फिर पार्थिव शब्द से, और पीछे घट शब्द से प्रतिपादित किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि 'पदार्थ' 'द्रव्य' 'पार्थिव' शब्द घटार्थपर है । इसी प्रकार 'नारायण' का परत्व सम्मत है। इस सम्बन्ध मे कहा भी गया है---

"नारायणात्परो देवो न भूतो न भविष्यति ।
एतद्रहस्य वेदाना पुराणाना च सम्मतम् ।।"

इसी रहस्य का उद्घाटन सुबालोपनिषत् ने इस प्रकार किया है---

"किं तदासीन्नैवेह किंचनाग्र आसीदमूलमनाधार
इमा प्रजा प्रजायन्ते दिव्योदेव एको नारायण ।"

महाभारत मे भी नारायण को ही कारण-वस्तु स्वीकार किया गया है । प्रलयकाल मे सब कुछ प्रलीन हो जाने पर एक नारायण ही अवशिष्ट रहते है---

"ब्रह्मादिषु प्रलीनेषु नष्टे लोके चराचरे ।
आभूत सप्लवे प्राप्ते प्रलीन प्रकृतौ महान् ।।

तथा

एकस्तिष्ठति विश्वात्मा सतु नारायण प्रभु ।
कृष्ण एव हि लोकाना उत्पत्तिरपिचाप्यय ।।"

इस रहस्य का उद्घाटन पुराण-वाक्य द्वारा इस प्रकार किया गया है ---

"व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी प्रकृति और पुरुष, दोनो परमात्मा मे लीन हो जाते है। परमात्मा ही सर्वाधार एव सर्वेश्वर है।

वह वेद और वेदान्तो मे विष्णु नाम से प्रकीर्तित हुआ है।"†

इसी आशय को अन्यत्र इस प्रकार व्यक्त किया गया है—"ब्रह्मा, शभु, सूर्य, चन्द्र और इन्द्र (जिस प्रकार से ये उसी प्रकार से अन्य भी) वैष्णव तेज से युक्त है। जगत्कार्य के अवसान मे वे तेज से वियुक्त हो जाते है। तेज वियुक्त होकर वे सब पचत्व को प्राप्त हो जाते है और नारायण मे विलीन हो जाते है ।"‡

ऐसे अनेक प्रमाण है जिनसे स्पष्टत सिद्ध हो जाता है कि नारायण सर्वोपरि है।

---

† "प्रकृतिर्या मयाख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी।
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयते परमात्मनि ॥
परमात्मा च सर्वेषा आधार परमेश्वर ।
विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते" ॥

‡ ब्रह्माशभुस्तथैवार्क चन्द्रमाश्चशतक्रत ।
एतवाद्यास्तथैवान्ये युक्ता वैष्णवतेजसा ॥
जगत्कार्यावसानेषु वियुज्यन्ते च तेजसा ।
वितेजसश्च ते सर्वे पचत्वमुपयान्ति च ॥
नारायणे प्रलीयन्ते × × × × ।

अध्याय ५

नारायण इस समस्त प्रपच के स्वामी है। स्वामित्व गुण की स्थिति केवल उन्ही मे है। प्रपच मे चिदचित् दोनो का समावेश हो जाता है। अचित् (प्रकृति) का वर्णन तो अन्यत्र किया ही जा चुका है। यहाँ चित् की विवेचना करनी है। चित् से जीवात्मा का ग्रहण होता है। यहाँ यह देखना है कि यह जीवात्मा है क्या ? और इसका परमात्मा से क्या सम्बन्ध है ?

जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध

जीवात्मा अजड के भेद मे प्रत्यक होने से अपने प्रति आप भासमान होता है। ज्ञानगणक वह जीवात्मा अणुस्वरूप है। अणुस्वरूप जीवात्मा अनन्त अनादि है। यो तो परमात्मा के साथ जीवात्मा के सम्बन्ध अनन्त है, किन्तु स्फुट रीति से नौ स्थिर सबध प्रतिपादित किये गये है——

"पिता च रक्षकश्शेषी भर्ता ज्ञेयो रमापति ।
स्वाम्याधारो ममात्मा च भोक्ता चाद्यमनूदित ।"

उक्त श्लोक मे 'रमापति' विशेष्य है और 'पिता' इत्यादि पद विशेषण है। भगवान् मे पितृत्वादि सम्बन्ध स्थिर हो जाने से जीव मे पुत्रत्वादि सम्बन्ध प्राप्त होता है।

इस दृष्टि से (१) पितृ-पुत्र-भाव, (२) रक्ष्य-रक्षक-भाव, (३) शेष-शेषि-भाव, (४) भर्तृ-भार्या-भाव, (५) ज्ञातृ-ज्ञेय-भाव, (६) स्व-स्वामि-भाव, (७) आधाराधेयभाव, (८) आत्मशरीर-भाव और (९) भोक्तृभोग्यभाव——ये नौ सम्बन्ध प्रतिफलित होते है। यहाँ नौ भाव के नाम कहने मे भगवान् और जीव दोनो के प्रतिपादक शब्द आगे-पीछे व्यवस्थित है। उपर्युक्त श्लोक मे परमात्मा के जो सम्बन्ध-सूचक नाम प्रतिपादित है उनके साथ जीव के

सम्बन्ध को सूचित करने वाले ये पुत्र, रक्ष्य, शेष, भार्या, ज्ञाता, स्व, आधेय, शरीर और भोग्य नाम ग्राह्य हैं।

(१) परमात्मा प्रपच का उपादान-कारण है, इस कारण उसमे पितृत्व-भाव और जीव मे पुत्रत्व है। इस सम्बन्ध में प्रमाण भी है—"पुत्रे पितुरुपादानत्व"। (२) जीव के विषय मे परमात्मा का रक्षकत्व प्रसिद्ध है। इससे जीव का रक्ष्यत्व सिद्ध है। (३) शेषत्व का अभिप्राय अतिशयाधायकत्व है और शेपित्व अतिशय-भाक्त्व को कहते है। 'अतिशयोनाम आनन्दादि'। जिस व्यवहार से भगवत्मुखोल्लास हो वही कर्तव्य है। ऐसा भाव रखते हुए भगवान् की प्रसन्नता के लिए भगवदाज्ञानुसार रहना ही जीव का स्वरूप है। (४) इस जगत् मे एकमात्र परमात्मा ही पुरुष है। शेप जगत् स्त्रीप्राय है—परमात्मा पुमानेक स्त्रीप्रायमितरञ्जगत्'। भार्यात्व का अभिप्राय अनन्यार्हत्व है। जीव परमात्मा का शेष है, यह अनुसधान रहने के साथ-साथ यह भाव भी विशेषता से दृढ रहना चाहिए कि जीव मे परमात्मा के सिवा और किसी का काम नही है अर्थात् जीव केवल भगवान् का शेप है, किसी दूसरे का नही। ऐसा निश्चय (अनुसधान) ही अनन्यार्हत्व है। (५) भगवान् ज्ञेय है अर्थात् ज्ञातव्य और उपास्य है और जीव ज्ञाता व उपासक है। (६) स्वत्व—यथेष्टविनियोगार्हत्व अर्थात् इच्छानुसार बरते जाने के योग्य रहना 'स्वत्व' है और यथेच्छ बरतने वाला 'स्वामी' है अर्थात् जीव 'धन' है और परमात्मा 'धनी' है। (७) भगवान् सर्वाधार है और जीव आधेय है। (८) भगवान् आत्मा अर्थात् नियन्ता, धारक और शेषी है। अन्त प्रविष्ट वे नियमन करते है, इसलिए नियन्ता है, धारण करते है इसलिए धारक है और भोग तथा लीला जैसे स्वार्थ मे सबको लेने से शेषी भी है। इधर जीव मे नियाम्यत्व, धार्यत्व और शेषत्व है जो शरीर का लक्षण है और शरीरी परमात्मा की अपेक्षा से सदैव जीव मे विद्यमान रहता है। (९) लोक मे भोग्य पदार्थ आहार होता है। जिस

प्रकार नेत्र का आहार रूप और कान का आहार शब्द है उसी प्रकार परमात्मा का भोग्य जीव है। गीता मे कहा भी है—

'प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्यर्थमह स च मम प्रिय'।

तैत्तिरीयोपनिषत् मे 'अहमन्नमहमन्नम्', इस प्रकार जीव का अनुसधान होने से जीव भोग्य है और परमात्मा भोक्ता है।

परमात्मा और जीव के उपर्युक्त ९ सबध है। ये चित्त पर सदैव आरूढ रहने चाहिए जिससे स्वरूप और पररूप का बोध होता रहे।

ऊपर किए हुए सबध-विवेचन मे जीव को भगवान् का शेष, स्व, आधेय, शरीर और भोग्य कहा गया है। यहाँ तक कि इसको अन्नस्थान मे भी प्रतिष्ठित मान लिया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि स्वार्थ की योग्यता जीव के स्वरूप मे ही नही है। इस स्वार्थता का न होना तो कोई बात नही, परन्तु साथ ही उसकी भगवत्परतत्रता भी सिद्ध होती है। यहाँ यह शका उत्पन्न हो सकती है कि क्या जीव को भगवान् का इतना परतत्र माना जायगा कि वह अपने आप कुछ भी नही कर सकता ? जो कुछ भगवान् कराते है, वह वही करता है। इससे जीव मे 'कर्तृत्व' नही ठहरता। जब वह कर्ता नही ठहरता तो 'ऐसा करो, ऐसा मत करो' आदि शास्त्र की अनेक आज्ञाएँ व्यर्थ हो जाएँगी क्योकि उनके पालन के लिए जीव को स्वातत्र्य चाहिए और परतत्रता मे उनका पालन हो नही सकता।

इस शका का निवारण शास्त्र को मिथ्या कह देने से नही होता। शास्त्र मिथ्या नही है। जीव भगवद्दास होने से परतत्र अवश्य है, परन्तु इससे जीव का कर्तृत्व और तत्फल नही मिट सकता। जीव को कर्म, इन्द्रिय, काल आदि के वश मे भी तो माना जाता है। जब इनकी परवशता मे जीव को मानते हुए उसके कर्तृत्व और फल को स्वीकार किया जाता है तो भगवान् से ही क्या द्वेष है ? भगवान् तो जीव का एकमात्र ईश्वर है।

यही बात अधिकरणसारावली मे भी निरूपित की गई है। उसमे पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनो है। पूर्वार्द्ध का तात्पर्य यह है– "जो परतत्र है वह कर्ता नही हो सकता। ऐसा महर्षि पाणिनि भी मानते है। "स्वतत्र कर्त्ता"—अष्टाध्यायी मे यह सूत्र होने से स्वतत्र का कर्तृत्व पाणिनि-सम्मत है। यदि ऐसा न हो तो 'यह काम करो, यह काम मत करो' आदिक आज्ञाएँ 'निगडित पुरुष को भागने की आज्ञा' के समान ठहरेगी।" उत्तरार्द्ध का तात्पर्य यह है—'ऐसी बात नही है।' जीव कर्म, इन्द्रिय, काल आदि के परवश है। इसमे कर्तृत्व और कर्तृत्वप्रयुक्त फल (भोक्तृत्व) को अगीकार करके उस परमात्मा के विषय मे जो अनेक श्रुतियो मे जीव का केवल स्वामी प्रतिपादित है, यह द्वेष करना कि जीव परमात्मा का परतत्र नही है, बहुत बुरा है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जीव परमात्मा का परतत्र होने मात्र से 'ऐसा करो, ऐसा मत करो' इस शास्त्रादेश मे वैफल्य-शका करना अनुचित है, क्योकि जब कर्म, इन्द्रिय, काल आदिक का परतत्र होने से शास्त्र की विफलता नही तो केवल परमात्मा का परतत्र होने से शास्त्र की विफलता कैसे होगी ?

इसी बात को उदाहरण द्वारा इस प्रकार सरलता से स्पष्ट किया जा सकता है कि किसी राजमत्री को लीजिए। वह राजा का परतत्र है। वह अपराधियो को १० वर्ष के कारावास का दण्ड दे सकता है। यह शक्ति उसकी स्वकीय नही है, परकीय है, राजा की दी हुई है, परन्तु जब-जब वह अपराधियो को ६ मास, २ वर्ष अथवा ५ वर्ष का कारावास दण्ड देता है, वह बार-बार राजा को पूछकर नही देता। परतत्र रहने पर भी राजा की दी हुई शक्ति

पूर्वपक्ष—"कर्ता न ह्यन्यतत्रस्स्मरति खलु तथा पाणिनिश्चान्यथा चेदाज्ञा कुर्यान्न कुर्यादिति तु निगडिते धावनावेशवत्स्यात् ।"

उत्तरपक्ष—"मैव कर्माक्षकाल प्रभृतिपरवशे कर्तृता तत्फल च स्वीकृत्य आत्मेशमात्रे श्रुतिशतविदिते द्वेष इत्थ दुरन्त ।"

के अन्तर्गत अपनी स्वतत्रता से काम करता है। किस अपराध के लिए कितना कारावास उचित है, ऐसे राज्यनियमो की पुस्तक भी राजा ने मत्रा को दे रक्खी है। एक-एक न्याय करने के समय राजा मत्री की कलम नही पकड लेता। प्राप्तशक्ति के अन्तर्गत मत्री जैसा उचित समझे वैसा करे। हाँ, उस शक्ति का जो राजा ने मत्री को दे रखी है, यदि मत्री उचित प्रयोग करता है तो गा।ा उस पर अनुग्रह करता हैं और अनुचित व्यवहार करने पर र।जा निग्रह करता है। यहाँ विचार करने की बात यह है कि ६ मास, २ वर्ष और ५ वर्ष कारावास का दण्ड अपराधी को देते समय मत्री राजा का परतत्र अवश्य है, किन्तु राजा दस वर्ष तक की शक्ति पहले ही दे चुका है। उसके अन्तर्गत होने से ६ मास, २ वर्ष और ५ वर्ष की आज्ञा देने मे मत्री स्वतत्र व्यवहार करता है। इस उदाहरण मे परतत्रता और स्वतत्रता, दोनो एक समय मे व्यवहा - भेद से स्थिर रही, फिर भी कुछ दोष नही आया।

यही मत 'तत्त्वसार' ग्रथ मे इस प्रकार व्यक्त किया गया है—आदि मे (सृष्टि दशा मे) जीव स्वय भगवान् की दी हुई स्वतत्र शक्ति तत्तद्विषय मे ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न का उत्पादन करता हुआ रहता है। भगवान् हरि जीव की प्रथम प्रवृत्ति मे उपेक्षा करते है (उदासीन रहते है)। तत्पश्चात् आगे की प्रवृत्ति मे अनुमति† देते है। तदुपरान्त निग्रह-अनुग्रह करते हुए वे उन सबको

---

† 'अनुमति' शब्द अनुज्ञा के अर्थ में आता है। अप्रवृत्त के प्रवर्तन का नाम आज्ञा है और स्वय-प्रवृत्त के प्रवर्तन का नाम अनुमति और अनुज्ञा है। उपेक्षा में केवल उदासीनता ही है जो एक प्रकार का जडवत् व्यवहार भी कहा जा सकता है, परन्तु भगवान् की ओर से अनुमति होती है। यह भी स्वातत्र्य शक्ति-प्रदान का एक अल्प स्वरूप-भेद ही है क्योकि भगवदिच्छा से सवथा स्वतत्र होकर कोई भी व्यवहार सगठित हो कैसे सकता है?

अपने-अपने कर्मानुसार फल देते है ।"‡

जीव अनेक प्रकार के है, परन्तु इनके बड़े भेद तीन है। नित्य, मुक्त और बद्ध। नित्य जीव वे है जो भगवत्पार्षद है और जो श्री वैकुण्ठनाथ के सचिव कहलाते है तथा जो अपने-अपने परिचार-साधन लिए हुए तथा अन्य रीति से परमात्मा की किकरता को प्राप्त है। इनको इसी प्रकार से सदैव भगवद्धाम मे सानद निवास करने का सौभाग्य मिला हुआ है। जो मुक्त जीव है वे माया-बधन से छूटकर मोक्ष दशा को प्राप्त हो गये है। वे स्वेच्छा से कही भी विचर सकते है। उन पर कोई कर्म-बधन नही है। तीसरे बद्ध जीव है। ये ससारी है जो अनादिकाल से अब तक माया-बधन मे पडे हुए है जिससे ज्ञान और आनद जो इनके स्वरूप मे है, दबे हुए अथवा सकुचित रहते है।

जीवात्मा के भेद

पूर्ण शक्ति और सामर्थ्य प्राप्त होने पर भी मुक्त जीव ईश्वर नही हो जाते। मुक्त जीव अनन्त ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण एव अनन्त शक्ति से सम्पन्न रहते हुए भी वे ईश्वर से भिन्न रहते है। भेद इस दृष्टि से है कि जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का अधिकार केवल परमात्मा को रहता है क्योकि प्रपच पर शासन करने वाला उसका स्वामी परमात्मा ही है, मुक्त जीव नही है। भगवद्दासत्व तो जीव का नित्य स्वरूप है जो मोक्ष दशा मे भी खो नही जाता। स्वामी का स्वामित्व अनादि है और स्वरूप नित्य पूर्ण है। जीव मुक्त होने से पूर्व बधन मे रहते है और मुक्त जीव

मुक्त जीव और ईश्वर का भेद

‡ "आदावीश्वरदत्तयैव पुरुष स्वातन्त्र्यशक्त्या स्वय ।
तत्तद्ज्ञान चिकीर्षण-प्रयत्नान्युत्पादयन् वर्तते ।
तत्रोपेक्ष्य ततोऽनुमत्य विदधत् तन्निग्रहानुग्रहौ ।
तत्तत्कर्मफल प्रयच्छति सदा सर्वस्य पुसो हरि ।"

अनेक होने से, उन सब मे स्वामित्व ठहरना अयुक्त भी है क्योकि स्वामित्व एक ही मे ठहर सकता है, अनेक मे नही ।

बद्ध जीव दो प्रकार के होते है—(१) बुभुक्षु और (२) मुमुक्षु । बुभुक्षु वे जीव है जो ससार के सुखो को भोगने की इच्छा रखते है और उन्ही नाना प्रकार के सुखो को अपना लक्ष्य बनाए हुए है, ससार-बधन से छूटने का प्रयत्न नही करते है । मुमुक्षु वे है जो ससारी सुखो से प्रयोजन न रखकर ससार-बधन से छूटने की इच्छा रखते है और मोक्ष को अपना लक्ष्य बनाए रखकर उसी की प्राप्ति का प्रयत्न करते रहते है ।

बद्ध जीवों के भेद

बुभुक्षु जीव दो प्रकार के होते है—(१) अर्थकामपर और (२) धर्मपर । अर्थकामपर वे है जो द्रव्य अथवा शब्दादि सुख पर शीघ्र टूट पडते है और जिन्हे धैर्य नही रहता । धर्मपर वे है जो अच्छा भोग मिलने के अभिप्राय से पुण्य करते है, परोपकार करते है और जितने काम करते है सकाम करते है, निष्काम नही। वे मानते है कि ससार मे अन्याय नही है । अच्छे-बुरे कार्यो का अच्छा-बुरा फल अवश्य मिलता है, इसलिए अच्छा किया जाए । ऐसी उनकी निष्ठा रहती है । यदि कदाचित् सुकर्म न बन सके तो, उनका मत है, कुकर्म से तो अवश्य ही दूर रहना चाहिए । ये उक्ति ऐसे ही जीवो की है—

"रे मन भलो न कर सकै (तो) बुरे पथ मत जाय ।"

वे यह मान कर व्यवहार करते है कि इस जन्म मे किए हुए पुण्य का उत्तम फल यदि इस जन्म मे न मिलेगा तो दूसरे जन्म या जन्मो मे तो अवश्य मिलेगा ।

धर्मपर जीवो के दो भेद है—(१) भगवत्पर और (२) देवतातरपर । 'भगवत्पर' वे जीव है जो अपनी अभिलाषाओ और शुभकर्मों के फलो को केवल भगवत् ही से माँगते है और

देवतातरपर' वे है जो भगवान् को छोड अन्य देवताओ से याचना करते है ।

बुभुक्षुओ मे 'धर्मपर' के अन्तर्गत जो 'भगवत्पर' है वे छोटी-बडी, सब वस्तुओ की याचना भगवान् से ही करते है । भगवान् के पास भी देने के लिए अभाव किस वस्तु का है ? उनके भडार मे तो सब कुछ भरा है । वे तो अनन्तवैभववान् है । उनके सम्बन्ध मे लिखा है–जो मेरे और वेद के शिरो पर शोभित है, जिसमे हमारा सकल मनोरथपथ है, पुण्डरीकाक्ष के उस चरणारविद की जो हमारा कुलधन और कुलदैवत है, मै स्तुति करूँगा ।"* दूसरे स्थान पर भगवान् के लिए प्रयुक्त "अचिन्त्य, दिव्य, अद्भुत, नित्ययौवन, लावण्यमय, अमृतसागर, श्री-शोभा, भक्तप्राण, समर्थ, आपत्सखा, और अर्थियो के कल्पवृक्ष" आदि शब्दो को देखिये ।

उक्त दोनो स्थलो पर दो वाक्याश देखने योग्य है–(१) जिनमे हमारा सकल मनोरथपथ भली भाँति मिलता है और (२) अर्थियो के कल्पवृक्ष । ये दोनो ही भगवान् के अन्यतम दानी होने के प्रमाण है ।

भगवत्पर बुभुक्षुओ के विषय म भी याचना की भावना विशेषत दृष्टव्य है । माँगने वाले छोटी-बडी सब वस्तुओ की याचना भगवान् ही से करते है । उसकी दृष्टि मे वे वस्तुएँ भगवान् से भी बडी है । कोई भगवान् को पुत्र के लिए भजता है, कोई धन के लिए और कोई स्वर्ग के लिए । उनकी यह बात तो अच्छी है कि वे भगवान् को भजते है, किन्तु यह स्पष्ट है कि वे भगवान् के लिए भगवान् को नही भजते । उन वस्तुओ के लिए भजते है जो असत् और भगुर है । इस कक्षा मे भगवान् तो उपायमात्र है–

"यन्मूर्ध्नि मे श्रुतिशिरस्सु च भाति यस्मिन्नस्मन्मनोरथपथ सकल समेति ।
स्तोष्यामि न कुलधन कुलदैवत तत्पादारविन्दमरविन्दविलोचनस्य ।।"
अचिन्त्यदिव्याद्भुतनित्ययौवनस्वभावलावण्यमयामृतोदधिम् ।
श्रिय श्रिय भक्तजनैकजीवित समर्थमापत्सखमर्थिकल्पकम् ।।

केवल साधन है। फल तो पुत्र, धन, अधिकार, स्वर्ग आदिक है। फल उपायो से बडे होते है क्योकि उपायो का अवलम्बन तो फल ही की प्राप्ति के लिए किया जाता है। फल प्राप्ति के उपरान्त उपायो की अपेक्षा नही रहती। ऐसे व्यक्ति भगवान् को तभी तक भजते है जब तक उनको फलसिद्धि नही होती। पुत्र, अधिकार, धनादि मिलने के पश्चात् वे भगवान् को नही भजते। स्वर्ग तक की याचना करने वालो के सम्बन्ध मे भी यही बात लागू होती है।

मुमुक्षु जीव परमात्मा को परमात्मा के लिए ही भजते है। उनकी कामनाओ का आदि और अन्त परमात्मा है। वे कहते है– "मै आपके चरणो की वदना अद्वन्द्व के निमित (शीत-घाम, सुख-दुःख आदि से बचने के लिए) नही करता हूँ, न कुभीपाक जैसे बडे (भयकर) नरक के निवारण के लिए करता हूँ और न रम्य रमणी के मदुतनुलता-नदन (उपवन) मे अभिरमण करने के लिए ही करता हूँ, मै तो हृदय-मदिर के प्रत्येक भाव मे आपही की भावना करता हूँ।"*

मुमुक्षुओ के दो भेद है–(१) कैवल्यपर, और(२) भगवत्पर। कैवल्यपर वे है जो माया-बन्धन से छूट जाते है और उस दशा मे अपने माया-विरहित आत्मस्वरूप का आनन्द भोगते है। जो-परमात्मा की चेतनविशिष्टता की उपासना करते है तथा आत्मप्राप्तिकाम कहे जाते है, उनका यह पद है। इस साधना को केवल की उपासना कहते है। यही चेतनविशिष्टब्रह्मोपासना भी कहलाती है। उपासनानुसार फल दशा मे ऐसे जीवो का भोग्य चेतन ही होता है। विचार करने की बात है कि स्वय जीवात्मा भी तो ज्ञानानन्द लक्षण

मुमुक्षु जीवो के भेद

---

* "नाहं वन्दे तव चरणयोर्द्वन्द्वमद्वन्द्वहेतो।
कुभीपाक गुरुमपि हरे नारक नापनेतुम्।
रम्या रामा मृदुतनुलतानन्दने नाऽभिरन्तुम्।
भावे भावे हृदय भवने भावयेय भवन्तम्॥"

वाला है। कैवल्य प्राप्त होने पर आवागमन मिट जाता है। इस दशा मे अन्य सब सुख होते है, एक परमानन्दस्वरूप का आनन्द नही मिलता।

केवलोपासन अथवा चेतनविशिष्टब्रह्मोपासना मे मुख्यता अपने चेतनस्वरूप की है, किन्तु इस अवस्था मे भी परमात्मा के सम्बन्ध का ज्ञान अवश्य रहता है। इस सबध-ज्ञान के बिना माया, जो परमात्मा के वशीभूत है, कैसे छूट सकती है।

कुछ लोग 'तत्त्वमसि' और 'अहब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यो का आश्रय लेकर जीव और ईश्वर के अभेद का प्रतिपादन करते है। ये वेद-वाक्य है और बडे ज्ञान से परिपूर्ण है। इनके आधार पर जो जीव और ईश्वर के अभेद के गीत गाने लगते है उनसे पूछा जाए कि उक्त वाक्यो मे जीव का नाम भी न आने पर उन्होने उसे कहाँ से पकड लिया। यदि मानलीजिए वे यह कहते है कि "ईश्वर से इतर अजड भी तो जीव ही है, यदि जीव को न लिया जायगा तो ईश्वर से अभेद किसका होगा ?" तो उनसे कहा जा सकता है कि "यदि आप ही जीव को 'इतर' (दूसरी) वस्तु बताते जाते हो तो भेद मे अभेद कैसा ?" स्वरूपभेद वाली वस्तु का अभेद तो होही नही सकता। जीव और परमात्मा दोनो 'प्रत्यक्' है, इसलिए अनेक स्थलो पर आत्मा शब्द दोनो के लिए आजाता है, किन्तु एक जीवात्मा ठहरता है और दूसरा परमात्मा। जीवात्मा परिणामी है। इसके ज्ञान का सकोच-विकास होता है और परमात्मा अपरिणामी है। उसके ज्ञान का सकोच-विकास नही होता। एक दास है, दूसरा स्वामी। एक बद्धावस्था मे माया मे अनुरक्त रहता है, दूसरा माया-बधन के बाहर रहता है, किन्तु जीवात्मा भी अज है और परमात्मा भी अज है। देखिये—'अजामेकाम्' आदि।

इस वाक्य पर लोग बहुत अटकते है। इसमे कोई भी शब्द

जीवात्मा का वाचक नही है। 'तत्' शब्द सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट का बोधक है क्योकि वह स्वरूप प्रलयावस्था का होने से दूरवर्ती कहा जाता है और 'त्वम्' शब्द स्थूल चिदचिद्विशिष्ट का बोधक है क्योकि यह स्वरूप वर्तमान सृष्टि अवस्था मे होने से निकटवर्ती माना जाता है। इन्ही दोनो स्वरूपो का अभेद दिखाने से प्रयोजन है। जीव के साथ ईश्वर का अभेद दिखाने की कल्पना ही नही हो सकती। ऐसा दीख पडता है कि बौद्धो के 'नास्तिवाद' के विरुद्ध 'अस्तिवाद की प्रतिष्ठा के लिए 'नास्तित्व' के समीपी अभेदार्थ का प्रतिपादन किया जाने लगा था।

'तत्त्वमसि' की व्याख्या

यह वाक्य भी प्राय दार्शनिको के विवाद का विषय रहा है। पीछे इस वाक्य की व्याख्या की जाचुकी है। सक्षेप मे इतना कहना है कि 'अह' का अर्थ 'जीव' नही है। इसका अर्थ "मे" है। परमात्मा चिदचित् का अधिष्ठान है अथवा यह कहिये कि चिदचित् परमात्मा से अधिष्ठित हैं। चित्, अचित् और परमात्मा की एक सघटना है। इस सघट्ट मे मुख्य शरीरी परमात्मा होने से, इसका जो 'अह' है वह केवल चित् वा अचित् पर नही ठहरता, मुख्य शरीरी पर ठहरता है और ऐसी उत्तमता से ठहरता है कि ये दोनो उससे पृथक् नही हो सकते। उमके धार्य होने से उनका साथ लगा रहना अनिवार्य है। ऐसा जो त्रिविध स्वरूप है उसी का नाम ब्रह्म है। अन्यत्रोक्त वेद वाक्य पर पुन विचार कीजिए।

'अह ब्रह्मास्मि की व्याख्या

"भोक्ता भोग्य प्रेरितार च मत्वा सर्व प्रोक्त त्रिविध ब्रह्मैतत्।"

भोक्ता (चित्, जीव), भोग्य (अचित्, माया) और प्रेरिता (ईश्वर), इनको मानकर इस सबको त्रिविध ब्रह्म कहा है। इन तीनो मे मुख्य ईश्वर है जो शेष दो (भोक्ता और भोग्य) से विशिष्ट है। इस सघट्ट का 'अह' मुख्यता से विशिष्ट पर गये बिना कभी भी नही रहेगा और चित् और अचित् ये दोनो भी

विशेषण होन मे अलग नही होगे, साथ रहेगे। यह ज्ञान की बडी ऊँची कोटि है। इसीलिए 'अह ब्रह्मास्मि' मे 'अह' का अर्थ 'जीव' करना उचित नही दीखना क्योकि जो अर्थ बनता ही नहीं उसका बनाना उचित नही। उक्त वाक्यो का ठीक-ठीक अर्थ समझलेने पर वह कक्षा भी ठीक-ठीक समझ मे आजायगी जहाँ कि लोग कहा करते है "अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करो जिससे सब कपाट खुलजाएँ।" यहाँ 'अपने' शब्द उसी अभिप्राय को लिए हुए है जो 'अह ब्रह्मास्मि' मे 'अह' शब्द के साथ लगा हुआ है। ऐसे ही ज्ञान की उत्तमता दिखाई है। लिखा भी है—'नान्यपन्था विद्यते अनयाय' अर्थात् दूसरा मार्ग ही नही है। इसी प्रकार और वाक्यो की सगति बैठती है।

यहाँ उस महात्मा का चातुर्य द्रष्टव्य है जिसने बौद्धो के पास स्थित होकर और वेदवाक्यो को मुख्यता देकर नास्तिवादियो को खीच लेने की युक्ति निकाल डाली, चाहे उसने 'तत्त्वमसि' से 'जीवेश्वर' का अभेद कहा और चाहे 'अह ब्रह्मास्मि' से जीव को ब्रह्म बनाया।

जो कैवल्यपर है उनमे एक प्रकार की मर्यादा अवश्य है क्योकि वे परमात्मा की चेतनविशिष्टता की उपासना करते है।

'कैवल्यपर' और उनके कुछ अभाव

इस उपासना के अवलम्बी परमात्मा के सम्बन्धो को मानते है, किन्तु चेतन मे मुख्य भाव रखते है। यह भूल है। इन्हे भगवान् की प्राप्ति नही होती, अपने आत्मस्वरूप का आनद भोगते है। इन्हे परमात्मस्वरूप की सन्निधि का आनन्द नही मिलता, ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार से पतिवियुक्ता को अनेक प्रकार के वस्त्राभूषण मिलजाने पर भी पति-सन्निधि का आनन्द नही मिलता।

इन लोगो के सर्वस्व नारायण ही है। वे उन्ही से अपना

पूर्ण सम्बन्ध रखते है । इस सबध मे लोमहर्षण जी की अनन्यता देखिये—"मै नारायण के चरणकमल को नमस्कार करता हूँ, सदैव नारायण का पूजन करता हूँ, नारायण के निर्मल नाम का जाप करता हूँ और अव्यय तत्त्व नारायण ही का स्मरण करता हूँ ।" *

'भगवत्पर' और उनकी विशेषताएँ

उन्ही नारायण को श्री जयदेव ने "दिनमणिमण्डल-मडन भवखण्डन" तथा "अमल कमलदल लोचन, भवमोचन" कहा है। शुकनारदादि मुनिवर, परीक्षितादि मनुज, ब्रह्मरुद्रादि सुरवर, और प्रल्हादादि असुर उन्ही के परिवार है। उन्ही का स्वरूप परमविभूतिवान् है। वेही शोभा की शोभा और अनन्त दया के सागर है। 'भगवत्पर' जनो की भावना उन्ही नारायण मे रहती है ।

* "नमामि नारायणपादपङ्कज, करोमि नारायणपूजन सदा ।
वदामि नारायणनाम निर्मल, स्मरामि नारायण तत्व अव्ययम् ।"

अध्याय ६

भगवत्पर जनो के भेद और भक्ति की व्याख्या

'भगवत्पर' जनो के दो भेद है। (१) भक्त और (२) प्रपन्न। जो भक्त है वे परमात्मा से प्रेम करते है, प्रेमपूर्वक भगवत्पूजन कर आनन्दित रहते है और प्रेम बाहुल्य से भगवान् के साकार रूप को प्रकट तक करालेते है। भक्ति शब्द सेवा * का बोधक है। भगवत्स्वरूप मे अत्यन्त उत्साहपूर्वक सेवा-भाव का उदय होने पर प्रेम की जो अटूट तीक्ष्ण धारा बहने लगती है उसका नाम भक्ति है। भक्ति का आरभ साधारण पूजन से होकर, उसकी पूर्ति ईश्वर के अत्यन्त गभीर प्रेम म होती है। जिसम परमात्मा के प्रति ऐसा प्रेम होता है, वह भक्त होता है। भक्ति परमात्मा को बहुत प्यारी है, इसीसे वे भक्त के वश मे होजाया करते है। किसी ससारी के प्रति ही भक्ति प्रेम और सेवा करके देखा। वह आपके अनुकूल होता है या नही ? अवश्य होगा। फिर परमात्मा का तो कहना ही क्या ? वे तो प्रेम ही के ग्राहक है। उनकी प्रसन्नता मे आचरण, अवस्था, विद्या, नाम-रूप, धन, उच्च वश, और पौरुष आदि कारण नही बनते। "व्याध का क्या आचरण था, ध्रुव की क्या अवस्था थी, गजेन्द्र की क्या विद्या थी, कुब्जा का क्या नाम-रूप था, सुदामा के पास क्या धन था, विदुर का क्या वश था और उग्रसेन का क्या पौरुष था ? इससे सिद्ध है कि माधव भगवान् केवल भक्ति से सतुष्ट होते है, गुणो से नही। उनको तो भक्ति ही प्यारी है।"†

---

* 'भज सेवायाम्'।

† व्याधस्याचरण ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का ?
कुब्जाया किं नामरूपमधिक किं तत्सुदाम्नो धनम् ॥
वश को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्।
भक्त्या तुष्यति केवल न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधव ॥

भगवान् मे प्रेम की लगन लगी हो तबतो कहना ही क्या है । यदि अन्य भावो से भी भगवान् मे पूरी लगन लगी हो तो भी उद्धार हो जाता है, जैसे जल मे कूदने से भीगना ही पडता है चाहे किसी भाव से कूदो, क्योकि जल का स्वरूप ही द्रव है । गोपियो की 'लगन' भगवान् मे काम-भाव से हुई थी, और कस की भय से–‡ ऐसे भय से कि उसे सर्वत्र कृष्ण ही कृष्ण दीखने लगे । इसी प्रकार शिशुपाल की भी भगवान् मे 'लगन' थी, किन्तु द्वेष से ।"अभिप्राय यह है कि उनकी 'लगन' किसी प्रकार से हुई हो, परन्तु थी तो परमात्मा के प्रति–उस परमात्मा के प्रति जिसमे अनन्त कल्याणगुण सदा निवास करते है । उसने अपने स्वरूप का परिचय दिया । यह उसकी स्वाभाविक महिमा है कि वह उत्तम ही गति देता है, परन्तु इन सब मार्गो से प्रेम का मार्ग उत्तम है क्योकि भय, द्वेष आदि के भाव प्रथम तो विपरीत होते है, दूसरे जब तक वे अत्यन्त तीक्ष्ण नही होते, उत्तम फल नही मिलता । इधर प्रेम-मार्ग के पथिक को देखिये । वह भक्ति के अतिरिक्त और किसी फल की ओर दक्पात ही नही करता । जिस प्रकार वृक्ष के अकुर, पत्र, कलिका, फूल, फल और भोग–ये क्रम से होते है वैसे ही प्रीति, प्रणय, स्नेह, राग, अनुराग क्रम से उदित होकर पूजन के भाव मे मिलजाते है । यह भक्ति बहुत गुर्वी है । इसके लिए नकुल ने कहा है–"चाहे कालपाश से अनुबद्ध मुझे अधोगति मिले, चाहे कुलविहीन पक्षि-कीट-योनि में जन्म मिले और चाहे अन्तरात्मा सैकडो कीडो मे जाकर उत्पन्न हो, परन्तु मेरी एकभक्ति (अनन्यभक्ति) हृदयस्थ केशव मे हो ।" * इसी प्रकार कुन्ती का

---

‡ कामाद्गोप्यो भयात् कस द्वेषाच्चैद्यादयो नृपा ।"

* यदि गमनमधस्तात् कालपाशानुबद्धो ।
यदि च कुलविहीने जायते पक्षिकीटे ।।
कृमिशतमपि गत्वा जायते चान्तरात्मा,
मम भवतु हृदिस्थे केशवे भक्तिरेका ।।

कहना है—"हे हृषीकेश ! मै अपने कर्मफल से निर्दिष्ट जिस जिस योनि मे जाऊँ उस उस मे मेरी भक्ति आप मे दृढ रहे ।"† कुलशेखर स्वामी लिखते है—"हे चित्त ! तू इस कातरता को प्राप्त मत हो कि इस अगाध और दुस्तर ससार-सागर से मेरा सतरण कैसे होगा। नरक को छुडा देने वाले कमलाक्ष मे जमी हुई तेरी अनन्य भक्ति तुझे अवश्य तार देगी ।" ‡ वे फिर लिख ते है—"ससार नाम से प्रसिद्ध महासागर मे जिसमे तृष्णा रूपी जल है, मदनरूपी पवन से मोहरूपी लहरमाला ऊँची उठ रही है, स्त्रीरूपी भँवर है, और जो पुत्र पुत्री और भाई-बहिन रूपी ग्राहो से व्याप्त है—डूबते हुए हमको, हे त्रिधामन् ! हे वरद ! तू अपने चरणारविंद मे भक्तिभाव प्रदान कर ।" § भक्तवर प्रल्हादजी कहते है "हे नाथ! सहस्रो योनियो मे से मै जिन जिनमे जाऊँ, हे अच्युत उन उन मे आपमे मेरी अचला भक्ति बनी रहे । अविवेकियो की जो स्थिर प्रीति विपयो मे रहती है, (वैसी ही प्रीति) आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदय से दूर न हो ।" * महात्मा दालभ्य का कहना है—"जिसकी जनार्दन मे भक्ति है उसको बहुत मत्रो से क्या प्रयोजन है ?"†

---

† स्वकर्मफलनिर्दिष्टा या या योनि व्रजाम्यहम् ।
तस्या तस्या हृषीकेश त्वयि भक्ति दृढ़ास्तु मे ।।

‡ "भवजलधिमगाध दुस्तर निस्तरेय कथमहमित चेतो मास्मगा कातरत्वम्।
सरसिजदृशिदेवे तावकी भक्तिरेका नरकभिदिनिषण्णा तारयिष्यत्यवश्यम्।"

§ तृष्णातोये मदनपवनोद्भूतमोहोर्मिमाले
दारावर्ते तनयसहजग्राहसघाकुले च
ससाराख्ये महति जलधौ मज्जता नस्त्रिधामन
पादाभोजे वरद भवतो भक्तिभाव प्रयच्छ ।

* "नाथ योनि सहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् ।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि ।
या प्रीतिरविवेकाना विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरत सा मे हृदयान्नापसर्पतु ।"

† "किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैर्भक्तियस्य जनार्दने ।"

इन वचनो से स्पष्ट है कि भगवद्भक्ति बडी मधुर एव अ नद-दायिनी है। ऐसे घोर ससार-सागर से बेडा पार लगाने की इसी मे सामर्थ्य है। इनसे भक्ति की अमित महिमा सिद्ध है। सच्चे भक्त प्रभु से प्रेम करते है, किन्तु वे इसका बदला नही चाहते। श्रीनृसिंह भगवान् ने प्रल्हाद से कहा कि कुछ माँग तो प्रल्हाद ने निवेदन किया—"स्वामिन्! यह भक्तिमार्ग दुकानदारी नही है, फिर दास को लेन-देन से क्या प्रयोजन?" भक्तजन भगवान् के गुण गाते है। वे भगवान् ही को प्राप्त होते है। आदि, मध्य और अवसान, सब उन्ही के प्रेम मे होते है। इतर योगो मे उपाय और फल भिन्न होते है, किन्तु भक्तियोग मे उपाय और फल अभिन्न होते है। दोनो मे एकमात्र भक्ति रहती है। भक्तिमार्ग सब से सुगम है। सासारिक लोग अपने विचारो के घोडो को दौडाते ही रह जाते है, किन्तु वे उस स्थल तक नही पहुँच पाते जहाँ भक्त जन भगवान् की कृपा से सहज ही पहुँच जाते है। "दुर्बल विचारो की गति भगवान् तक नही है"। † भक्तिमार्ग अपने पथिको को विचारो के धुँधले और विषम देश से शीघ्र ही आगे निकाल ले जाता है। फिर अधकार मे बुद्धिबल लगाने का प्रयोजन ही नही है।

भक्ति की महिमा

भक्त को तो पूर्ण प्रकाश मे भगवान् के दर्शन होते है। सामान्य ज्ञान तो पशुओ मे भी होता है, परन्तु मनुष्य की बुद्धि का विस्तार उससे कही अधिक होता है। मनुष्य की बुद्धि भी सर्वत्रगामिनी नही है। कुछ दूर चल कर वह भी रुक जाती है, आगे नही बढ सकती। यदि उसे गम्य से आगे बढने के लिए धकेला जाता है तो वह कुबुद्धि बन जाती है क्योकि बुद्धि-गमन की भी एक सीमा है। इसमे उसका उल्लघन करने की क्षमता नही है। अनेक ब्रह्माण्डो म

भक्ति और बोध

† "यतोवाचा निवर्त्तन्त अप्राप्य मनसा सह ।"
(उपनिषते)

से जितना जगत् इन्द्रियगोचरता को प्राप्त होता है उसीके भीतर यह बुद्धि काम करती है। यही बोधक्षेत्र है। जो लोग बोधक्षेत्र से आगे बढने की इच्छा रखते है उनको विवेक, जितेन्द्रियता, शुचित्व आदि भक्ति-साधनो वा अगो का सम्पादन करना आवश्यक है।

अच्छे-बुरे मे भेद करना ही विवेक है। इसके अन्तर्गत अनेक बाते आती है। शुद्धाशुद्ध भोजनादि की छाँट भी विवेक-क्षेत्र ही मे आती है। आजकल शुद्ध भोजन का उपहास किया जाता है। स्वादिष्ट और देखने मे भी अच्छे लगने वाले भोजन को कुछ लोग शुद्ध मान लेते है। अशुद्ध वस्तु हानिकारक होती है, यह समझने की बात है।

भक्ति और विवेक

भोजन मे अशुद्धि दो प्रकार से आती है—(१) खाद्य वस्तु के स्वभाव से (जिसे स्वाभाविक अशुद्धि कहते है), और (२) दूषित ससर्ग से। लस्सन आदि की दुर्गन्ध और तामसिकता स्वाभाविक है। मल आदि के लगने, अशुद्ध वायु मे पडने अथवा पतितो के ससर्ग मे जाने से वस्तु मे सासर्गिक दोष वा अशुद्धि का आना स्वाभाविक है।

वेद का वाक्य है कि आहार-शुद्धि से सत्त्व-शुद्धि होती है और धारणा-शक्ति सुव्यवस्थित होती है। विचार-शक्ति भी भोजन से ही बनती है। सात्त्विकी भोजन से विचार सात्त्विकी होते है। वास्तविक उन्नति के लिए सत्त्विगुण-वृद्धि की परमावश्यकता है और सत्त्वगुण-वृद्धि के लिए आहारशुद्धि और उसके लिए विवेक की आवश्यकता है।

यहाँ शुद्धि से तात्पर्य आचार-विचार की शुद्धि से भी है।

कुछ लोग आचार-विचार की शुद्धि की खिल्ली उडाते देखे जाते हैं। वे वस्तुत इनके महत्त्व को ही नही समझते।

भक्ति और आचरण

आचरण की महत्ता को देखना हो तो वहाँ देखिये जहाँ लोग 'कथनी' से 'करनी' को ऊँचा बताते हैं, जहाँ कहने वालो से करने वालो को ऊँचा कहा जाता है। एक श्लोक मे कहा भी है—

"परोपदेशवेलाया सर्वे शिष्टा भवन्ति हि।
विस्मरन्तीह शिष्टत्व स्वकार्ये समुपस्थिते ॥"

और भी,

'हत ज्ञान क्रियाहीनम्'।

अतएव आचरण की खिल्ली उडाने वाले वही लोग है जो स्वय आचारी नही है। इस 'आचार' शब्द के साथ विचार शब्द भी बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योकि किसी आचार को विचार के बिना अगीकार नही किया जाता। बिना विचारे आचार करने से आचार मे दूषण आना बहुत सभव है। इससे पीछे पछताना पडता है। कहा भी है—

"बिना विचारे जो करै, सो पाछे पछताय।
काम बिगाडे आपनो, जग में होत हँसाय ॥"

जो व्यक्ति कहने को क्रियान्वित करता है वह आचार्य कहलाता है। जो शास्त्रो के अभिप्रायो को समझे और जो स्वय आचरण करता हुआ दूसरो को आचरण मे लगावे वह आचार्य कहा जाता है —

"आचिनोति हि शास्त्रार्थानाचरे स्थापयत्यसौ।
स्वयमाचरते यस्मात् तस्मादाचार्य इष्यते ॥"

आचार-विचार दोनो की शुद्धता से ही जीवन पवित्र होता है। यह असभव है कि अशुद्ध और अपवित्र विचारो के होते हुए आचार शुद्ध रह सके। इसलिए आचार शुद्ध रखने से पूर्व विचार

शुद्ध होन की आवश्यकता है। कुछ लोग आचार-विचार की शुद्धि को हार्दिक सकीर्णता मानते हे। उन लोगो का कहना है कि यदि हम सामाजिक उन्नति चाहते है तो हार्दिक सकीर्णता को निकाल कर हृदय को उदार बनाना होगा। ऐसे लोगो से मेरा नम्र निवेदन है कि वे शुद्धाशुद्ध का भेद नही समझते है। वे उदारता और सकीर्णता का आशय नही समझते है। ऐसे लोगो को ध्यान रखना चाहिए कि भक्त अनुदार नही होता। भक्त की यही विशेषता है। "भगवद्भक्तो की शूद्र सज्ञा नही है। वे विप्र-भागवत माने जाते है। सब वर्णों मे शूद्र वे है जो भगवद्भक्त नही है" —

> "न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रभागवता स्मृता ।
> सववणषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दन ।।"

विष्णु-भक्त चाण्डाल भी द्विज से अधिक है और विष्णुभक्ति से विहीन 'यति' भी चाण्डाल से अधिक अधम है।

। शुचित्व केवल शारीरिक हो नही होता, मानसिक भी होता है। यहाँ हमारा अभिप्राय शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार की शुचिता स है। मन की पवित्रता के बिना बाह्यकर्म अधिक काम नही देते । इसीलिए सत्य, आर्जव, दया, क्षमा, अहिसा, अस्तेय, अक्रोध आदि अनेक बातो की आवश्यकता शुचित्व-सिद्धि के लिए आवश्यक है। त्याग भी शुचिता का ही एक अग है। सब योगो म इसकी बडी महिमा है। भक्तियोग मे तो इसकी महिमा और भी विलक्षण है। यहाँ त्याग के अन्तर्गत किसी बडे भारी साहस। की आवश्यकता नही है, और न किसी तोड-फोड या किसी से बलपूर्वक अलग करने की आवश्यकता ही है। यह त्याग अत्यन्त स्वाभाविक है। जब कोई मनुष्य किसी स प्रेम करता है और फिर कोई दूसरा प्रियतर प्रतीत होने लगता है तो पहलेवाला स्वत ही प्रेमी के हृदय से गिर जाता है। इसीप्रकार

अपने नगर को ही प्रेम करने वाला जब देश भर को प्रेम करने लगता है तो नगर-प्रेम का बाहुल्य नही रहता और जब वह विश्व भर से प्रेम करने लगता है तो देश-प्रेम का बाहुल्य कम हो जाता है। यह क्रिया स्वाभाविक ढग से चलती रहती है। इसमे न कोई आघात पहुँचता है और न किसी बल-प्रयोग की आवश्यकता ही रहती है। असस्कृत मनुष्य इन्द्रिय-सुखो का लोभी रहता है। जैसे-जैसे वह सस्कृत होता जाता है इन्द्रिय-सुखो की लिप्सा न्यून होती जाती है और बौद्धिक सुखो की चाह होने लगती है। खाद्य पर जितनी सुख-तीव्रता से कुत्ता या भेडिया टूट पडता है, उतनी तीव्रता से मनुष्य नही टूट पडता, किन्तु बुद्धिसम्बन्धी अनुभूतियो और प्राप्तियो से जो सुख मनुष्य को होता है वह कुत्ते को कभी नही हो सकता। सुख पहले निम्न-इन्द्रिय-योग से होता है, परन्तु पशुत्व के दूर होने पर मानव जब उच्च कक्षा मे पहुँचता है तो निम्न कक्षा के सुख गहराई मे कम हो जाते है। ऐन्द्रिय और बौद्धिक दोनो सुखो से भी ऊपर एक ऐसा स्तर है जहाँ से ये दोनो सुख तुच्छ प्रतीत होने लगते है। वह ऐसा स्थल है जहाँ जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप तथा सम्बन्ध के ज्ञान की समक्षता प्राप्त होती है। जब चन्द्रमा चमकने लगता है तो आकाश के अन्य तारे हतप्रभ दीखने लगते है और जब सूर्य चमकने लगता है चन्द्र स्वय हतप्रभ हो जाता है। इसी प्रकार भक्तिमार्गीय त्याग सहज रूप मे आता है। भगवत्-प्रेम के आगे ऐन्द्रिय और बौद्धिक सुख निस्तेज एव नीरस हो जाते है। यह भगवत्प्रेम अपनी प्रथमावस्था मे 'गौणी-भक्ति' कहलाता है, किन्तु प्रेम के बढ जाने पर वह 'पराभक्ति' कहलाता है। भक्त अपने किसी भी भाव को बलपूर्वक दबाता नही है, प्रत्युत गहरा कर के प्रभु मे लगा देता है। प्रेम सर्वत्र एक ही है, किन्तु भिन्न-भिन्न आश्रयो से अभिव्यक्त रूप भिन्न-भिन्न होते है। इसमे भी विवेक की आवश्यकता रहती है। कोई इसे अच्छी ओर ले जाता है और कोई बुरी ओर धकेलता है। इसी के प्रभाव से कोई

उपकार करता है और अनाथो एव दीन-दुखियो को सर्वस्व दे डालता है और कोई इसके प्रभाव से अपने सहोदरो तक के गले काट कर उनके द्रव्य का अपहरण कर लेता है । एक का प्रेम दूसरो की ओर है और दूसरे का उतना ही अपनी ओर होता है । जो अग्नि अपने लिए पाक तैयार करने मे सहायक होती है वही एक शिशु को जला देती है । इसमे भला अग्नि का क्या दोष ? अग्नि तो अपना काम करती है । जिस रीति से उससे काम लिया जायगा उसी रीति से वह काम देगी । इसलिए अनेक काम करनेवाली अग्नि मे भेद देखने की आवश्यकता नही है । भेद तो अग्नि के व्यवहार की गति मे है । इसी प्रकार प्रेम का व्यवहार जब लोक में किया जाता है तो वह ससार-चक्र पर चढाता है और जब उसे सर्वात्मा मे लगाया जाता है तो ससार-चक्र से छुडाता है । अतएव प्रेम (जो सयोग की उत्कट चेष्टा अथवा दो वस्तुओ के अत्यन्त निकट आ जाने तथा सयुक्त हो जाने की बलवती शक्ति है) की अनुचित दशा को मोह कहते है । वह निंदित है, किन्तु जो प्रेम योग-स्वरूप माना जाता है, जिसकी निर्मल अटूट धारा परमात्मा के प्रति सदैव बहती रहती है, वह भक्ति-योग है । भक्ति-योग यह नही कहता कि 'यह छोडो, वह छोडो', वह तो इतना मात्र ही कहता है—"प्यार करो, उस प्रेम-रूप से प्यार करो ।" जो उस सर्वोत्तम को अपना प्रेम-पात्र बनाता है, उसकी दृष्टि से अन्य सब वस्तुएँ गिर जाती है । वह और कुछ नही कह सकता, केवल इतना कह कर रह जाता है—"मै तो तेरा कुछ भी वर्णन नही कर सकता । इतना कह सकता हूँ कि तू मेरा प्रिय है, तू सुन्दर है, तू महासुन्दर है, और स्वय मूर्तिमान सौन्दर्य तू ही है ।

भक्ति-मार्ग मे आवश्यकता इस बात की है कि सौन्दर्य की तृष्णा प्रभु के प्रति रहे । मनुष्य के मुख पर क्या सुन्दरता है ? आकाश मे क्या है ? तारो मे क्या है ? चन्द्र मे क्या है ? यह सब भगवत्सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब है । भगवत्-कान्ति से सब कुछ कान्ति-

मान् है। उसी के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित है। मानुष-हृदयो के योग्य यदि कोई आकर्षण है तो केवल भगवान्। उस हरि के सिवा भला मन का और कौन हरण करेगा ? जब तुम देखते हो कि कोई पुरुष किसी के सुन्दर रूप पर मोहित होकर पीछे चला जा रहा है तो यह समझते हो कि थोडे से व्यवस्थित भौतिक परमाणु ही वास्तव मे उस पुरुष को खीच रहे है। कभी नही, उन भौतिक परमाणुओ के पीछे भगवान् के प्रेम-स्वरूप की छटा रहती है। उस पवित्र प्रभाव की तरग को ज्ञान-हीन पुरुष नही जान पाता है। वह जाने-चाहे न जाने, अवश्य उसी से आकर्षित होता है। भगवान् चुम्बक के समान है और हम सब लोग लोह की कीलो के समान है। हम उसके स्वरूप से आकृष्ट होते है और उसी की प्राप्ति के लिए चेष्टा करते है। वह भगवत्स्वरूप सब आकर्षणो का केन्द्र है। केवल उसकी सन्निधि प्राप्त करने की चेष्टा ही भक्ति-योग है। भक्ति के अतिरेक से सब लौकिक रूप और प्रलोभन दृष्टि और मन से गिर जाते है। यही भक्ति-मार्ग का वैराग्य तथा त्याग है। प्रभु की ओर आकर्षण होने स और सब आकर्षण विलीन हो जाते है। जब ऐसा बलवान् एव अनन्त भगवत्प्रेम मानव-हृदय मे प्रवेश करता है तो वह वहाँ किसी दूसरे के प्रेम के रहने के लिए अवकाश नही छोडता है।† भगवत्प्रेम का किसी के साथ द्वेष नही है, किन्तु भगवदनुराग के उदय होते ही तदितर मे स्वत ही वैराग्य हो जाता है। हरि-प्रेमी अपने इष्ट (हरि) को अन्तर्यामी एव व्यापक रूप से सब मे देखता है‡ और सब भगवत्प्रेमियो को अपना परिवार समझता है। वह जहाँ कही विशालता और सुन्दरता देखता है वहाँ भगवान् ही की छवि-छटा मानता है। चन्द्र-सूर्य से भी वह उसी के प्रकाश को देखता है। वह तो भयकर विषधर तक को अपना शत्रु नही

---

† प्रीतम छवि नैनन बसी, परछवि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आपु फिरिजाय।। रहीम

‡ 'सियाराममय सब जग जानी' रामचरितमानस।

मानता। सर्प-दश को गगवदाह्वान मानता ह । ऐसे ही भक्त को मार्वभौम भ्रातृत्व-भाव प्राप्त होता है । घृणा, असूया आदि निदित भाव उसके अन्त करण से निक जाते है । जिमको अन्तर्यामी रूप मे सर्वत्र अपने प्रभु की ही दृढ प्रतीति होती हो, वह किस पर क्रोध करे, किससे घृणा करे ओर किससे असूया करे ? उसके पास किसी दुर्भाव की खोज व्यर्थ हे । उमके पास केवल दुर्भावो का ही अभाव नही है अपितु अनेक मद्भाव भी भगवत्प्रेम के अतिरेक मे विलीन हो जाते है ।

भगवान् को अनन्य भाव से प्रम करना ही अनन्य भक्ति है। भगवान् म प्रेमभाव खते हो तो अकेले उसी मे रखिय। अन्य किसी मे मत रखिये। जब तक ऐसा नही होगा, अनन्य भक्ति नही कहलाएगी। देनिक अनुभव मे आने वाली बात है कि किसी काम मे जब तक पूरा मन नही लगता--मनोवृत्ति किमी दूमरी ओर भी विभक्त रहती है--उसम पूर्ण सफलता नही मिलती। किसी विस्तृत अनुभव के स्मरण की जितनी सभावना चित्त की एकाग्रदशा मे होती है उतनी उसकी विभक्त दशा मे नही होती। जब प्रेम का आलम्बन एकमात्र भगवान् ही होते है तो वृत्ति अन्यत सकलित होकर समग्र वेग और शक्ति से भगवान् ही मे लगती हे। वही भाव उस भगवत्स्वरूप के योग्य भी ठहरता है। इस अनन्यता मे अनन्य-भोग्यत्व, अनन्यशेषत्व और अनन्यधार्यत्व है। पीछे नकुल और कुलशेखर स्वामी के वचनो मे हमने भक्ति के साथ 'एका' पद कहा था, व इमी अनन्यता का वाचक हे। अन्यत्र जीव ओर ईश्वर के मध्य जिस भर्तृ-भार्या सम्बन्ध की भावना का उल्लेख किया जा चुका है वह भी अनन्यता ही की ओर सकेत करती है। जहाँ भार्या के प्रेम मे अनन्यता नही है, वहाँ पेम मे व्यभिचार है। इसी से द्रुपद ने अव्यभिचारिणी भक्ति के लिए प्रार्थना की हे। वे कहते है--"कीटो, पक्षियो, मृगो, साँप-केचुओ, राक्षसो, पिशाचो अथवा

अनन्य भक्ति

मनुष्यो मे भी जहाँ-कही मेरा जन्म हो, हे केशव ! आपके प्रसाद से आपही मे मेरी अचला एव अव्यभिचारिणी भक्ति हो।"*

नारदजी ने एक ही वाक्य मे निपटारा कर दिया है—"हरि की प्राप्ति केवल अनन्य भक्ति से हो सकती है, और सब तो विडम्बना है।"† गीता मे स्वय भगवान् का वचन है—"हे पार्थ, मै उस नित्ययुक्त योगी को सुलभ हूँ जो मुझे अनन्यचित्त होकर नित्यप्रति निरन्तर स्मरण करता है।"‡ गीता ही मे अनन्य कहा गया है—"अनन्यचित्त से चिन्तन करते हुए जो जन मेरी पूर्ण उपासना करते है उन नित्य सलग्न भक्तो के योग-क्षेम का निर्वाह मै करता हूँ।"¶

भक्ति योग के अधिकारी के लिए यह उचित है कि हृदय मे उत्पन्न हुई मधुर वृत्तियो को अन्यथा न जाने दे। उनको अच्छी तरह वश मे करके ऊँची गति देनी चाहिए। सर्वोत्तम गति वही है जिससे भगवान् का सान्निध्य प्राप्त हो सके। हर्ष-शोक का उदय और लय धूप-छाँह की भाँति इस जीवन मे प्राय होता ही रहता है। धन, पुत्रादिक के अभाव से जब मनुष्य शोकातुर होता है तो समझिये कि उसने शोकवृत्ति को अन्यथागति दी, क्योकि शोक का भक्ति-उपयुक्त व्यवहार भी तो होता है। शोक के उपयुक्त व्यवहार की दशा मे मनुष्य शोकाकुल इसलिए होता है कि उसे सर्वोत्तम भगवत्स्वरूप की प्राप्ति अभी तक नही हुई।

---

* कीटेषु पक्षिषु मृगेषु सरीसृपेषु रक्ष पिशाचमनुजेष्वपि यत्र तत्र।
जातस्य मे भवतु केशव त्वत्प्रसादात्वय्येव भक्तिरचलाऽव्यभिचारिणी च॥

† "भक्त्यात्वनन्यया लभ्यो हरिरन्यत् विडम्बनम्।"

‡ अनन्यचेता सतत यो मा स्मरति नित्यश।
तस्याह सुलभ पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिन॥] गीता

¶ अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जना पर्युपासते।
तेषा नित्याभियुक्ताना योगक्षेम वहाम्यहम्॥] गीता

यही शोक उसके मोक्ष का सहायक बनता है। अब आप इसलिए हर्षित होते हैं कि आपको थोड़े से रुपये मिल गये तो समझिये कि आपने हर्षवृत्ति को उत्कृष्ट गति नहीं दी, क्योंकि सर्वोत्कृष्ट भगवत्स्वरूप की सेवा में इस वृत्ति को नहीं लगाया। इसी प्रकार अन्यवृत्तियों में भी युक्त व्यवहार की आवश्यकता है। भक्त इतनी वृत्तियों में से एक को भी अन्यथा नहीं मानता है। वह तो सबको पकड़कर उत्साहपूर्वक प्रभु-अभिमुख कर देता है। चित्रकलाविद् होने पर भक्त भगवान् के ही मनोहरतम चित्र बनाने के लिए उत्सुक एवं संलग्न रहता है। शिल्पनिपुण होने पर भगवान् की अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा बनाता है। कवि होने पर अपनी शक्ति का प्रयोग भगवद्गुणगीत बनाने में करता है और यदि वह गाना जानता है तो हरिगुणगान करता है। यदि निपुण मालाकार है तो सुन्दर और उत्तम पुष्पों की मनोहर माला गूँथ कर भगवद्विग्रह को सुशोभित करता है। आशय यह है कि भगवद्भक्त का जीवन भगवन्मय होता है। वह भगवत्कैंकर्यपरायण होता है और भगवान् से यही चाहता है—"हे पुण्डरीकाक्ष! हमारा जीवन ऐसा कर दीजिए कि बँधी हुई अंजलि हो, झुका हुआ शिर हो, रोमांचित शरीर हो, गद्गदकंठ हो, साश्रुनेत्र हो और नित्य आपके युगल चरणारविंद के ध्यानामृत का आस्वादन करते रहें।"† उसके अन्तःकरण का भाव तो सदैव ऐसा रहता है—"निःसन्देह शरीर और शिर वही है जो कृष्ण को प्रणाम करने से धूलि लगकर धवल हो गया है, अन्धकारमुक्त सुन्दर नेत्र वही हैं जिनसे हरि-दर्शन होते हैं, निर्मल चन्द्र और शंख सी उज्जवल बुद्धि वही है जो माधव का ध्यान करे और अमृतवर्षिणी जिह्वा वही है जो पद-पद पर

---

† "बद्धेनांजलिना नतेन शिरसा गात्रैः सरोमोद्गमैः
कण्ठेन स्वरगद्गदेन नयनेनोद्गीर्णबाष्पाम्बुना।
नित्यं त्वच्चरणारविन्दयुगलध्यानामृतास्वादिना—
मस्माकं सरसीरुहाक्ष सततं सम्पद्यतां जीवितम्।"

पाहन हौं तो वही गिरि को, जो कियो कर छत्र पुरन्दर धारन,
जो खग हौ तो बसेरो करो नित, कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन ।।"

इन सब उक्तियो के पीछे एक आदर (श्रद्धा) का भाव रहता है । इसलिए भगवन्मन्दिरो ओर पवित्र स्थानो मे लोग शिर झुकाते है क्योकि वहाँ भगवान् का पूजन होता है । धर्म-शिक्षको के आगे भी इसीलिए शिर नवाते है कि वे भगवत्स्वरूप का उपदेश करते है। जिसके प्रति प्रेम न हो उसका आदर कौन करता है ? इन्द्रियो के शब्दादि विपयो मे मनुष्य कितना सुख मानता है। वह विषयो से आकृष्ट होकर किसी भी भय मे कही भी कूद पडता है। विषयो के प्रति हमारा आकर्षण जब भगवान् के प्रति हो जाता है तब वह भक्ति बन जाता हे, किन्तु आकर्षण मे वैसी ही तीव्रता और आकुलता होनी चाहिए। इसी भाव को तुलसीदास ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

कामिय नारि पियारि जिमि, लोभिय प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरन्तरहि प्रिय लागहु मोहि राम ।।

जब भक्त का हृदय एक अत्यन्त मधुर व्यथा का घर बन जाता है, जब वह अपने प्रियतम भगवान् के बिना तडपने लगता है तो समझिये कि उसका प्रेम सफल है। भक्त की यह मनोदशा 'विरह' के अन्तर्गत आती है। जब भक्त यह देखता है कि वह एकमात्र ज्ञेय अपने प्रियतम को न जान सका, न पा सका, तो उसका मन व्यवस्थित नही रहता, वह उन्मत्त हो जाता है। उसे कोई दृश्य सुन्दर नही लगता। किसी सासारिक रूप मे उसका आकर्पण नही होता । वह तन्मय हो जाता है और उसे उन्मत्त की भाँति प्रियतम ही प्रियतम दीख पडता है । यही मनोदशा भक्त की "एकरतिवि-चिकित्सा" है । प्रियतम की स्मृति हृदय को विह्वल बना देती है । भक्त तो भगवान् के सम्बन्ध से ही सुनना चाहता है और उसी का गुणगान करता रहता है। उसे किसी दूसरे की वार्ता ही अच्छी

नही लगती।† उसका मैत्रीभाव उसी की ओर झुकता है जो केवल प्रभु की वार्ता करता है। कुछ और ऊँची मनोदशा मे वह अपने जीवन को अपना नही समझता। वह उसका निर्वाह भगवान् के हेतु करता है। उसे यह जीवन इसलिए सुन्दर प्रतीत होता है कि वह भगवान् का मन्दिर है। उसमे और किसी की प्रतिष्ठा कैसे हो सकती है? यह उस मन्दिर का सौभाग्य है कि उसमे भगवान् की प्रतिष्ठा है। उसके लिए यही मानव-जीवन की सार्थकता है। "जिसको सब देव नमस्कार करते है और तो और मुमुक्षु और ब्रह्मवादी तक भी"‡ वह तो भक्त का सर्वस्व है, प्राण है। भक्त उसके बिना अत्यातुर हो जाता है।

भक्त लोग भगवान् की सब विभूतियो को सद्भाव से देखते है, किन्तु उनकी एक रीति है कि वे एक-एक को पृथक्-पृथक् प्यार न करके सबके स्वामी परम प्रेमस्वरूप प्रभु मे अपनी भक्ति स्थिर करते है। इससे प्रेम स्वत ही सर्वत्र फैल जाता है। इस स्थितिवालो को 'तदीयता' की प्रतीति होती है। जो कुछ है, सब प्रभु का ही है, वे ऐसा विचार करते है और उन्हे सब वस्तुओ मे पवित्रता दीखने लगती है क्योकि अपने प्रियतम का जो कुछ भी है वह प्यारा है। दैनिक अनुभव की बात है कि लोक मे अपने प्रियतम की सब वस्तुएँ प्यारी लगती है। इसी प्रकार भक्ति के भगवान् मे सम्पन्न हो जाने पर भक्त को सारा जगत् प्यारा लगता है, क्योकि यह सब उस हृदयेश की विभूति है। इसी स्थिति मे तुलसीदासजी कहते है—

"सियाराममय सब जग जानी। करौ प्रणाम जोरि जुग पानी।"
एक रामभक्त से किसी ने पूछा—'यह स्थान किसका है?' वह बोला—'श्री रघुनाथजी का।' 'यह नाग किसका है?' 'श्री रघु-

---

† 'अन्यां वाच विमुचय'

‡ 'य सर्वे देवा नमस्यन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्चेति'।

नाथजी का।' 'ये दास किसके है ?' 'श्री रघुनाथजी के।' इसी प्रकार वह अपनी सब वस्तुओ को रघुनाथजी की बताता चला गया। अन्त मे पूछनेवाले ने पूछा—'रघुनाथजी किसके है ?' उसने उत्तर दिया—'मेरे।' जब सर्वस्व पर भगवदधिकार की मान्यता सिद्ध हो जाती है तभी समर्पण की भावना का उदय होता है। इसी भावना को कबीर के शब्दो मे देखिये—

मेरा मुझको कुछ नही, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौपते क्या लागत है मेरा ॥

जो सर्वत्र 'सर्वभूतमय हरि' को देखते है, वे किसी को दुख कैसे दे सकते है। उनका हृदय प्रेमप्रवाह का अखण्ड स्रोत बन जाता है। भक्त को और चाहिए भी क्या ? उसे तो अखण्ड प्रेम चाहिये। वह मोक्ष तक नही चाहता—

'भक्ति देहु अनपावनी, पद न चहौ निर्वान।'—तुलसीदास

क्योकि भगवान् स्वय प्रेमस्वरूप है—

प्रेम हरी को रूप है, त्यो हरि प्रेमस्वरूप।
एकहि ह्वै द्वै मै लसै, ज्यो सूरज अरु धूप ॥—रहीम

भक्त प्रेमप्रवाह मे क्षणिक बाधा भी सहन नही कर सकता।‡

जब अविच्छिन्न प्रेमधारा अनवरत प्रभु की ओर बहती है तो उस हृदयेश के अतिरिक्त किसी दूसरे को उसमे प्रवेश करने का अवकाश नही मिलता। उस समय माया के बन्धन टूटने लगते है और पवित्रता उज्ज्वल हो जाती है।

प्राय लोकप्रेम का सामान्य आधार पारस्परिकता है। जहाँ बदला मिलता है वहाँ यह बना रहता है। जहाँ बदला नही मिलता

---

‡ सा हानिस्तन्महच्छिद्र सा चान्ध जड मूढता।
यन्मुहूर्त क्षण वापि, वासुदेव न चिन्तयेत् ॥—मार्कण्डेय

तथाच -

निमिष निमिषार्द्धं वा प्राणिना विष्णुचिन्तनम्।
क्रतुकोटिसहस्राणा ध्यानमेक विशिष्यते ॥—अगस्त्यजी

वहाँ प्रेम मे प्राय शिथिलता एव उदासीनता आजाती है । यह स्वाभाविक प्रेम का लक्षण नही है । प्रेम के लिए प्रेम करना प्रेम का स्वाभाविक और उत्कृष्ट स्वरूप है । सत्प्रेम विनिमय और व्यापार से परे की वस्तु है । वह लेन-देन नही जानता । जब तक हृदय लौकिक आकाक्षाओ का आवास बना रहता है, जब क वह इच्छा-मुक्त नही होता, तब तक प्रेम मे गम्भीरता और अनन्यता नही आमकती । अतएव सत्प्रेम का बदला कुछ नही है, केवल प्रेम है । जिस प्रकार सुन्दर दृश्य से आप कुछ याचना नही करते, वह केवल आपका आल्हादन करता है, उसी प्रकार सच्चा भक्त भक्ति से कुछ चाहता नही है । वह स्वय आनन्दस्वरूप है । उससे उसे आनन्द मिलता है ।

सच्चे प्रेम की अवस्था का एक परिचय यह है कि उसमे भय के लिए कोई अवकाश नही है । सच्चा प्रेम भय से नही होता । भय से शासन हो सकता है, निरकुशता और स्वच्छन्दता पर अधिकार हो सकता है, परन्तु भय से प्रेम का उदय नही हो सकता । जिस प्रेम को भय से माना जाता है वह सच्चा प्रेम नही, केवल दिखावे का होता है । भय के ऊपर प्रेम की सदा विजय होती है । मृत्यु कितनी भयकर है, किन्तु प्रेमविजित सतियो का हृदय उससे तनिक भी विचलित नही होता । हो सकता है कि कोई स्त्री कुत्ते के भौकने तक से घर छोडकर निकल भागे, किन्तु ऐसे उदाहरण है जिनमे ऐसी स्त्रियो ने सिह के आक्रमण के समय प्रेम के आवेश मे अपने शिशु की रक्षा के लिए अपने प्राण तक खोदिये है। इस प्रकार भय को प्रेम जीत लेता है । प्रेम-मार्ग मलीन और दुर्बल नही है। वह तो अति निर्मल और सबल है। इसलिए सच्चे भक्त निर्भय-पद को प्राप्त होते है। श्री यामुनाचार्य स्वामी ने भक्त के लिए 'गतभी' और 'अभी' विशेषणो का प्रयोग किया है जो उचित है। भय मे कुछ दुख का अश रहता है और प्रेम अथवा भक्ति मे आनन्द की लहरे उठती है जिनका दुख के साथ तादात्म्य नही हो सकता है ।

सत्प्रेमदशा का तीसरा परिचय यह है कि आश्रय को (भक्त को) आलम्बन (भगवान्) के समान और कोई नही दीखता। जो अपनी दृष्टि मे सर्वोत्तम नही उसके साथ सर्वोत्तम प्रेम कैसे किया जासकता है । कभी-कभी अयोग्य स्थल मे भी प्रेम होजाता है, किन्तु प्रेमी के विचार मे प्रिय सर्वोत्कृष्ट होता है । लैला के प्रति मजनूँ का प्रेम इसी प्रकार का था । भगवान् के रूप, गुण और विभूति अद्वितीय है । उनकी कही समता नही है । ऐसे भगवान् मे जिसका स्वाभाविक प्रेम होजाता है, वह मनुष्य सुबुद्धि हो चाहे अबुद्धि, महात्मा चाहे दुरात्मा, पुरुष चाहे स्त्री, पढा-लिखा हो चाहे कुपढ, उसका सर्वस्व भगवान् ही होता है—वह भगवान् जिसमे सौन्दर्य, विशालता और सामर्थ्य आदि पूर्ण है, जिसका समकक्ष कोई और नही है । ऐसा प्रेमी स्वार्थ और भय की परिधि से बाहर अयाचन्त होकर अपना सर्वस्व प्रभु को समर्पित कर देता है । जब भक्ति निर्भय हो जाती है और समर्पण की भावना दृढ बन जाती है तो ऐसे प्रश्न नही उठते कि 'परमेश्वर युक्तियो से सिद्ध हो सकता है या नही ? 'वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है या नही ? प्रेम म एक विचित्र मधुरता हुआ करती है जो मनुष्य की प्रकृति को हिला देती है और जो उसके अस्तित्व के प्रत्येक परमाणु मे व्याप्त होजाती है । तब स्वत ही उसका प्रभु से सम्बन्ध-भाव सजग हो जाता है । इसी दशा मे किसी भक्त को यह भाव प्रत्यक्ष होजाता है कि "प्रभु ही एक मात्र पुरुप है, इतर हम सब स्त्री है ।" किसी को यह भाव प्रत्यक्ष होता है कि "प्रभु पिता है हम सब उसकी सन्तान है ।" इसी प्रकार किसी को दास्य भाव और किसी को सख्य भाव प्रत्यक्ष होता है । जिस प्रभु से बढकर न कोई सुन्दर है, न विशाल है, न विभूतिवान् है, न दयालु है, न पवित्र है, न उदार है, न मृदु है, न मधुर है, न सामर्थ्यवान है, और न प्रियदर्शन है तथा जिस प्रेम-सागर मे सब भक्तो के हृदयो की प्रेम सरिताएँ गिरती है, ऐसे प्रियतम के सिवा और कौन है जो पति बनने के योग्य ठहरे ?

अथवा स्वामी, सखा वा बन्धु बनने । की योग्यता भी किसमे है ? ऐसी उत्तम भक्ति की दशा मे मुक्ति की कौन परवाह करता है ? भला जो भक्त भगवान् के परम पावन प्रेमस्वरूप मे विलीन हुआ बैठा है अथवा परम पवित्र प्रेम की उन्मत्तता का आनन्द भोग रहा है, वह मुक्ति-भुक्ति की परवाह ही कब कर सकता है ? वह तो नित्य निरन्तर प्रवाहमान भक्ति-रस की धारा चाहता है । उसे मुक्ति-भुक्ति की वाछा नही होती । वे तो उसके भक्ति-भाव की दासी बनी रहती है । श्री यामुनाचार्यजी भगवान् से निवेदन करते है—

'हे भगवन् ! जिस प्रकार मुझको मुझमे नित्य रहने वाली भवदीयता का आपने स्वय बोध कराया है, वैसे ही कृपा करके अनन्यभोग्यता भक्ति भी मुझे प्रदान कीजिये‡ ।"

ऊपर श्री आचार्यजी ने भक्ति को बोध (ज्ञान) से ऊँचा माना है क्योकि उनकी तृप्ति केवल बोध से नही होती । वे तो अनन्यभोग्यता भक्ति चाहते है, अतएव वही उनका साध्य है । जिस प्रकार प्रयाग के ज्ञान से (प्रयाग कहाँ है ? कैसा है ?) ही प्रयाग पहुँचना सभव नही है, चलने पर ही प्रयाग का मिलना सभव है उसी प्रकार भगवान् भक्ति से मिलता है, ज्ञान से नही मिलता । यहाँ भक्ति ही गति है । इसी से जीवात्मा परमात्मा की ओर खिचता है । स्वरूप तथा सम्बन्ध का ज्ञान होने से बोध अवश्य होता है, परन्तु दो वस्तुओ के बीच जितनी दूरी होती है वह उतनी ही बनी रहती है । जैसा कि ऊपर के उदाहरण से व्यक्त है । बोधमात्र से बीच की दूरी हठकर समीपता नही आजाती । जीवात्माओ के आपस मे समीप खिच आने की शक्ति को प्रेम कहा जासकता है, किन्तु परमात्मा की ओर जीवो के खिचने की शक्ति को 'भक्ति'

भक्ति और ज्ञान

‡ 'अवबोधितवानिमा यथा मयि नित्या भवदीयता स्वय ।
कृपयैवमनन्यभोग्यता भगवन् भक्तिमपि प्रयच्छ मे ।।"

कहना ही अधिक उपयुक्त है, यद्यपि उसे प्रेम सज्ञा देने मे भी कोई हानि नही है ।

कुछ ज्ञानवादियो का यह कहना है कि जीव के उद्धार के लिए ज्ञान के सिवा कोई दूसरा मार्ग ही नही है । यहाँ ज्ञान का अभिप्राय और भक्तिक्षेत्र मे उसकी सगति का समझ लेना आवश्यक है । इस मत्र को देखिये–"वेदाहमेन पुरुष नान्यपन्था विद्यते अनाय ।" इसमे चूल्हे-चक्की अथवा जीव को ईश्वर मानने का नाम तो ज्ञान कहा नही है । 'तमेव' कह कर केवल परमात्मा का ज्ञान लिया है जिसका समावेश अन्यत्र कहे हुए नौ सम्बन्धो मे से ज्ञातृज्ञेय-भाव मे हो सकता है । उसका प्रयोजन यही है कि ज्ञेय (जानने योग्य) एक मात्र परमात्मा है । गीता मे कृष्ण ने अपने इस वाक्य मे स्वय घोषित किया है–"सर्वेषु वेदेष्वहमेव वेद्यम्" (सब वेदो मे जानने योग्य मे ही हूँ) "वेद-वेद्ये परे पुसि" से भी यही भाव व्यक्त होता है कि 'वेद मे जानने योग्य परमात्मा ही है ।' यदि प्रयाग के यात्री को प्रयाग का ज्ञान नही है तो यह सभव है कि वह रावलपिडी पहुँच जाए । इस अज्ञानयुक्त कार्य से यात्री का अनिष्ट होगा । इसी प्रकार मानव, यह जाने बिना कि भक्ति करने योग्य एक परमात्मा ही है, भक्ति करने लगे तो आलम्बन मे भूल होने से ससार-बधन उच्छिन्न नही होता । इसीलिए 'ज्ञान के सिवा दूसरा मार्ग नही है,' यह वाक्य भक्ति-पद्धति के साथ असगत सिद्ध नही होता । यदि यात्री ने पहले से ही अपना मुख प्रयाग की ओर कर रक्खा है तो रावलपिडी पहुँचने की बात ही कहाँ उठती है ? स्वरूप तथा सम्बन्ध-ज्ञान के ठीक-ठीक होने की दशा मे भक्ति विशेष सुगम बन जाती है । इसी कारण भगवान् कृष्ण ने गीता मे ज्ञानी भक्त को सबसे अच्छा कहा है ।

ज्ञान-पक्षधरो का कहना है कि मोक्ष-प्राप्ति केवल ज्ञान से ही हो सकती है, भक्ति की कोई आवश्यकता प्रतीत नही होती ।

उन्हे आवश्यकता की प्रतीति ही क्यो हो ? उनके चिन्तन की पद्धति ही दूसरी है । पीछे कहा जा चुका है कि भक्ति नाम गति (चलना) का है । गन्तव्य गति के बिना प्राप्त नही हो सकता । जब चलोगे तभी पहुँच सकोगे । जिनके मन मे चलना है ही नही उनके लिए पहुँचने की बात भी व्यर्थ है । भक्ति-मार्ग मे जीव अणु है । उसका परस्वरूप वैकुण्ठनाथ की सन्निधि मे पहुँचना है । यही उसका अन्तिम एव एकमात्र लक्ष्य है । उसको प्राप्त करने के लिए मध्यवर्तिनी दूरी को मिटाकर वासुदेव के सान्निध्य मे ले पहुँचने वाली शक्ति की आवश्यकता है । यह शक्ति केवल भक्ति मे है, और किसी मे नही । जो लोग केवल ज्ञान से मोक्ष मानते है उनके मत से जीवात्मा और परमात्मा दास-स्वामी के नित्य सम्बन्ध स युक्त दो वस्तु ही नही है । वे आत्मा को एक और विभु मानते है । आत्मा की विभुता से तात्पर्य है कि एक ही आत्मा सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है । जो सच्चिदानन्द नाम से विख्यात है उसमे यत्रतत्र कल्पित अज्ञान के भ्रमर (चकपहिए) पड गये है । वह भ्रान्त अश जीव नाम से अपनी कल्पना करता है । जब अज्ञान का भँवर टूटता है तो ज्ञान की सहजावस्था ही मुक्ति है । कही आने-जाने की आवश्यकता नही है । जिस प्रकार घट के फूटने पर घटाकाश मठाकाश मे विलीन हो जाता है अथवा मठ के टूटने से मठाकाश महदाकाश मे मिल जाता है, उसी प्रकार, उनके विचार से, जीवात्मा और परमात्मा की व्यवस्था है । उनका मत है कि घटाकाश, मठाकाश और महदाकाश वास्तव मे एक ही है । सब मे एक ही आकाश की व्याप्ति है । भिन्नता केवल घट-मठादि की उपाधि से प्रतीत होती है । इसी प्रकार एक ही विभु (आकाश के समान व्यापक) आत्मा सर्वत्र व्याप्त है । केवल अज्ञान की उपाधि से नानात्व आभासित हो रहा है । अज्ञान के हटते ही शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है । कही आने-जाने की आवश्यकता नही होती । मोक्ष की यह

कल्पना ही विचित्र ह । भक्त लोग इस मोक्ष की कभी इच्छा नही करते। न यह शायद उनकी कल्पना मे ही कभी आता है । भक्ति-क्षेत्र मे जीवात्मा को अणु माना जाता है । उसका माया-मण्डल के बाहर परमात्मा के दिव्य मगल विग्रह की सन्निधि मे पहुँचना ही मोक्ष है । इसके लिए भक्ति की आवश्यकता हे क्योकि परमात्मा के समीप पहुँचाने वाली शक्ति यही हे ।'

भक्ति-क्षेत्र मे ज्ञान-क्षेत्र की अभेद दृष्टि विकल सिद्ध होती हे । भक्त जीवात्मा ओर परमात्मा मे भेद देखता है, दोनो के बीच मे एक दूरी देखता ह । उसी दूरी को मिटाने के लिए 'भक्ति' की शक्ति काम करती है । वेद-शास्त्रो मे ऐसे अनेक वाक्य है जिनसे 'भेद' सिद्ध होता हे । वेद के वाक्य को देखिये—

"आत्मनि तिष्ठन्नात्मामन्तरो"

पुनश्च,

"पृथगात्मान प्रेरित च मत्वा"

इससे जीवात्मा ओर परमात्मा की भेद-सिद्धि होती है । अन्यत्र कहा जा चुका हे कि जीव अणु है ओर भगवान् शुद्ध अन्तर्यामी हे । जीव परिणामी है और परमात्मा अपरिणामी है । दोनो अज है । बद्ध जीव कर्मादि के फल से माया बन्धन मे रहते है, किन्तु परमात्मा माया-बन्धन से बाहर हे । वह माया का स्वामी है । भक्ति दास को माया के बन्धन से निकाल कर परमात्मा के समीप लेजाने वाली शक्ति है । ऐसी शक्ति का परित्याग नही किया जा सकता । परित्याग उसी वस्तु का करना चाहिए जो मिथ्या हो, अनित्य हो । यदि माया का बन्धन भी मिथ्या मान लिया जाए तो भक्ति को भी मिथ्या माना जा सकता हे, किन्तु आप्त-शास्त्र-वाक्यो से यह सिद्ध हे कि परमात्मा, जीवात्मा ओर माया, तीनो नित्य है, तीनो सत्य है । परमात्मा धारक है, नियामक है, और शेषी है । जीवात्मा तथा माया धार्य है, नियाम्य है तथा शेष है । नित्य जीव नित्यविभूति का आनन्द भोगते है, माया

बन्धन मे नही आते । मुक्त जीव माया-बन्धन को छोड चुके है और बद्ध जीव माया मे बँधे हुए है । माया परमात्मा की है । परमात्मा उसे जिस जीव से हटाना चाहता है, हटा देता है । परमात्मा का दिव्य मगल विग्रह माया-मण्डल से परे है । जीव को उस विग्रह का दर्शन मिलना चाहिए, उसकी सन्निधि मे पहुँचना चाहिए । यह सिद्धि भक्ति से मिलती है ।

परभक्ति, पर ज्ञान और परमा भक्ति

यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि जो जानने योग्य है, उपासना करने योग्य है, भक्ति करने योग्य है अथवा प्राप्त करने योग्य है, वह परमात्मा ही है । यह ज्ञान वेद-शास्त्रो द्वारा होता है, किन्तु यह ज्ञान ऐसा है जैसा चित्र मे प्रयाग-दर्शन । मुण्डकोपनिपद् मे लिखा भी है —— "द्वे विद्ये वेदितव्ये इति हस्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति । पराचैवापराच । तत्रापरा ऋग्वेदोयजुर्वेद सामवेदो ऽथर्ववेद शिक्षाकल्पोव्याकरण निरुक्त छदो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते–" अर्थात् ब्रह्मज्ञानी लोग कहते है कि जानने योग्य विद्या दो प्रकार की है परा (ऊँची) और अपरा (नीची) । उनमे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, और ज्योतिष–यह अपरा है, तथा जिससे उस अक्षर परमात्मा का ज्ञान होता है वह परा है । इस दृष्टि से वेद-शास्त्र भी, जब तक एक मात्र ज्ञेय भगवान् का ज्ञान नही कराते, अपरा विद्या ही ठहरते है । परा विद्या इससे ऊँची ठहरी, क्योकि इससे परमात्मा जाना जाता है । यह भी ज्ञान ही है, किन्तु वैसाही जैसा चित्र द्वारा प्रयाग का ज्ञान । चित्र द्वारा भी ज्ञान तो प्रयाग का ही हुआ, अजमेर का नही, परन्तु चित्र-दर्शन और साक्षात्-दर्शन मे अन्तर है । प्रयाग को चित्र मे देखकर हम अपने को प्रयाग मे पहुँचा हुआ नही मान सकते, किन्तु चित्र मे प्रयाग देख कर एक लक्ष्य अवश्य बन जाता है । उसके देखने की लालसा अवश्य सजग हो जाती है । प्रयाग दर्शनीय स्थल है, अवश्य देखना चाहिए–यह

भाव जाग्रत होजाता है। इस प्रकार का पूर्ण अनुराग 'परभक्ति' है। इसको साक्षात्कार-अभिनिवेश कहते हैं। फिर प्रत्यक्ष-दर्शन होने पर 'पर ज्ञान' की अवस्था कहलाती है। प्रत्यक्ष-दर्शन के उपरान्त सेव्य-स्वरूप के प्रति अत्यन्तानुरक्ति (ऐसी अनुरक्ति कि किंचिन्मात्र अन्तर न रहे) ही परमाभक्ति है। इसको अनुभवाभिनिवेश कहते हैं। इस विषय के समझने के लिए भर्तृहरिशतक का यह उदाहरण उपयुक्त है—

> अदर्शने दर्शनमात्रकामा, दृष्टे परिष्वङ्गरसैकलोला ।
> आलिङ्गितायां पुनरायताक्षा आशास्महे विग्रहयोरभेदम् ॥

यहाँ अदर्शन-दशा में दर्शनमात्र की कामना ही मानो परभक्ति है। दर्शन होना (साक्षात्ज्ञान) परज्ञान समझिये। फिर परिष्वंग रस के लिए एक मात्र लोलत्व एवं विग्रहाभेद की आशा (उत्कट इच्छा) ही मानो परमाभक्ति है। श्लोकगत लौकिक भावना को परमात्मा में पलट देने पर परभक्ति, परज्ञान और परमाभक्ति के सुन्दर उदाहरण बनते हैं।

परमाभक्ति की शर्त यह है कि वह अव्यभिचारिणी हो। उसी के वश में प्रभु होते हैं। अव्यभिचारी भक्त के प्रति ही 'पत्र, पुष्प, फल आदि' वचनों की घोषणा है। यह जानते हुए भी कि परमात्मा की कृपा सब पर होती है, भक्त लोग उसकी कृपा को अपनी-अपनी ओर चाहते हैं। जीव एकमात्र परमात्मा ही का भोग्य है। अनेक होने पर भी जीव किसी अन्य के दास नहीं हो सकते। परमात्मा ही को इनका स्वामित्व प्राप्त है। यदि जीव इस स्वामित्व में किसी दूसरे को भी अवकाश देते हैं तो उन्हें व्यभिचार दोष लगता है। इस दोष से परमात्मा मुक्त है। नाना जीवों में से प्रभु-कृपा एक पर या अनेक पर होने से प्रभु दोषी नहीं होते क्योंकि वे तो सबके एक ही स्वामी हैं। लौकिक व्यवहार में भी प्रायः ऐसा देखते हैं। एक पिता के दो छोटे-छोटे बालकों की कल्पना कीजिए। उनमें से एक पिता की गोद में बैठ कर, पिता की ओर अँगुली का

सकेत कर कर के, सुनाता है–'यह तो मेरे ही पिता जी है।" यह सुनते ही दूसरा भागकर पिता की गोद मे आचढता है और वैसे ही सकेत से वही बात कहता है। प्रेम का बस यही स्वभाव है। गोपियाँ कृष्ण को जगन्नाथ रूप मे नही भजती, गोपीनाथ रूप मे ही भजती है मानो गोपीनाथ कहने से भगवत्कृपा उनके ही भाग मे आती हो। सच तो यह है कि प्रेम का मार्ग ही निराला है। सच्चा प्रेमी अपने प्रिय के सिवा सब कुछ भूल जाता है। प्रिय का रूप, उसकी अलौकिक माधुरी ही प्रेमी की दृष्टि मे भरजाती है। धन, कीर्ति आदि सब उसकी दृष्टि से गिर जाते है। इस दशा को प्राप्त करके ही प्रेमी गोपियो की दशा को समझ सकेगा। गोपियो की भक्ति परम प्रेमरूपा है।*

तत्त्वज्ञान की कोई मात्रा प्रेमोन्माद की समता नही कर सकती। तत्त्वज्ञान मे शनै शनै लक्ष्य पर पहुँचने की शिक्षा दी जाती है, किन्तु प्रेम के प्याले से प्रेमी शीघ्र ही मद-विह्वल हो जाता है। आनन्दोन्माद छा जाता है। गोपियो का प्रेमोन्माद इसी प्रकार का था। काला-पीला, श्वेत-श्याम, दायाँ-बायाँ, ऊँचा-नीचा जो कुछ था, बस कृष्ण था। पत्ती-पत्ती और कण-कण मे कृष्ण ही की माधुरी दृष्टि-गोचर होती थी। गोपियो को यह जानने की परवाह नही थी कि कृष्ण सब जगत् के स्वामी है, सर्वशक्तिमान है, सर्व-व्यापक है वा अत्यन्त महान् है। वे तो कृष्ण-स्वरूप को केवल अनन्त प्रेम समझती थी और गोपाल जानती थी। ऐसे भाव के सामने मोक्ष भी तुच्छ है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या इस प्रकार परमात्मा की न्याय-व्यवस्था विशृंखल नही होती ? यह माना हुआ सत्य है कि शुभाशुभ कर्मा के शेप रहते हुए मोक्ष सभव नही है। तो फिर यह भी कैसे कहा जा सकता है कि गोपियाँ मोक्ष की दशा मे थी,

---

* "सा तु परमप्रेमरूपा यथा व्रजगोपिकानाम्।"

अथवा उससे भी ऊची दशा प्राप्त कर चुकी थी ? यह मानना भी क्या समुचित होगा कि गोपियो के सब सचित कर्म उसी समय समाप्त होने को आ गये थे ।

इसके उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि इससे परमात्मा की न्याय-व्यवस्था नही बिगडती । ध्यानपूर्वक दृक्पात करने पर विदित हो जाता हे कि उक्त न्याय-व्यवस्था भी ऐसे भक्ति-भावो की दासी हो जाती है । एक श्लोक मे यह स्पष्ट हो गया है कि "कृष्ण-स्वरूप के चिन्तन मे एक गोपी को इतना भारी आल्हाद हुआ कि उसके सब पुण्य समाप्त हो गये और उसकी अप्राप्ति मे इतना भारी दुख हुआ कि उसके सब पातक समाप्त हो गये । इस प्रकार वह गोपी 'मुक्त' हो गई ।"¶

भक्ति के प्रकार

भक्ति के नौ प्रकार माने गये है† –(१) श्रवण । (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पाद-सेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य, (९) और, आत्म-निवेदन । इन सब भावो का सम्बन्ध विष्णु से है अर्थात् ये सब भाव नारायण मे होने चाहिए ।

भगवद्विषय का सुनना 'श्रवण' है, भगवद्गुणो का कथन 'कीर्तन' है और भगवद्गुणो की स्मृति ही 'स्मरण' है । भगवच्चरणो का सेवन ही 'पाद-सेवन' है । भगवत्-शरीर (प्रतिमा आदि का) प्रसाधन (विलेपनादि) 'अर्चन' हे । भगवान् की स्तुति को वन्दन कहा जाता है । भगवान् के प्रति 'सेव्य' भाव रख कर अपने को 'सेवक'

¶ तच्चिन्ताविपुलाल्हाद क्षीणपुण्या च या तथा,
तद्प्राप्तिर्महादु खविलीनाशेषपातका ।
नि श्वासतया मुक्तिगतान्या गोपकन्यका ॥

† श्रवण कीतन विष्णो स्मरण पादसेवनम् ।
अर्चन वन्दन दास्य सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

भागवत, सप्तम स्कध

रूप मे स्वीकार करना 'दास्य' भाव है। भगवान् को 'सखा' (मित्र) रूप मे स्वीकार करना सख्य' भाव है और भगवान् को आत्मसमर्पण कर देना 'आत्म-निवेदन' है ।

१ प्रेमियो का आचरण ही विचित्र होता है । उनको अपने प्रियतम की 'चर्चा' सुनना जितना सुहाता है उतना अन्य किसी की 'चर्चा' सुनना नही सुहाता । जहाँ प्रियतम के रूप-स्वरूप, गुण-विभूति का प्रसग होता है वहाँ से परम प्रेमियो के कान हट ही नही पाते । कर्ण 'नान्य शृणोमि' कह कर प्रेमी के पूताचार को प्रतिष्ठित करते है । कुलशेखर स्वामी अपने श्रवणो को अच्युत-कथा ही के सुनने का आदेश देते है ('अच्युत-कथा श्रोत्रद्वय त्व शृणु') । यह सत्य है कि मनुष्य के 'बोध' पर 'श्रवण' का बडा भारी प्रभाव पडता है । इस कारण भगवद्-विषय सुनना ही उचित है । भागवत्-चतुर्थ स्कध मे कहा भी है—'हे नाथ ! जहाँ आपके चरणारविद का आसव (मकरन्द) न हो, ऐसी कामना मै न करूँ । यदि (प्रसन्न होकर) आप मुझे वर देते है तो यह दीजिए कि सन्तजनो के [अन्तर-हृदय मे से मुख द्वारा स्रवित (उस आसव) को पान करने के लिए मेरे अयुत (दस सहस्र) श्रवण हो ।‡

श्रवणविषयक इस उक्ति मे तथ्य है । यदि भक्तो से भगवच्चरित्र न सुना जाय अथवा गुरु से सदुपदेश न सुना जाय तो फिर अवलम्ब किसका लिया जाय ? इसी भाव को यह चौपाई व्यक्त करती है —

श्रवण किये बिन नर कह ध्यावै ।
जैसे अन्ध न मारग पावै ।।
श्रवण सुने बिन कछू न जानै ।
बिन जाने वस्तु न पहिचानै ।।

---

‡ तदप्यह नाथ न कामये क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासव ।
महत्तमान्तरहृदयान्मुखच्युतो विधत्स्वकर्णायुतमेष मे वर ।।
भाग०, स्कध ४,

बिना श्रवण अनुराग न होय।
यह निश्चय जानो सब कोय।

२ यह कहा जा चुका है कि कीर्तन से अभिप्राय भगवद्विषयक कथन है। हरिनाम-सकीर्तन, हरि-चर्चा, भगवद्गुण-वर्णन, अथवा भगवद्गुण-व्याख्यान, नारायण की स्तुति, भगवच्चरित्र-गान, भगवत्कथा-प्रसग, भगवत्स्वरूप-व्याख्या आदि 'कीर्तन' के ही अन्तर्गत है। सजय का कहना है, "कि आर्त, विपण्ण, शिथिल, भीत, घोर व्याघ्रादि मे वर्तमान प्राणी (मनुष्य) 'नारायण' शब्द मात्र का सकीर्तन कर के दु खविमुक्त होकर सुखी हो जाते है।"† किसी सन्त ने ठीक ही कहा है—

कीर्तन-महिमा कही न जात।
अजामेल की सुनलो बात॥
यह रसना है मुख मे चाम।
कृष्ण-कीर्तन बिन बेकाम॥

कर्ण का कहना है कि "मै अन्य कुछ बोलता ही नही, (नान्य वदामि)। अत्रि का उपदेश भी 'सदा गोविन्द-कीर्तन' है। एक महात्मा की परमात्मा से प्रार्थना है कि, ',हे मुकुन्द! मुझे श्री-वल्लभ, वरद, दयापर, भक्त-प्रिय, भव-लुण्ठन-कोविद, नाथ, नाग-शयन, जगन्निवास नामो का पद-पद पर आलाप करनेवाला कर दे।"¶ वसिष्ठ का वचन है कि "जिसकी वाणी पर 'कृष्ण' यह मगल नाम रहता है, उसके पातक उसी क्षण भस्म हो जाते है।"‡

---

† आर्ता विषण्णा शिथिलाश्च भीता घोरेषु व्याघ्रादिषु वर्तमाना।
सकीर्त्य 'नारायण' शब्द मात्र विमुक्तदु खा सुखिनो भवन्ति॥

¶ श्रीवल्लभेति वरदेति दयापरेति भक्तप्रियेति भवलुण्ठनकोविदेति।
नाथेति नागशयनेति जगन्निवासेत्यालापिन प्रतिपद कुरु मा मुकुद॥

‡ कृष्णेति मगल नाम यस्य वाचि प्रवर्तते।
भस्मीभवन्ति तस्याशु महापातककोटय॥

लोमहर्षण का कहना है कि "मैं निर्मल नाम नारायण का उच्चारण करता हूँ।"[1] गर्गाचार्य का मत है कि 'नारायण' यह मन्त्र है और वाणी वशवर्तिनी है, तो भी लोग घोर नरक मे पडते है, यह अद्-भुत है।"[2] अर्थात् मनुष्य 'नारायण' नाम का सकीर्तन करे तो नरक मे कभी नही पड सकता। 'नारायण' नाम का सकीर्तन भी कठिन नही है क्योकि वाणी अपने वश मे है। आश्चर्य तो यह है कि लोग फिर भी नाम-कीर्तन नही करते और घोर नरक मे गिरते जाते है। एक महात्मा का वचन है कि 'अमृत-वर्षिणी जिह्वा वह है जो पद-पद पर नारायण की स्तुति करती है। पराशर का वचन है कि "'हरि'—इन दो अक्षरो का उच्चारण जिसने एक बार भी कर लिया वह मोक्ष-गमन के लिए मानो तैयार ही है।"[3] पौलस्त्य ने कहा है कि "हे रस का सार जाननेवाली मधुर-प्रिय जिह्वा, तू 'नारायण' नाम के पीयूष का निरन्तर पान कर।"[4] धन्वन्तरि तो सकल रोगो की एक मात्र औषधि 'अच्युतानन्द गोविन्द' को ही मानते है। वे कहते है कि "अमोघानन्दवाले गोविन्द नाम के उच्चारण की भेषज से समस्त रोग नष्ट हो जाते है, यह मै सत्य कहता हू।"[5] शौनकादि अन्य महापुरुष भी कीर्तन का माहात्म्य वर्णन कर चुके है। जिस स्थान मे भगवत्कीर्तन होता है वह स्थान अनेक तीर्थों का तीर्थ माना जाता है। इस विषय मे सूतजी कहते

---

1 "वदामि नारायण नाम निर्मल।"

2 नारायणेति मन्त्रोस्ति वागस्ति वशवर्तिनी।
तथापि नरके घोरे पततीत्येतदद्भुतम्॥

3 "सकृदुच्चरित येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्ध परिकरस्तेन मोक्षाय गमन प्रति॥"

4 हे जिह्वे रससारज्ञे सर्वदा मधुरप्रिये।
नारायणाख्यपीयूष पिब जिह्वे निरन्तरम॥

5 अच्युतानन्द गोविन्द नामोच्चारण भेषजात्।
नश्यन्ति सकला रोगा सत्य सत्य वदाम्यहम्॥

है—"जहाँ भगवान् की उदार कथा का प्रसग है, वही गगा है, वही यमुना है, वही वेणी है, वही गोदावरी है, वही सिधु और सरस्वती है, और वही सब तीर्थ बसते है।"[6] भाषा मे इसी आशय को एक कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"जग्य करत तप करत कष्ट करि। बहुत वर्ष तै ह्वै प्रसन्न हरि॥
सो कीये कीर्तन लघु काल। रीझत थोरे माहिं दयाल॥"

भागवत एकादश स्कध मे भी यह लिखा है—"हे राजन! इस दोष-निधि कलियुग का एक बडा गुण है कि भगवान् के कीर्तन मात्र से ही बध-मुक्त होकर पर-स्वरूप की प्राप्ति की जा सकती है।"† 'मुकुन्दमाला' मे भी लिखा है—

श्रीमन्नामप्रोच्य नारायणाख्य के न प्राप्ता वाञ्छित पापिनोऽपि।
हा न पूर्वं वाक्प्रवृत्ता न तस्मिस्तेन प्राप्त गर्भवासादिदु ख।"

अर्थात् श्रीमन्नारायण नाम लेकर किस पापी ने 'वाछित' नही पाया? कष्ट की बात है कि उसमे अपनी वाणी को पहले प्रवृत्त नही किया। इसी से गर्भवासादि दु ख मिले।

(३) स्मरण से अभिप्राय भगवद्विषय का चिंतन करना, भगवद्गुणो का याद करना, भगवत्स्वरूप मे मन लगाना एव भगवच्चरित्रो का ध्यान करना है। ब्रह्मा का वचन है कि 'राग से विमुक्त, इस लोक और उस लोक को जाननेवाले जो मानव सतत सुर-गुरु नारायण का स्मरण करते है, मुक्तपाप वे चेतन उस ध्यान से माता के पयोधर-रस को पुन पान नही करते।"‡ कर्ण

---

6 तत्रैव गगा यमुना च वेणी, गोदावरी सिंधु सरस्वती च।
सर्वाणि तीर्थानि वसति तत्र यत्राऽच्युतोदारकथाप्रसग॥
"सा जिह्वाऽमृतवर्षिणी प्रतिपद या स्तौति नारायणम्।'

† "कलेर्दोषनिधे राजनस्ति ह्येको महान् गुण'।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबध पर व्रजेत्॥"

‡ 'ये मानवा विगतरागपरावरज्ञा नारायण सुरगुरु सतत स्मरन्ति।
ध्यानेन तेन हतकल्मषचेतनास्ते मातु पयोधररस न पुन पिबन्ति॥"

कहते है कि "अन्य न चिन्तयामि" अर्थात् भगवान् ही का चिंतन करता हूँ, दूसरे का नही । भगवान् कृष्ण ने स्वय कहा है —

"कृष्ण कृष्णेति कृष्णेति यो मा स्मरति नित्यश ।
जल भित्वा यथा पद्म नरकादुद्धराम्यहम् ॥

अर्थात् 'कृष्ण-कृष्ण', इस प्रकार जो मुझको नित्य प्रति स्मरण करता है, जल को भेदन कर निकले कमल की भाँति मै उसका नरक से उद्धार कर देता हूँ।' इस विषय मे विश्वामित्रजी कहते है—"मनुष्यो के मन मे स्थित देव का जो नित्य ध्यान करता है उसको दानो से क्या, तीर्थों से क्या, तपो से क्या और यज्ञो से भी क्या ?† महर्षि अत्रि भी 'गोविन्देति सदा ध्यान' का ही समर्थन करते है। श्री शुकदेवजी का उपदेश भी यही है कि "अच्युत कल्पवृक्ष है, अनत कामधेनु है, गोविन्द चिन्तामणि है एसे हरि-नाम का चिन्तन करना चाहिए।"‡ कश्यपजी ने पाप-सघात के उच्छेदन के लिए 'कृष्णानुस्मरण' का ही समर्थन किया है। वे कहते है —

"कृष्णानुस्मरणादेव पाप सघातपजर ।
शतधा भेदमाप्नोति गिरिर्वज्रहतो यथा ॥

अर्थात् कृष्ण के अनुस्मरण मात्र से पाप-सघात-पजर के सैकडो टुकडे होजाते है, जैसे वज्रपात से पर्वत के टुकडे होजाते है। लोमहर्षण ने भी नारायण नामक अव्यय तत्त्व के स्मरण को मान्यता देते हुए कहा है—

'स्मरामि नारायणतत्त्वमयव्यम्' ।

अगिरा ऋषि ने बडे सबल शब्दो मे 'हरि-स्मरण' की महिमा निरूपित करते हुए कहा है –

---

† किं तस्य दानै किं तीर्थैं किं तपोभि किमध्वरै ।
यो नित्य ध्यायते देव नराणा मनसि स्थितम् ॥

‡ 'अच्युत कल्पवृक्षोऽसावनन्त' कामधेनव ।
चिन्तामणिश्च गोविन्दो हरिनाम विचिन्तयेत् ॥

हरि हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृत ।
अनिच्छयापि सस्पृष्टो दहत्येव हि पावक ।।

अर्थात् दुष्ट चित्तो से भी किया हुआ हरि-स्मरण पापो को हरता है जैसे बिना इच्छा के भी स्पर्श की हुई अग्नि जलाती है।

वासुदेव के चिन्तन के अभाव को मार्कण्डेय ने बडी हानि, एव जडता माना है। "यदि वासुदेव का चिन्तन मुहूर्त वा क्षण भर भी न किया तो वह सब से बडी हानि, सब से बडा छिद्र (गर्त, दोष) एव सब से बडी अध-जड-मूढता है।"‡

एक भाषा कवि ने हरि-स्मरण की महत्ता को अपनी चौपाइयो मे इस प्रकार कहा है—

श्रवण कीर्तन करै जु कोय। ताको फल हरि सुमरिन होय ।।
हरि सुमरिन लाग्यौ जब हौन। ताको हृदय कियो हरि भौन ।।
अपनौ भवन बहुरि को त्यागै। अति उज्ज्वल राखत अनुरागै ।।

भागवत के ग्यारहवे स्कध मे भगवान् ने स्वय कहा है—

"विषयो का ध्यान करता हुआ चित्त विपयासक्त होजाता है और मेरा स्मरण करता हुआ चित्त मुझ ही मे आसक्त हो जाता है।"¶

'मुकुन्दमाला' का उपदेश इस क्षेत्र मे कितना सुन्दर है—

नाथे धातरि भोगिभोगशयने नारायणे माधवे,
देवे देवकिनन्दने सुरवरे चक्रायुधे शार्ङ्गिणि ।।
लीलाशेषजगत्प्रपञ्चजठरे विश्वेश्वरे श्रीधरे,
गोविन्दे कुरु चित्तवृत्तिमचलामन्यैस्तु किं वर्तनै ।।"

अर्थात् 'नाथ मे, कर्ता मे, शेषशायी मे, नारायण मे, माधव मे, देव मे,

---

‡ "सा हानि स्तन्महच्छिद्र सा चांधजडमूढता ।
यन्मुहूर्तं क्षण वापि वासुदेव न चिन्तयेत् ।।"

¶ "विषयान्ध्यायतश्चित्त विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्त मय्येव प्रविलीयते ।।"

देवकिनन्दन मे, सुरवर मे, चक्रायुध मे धनुर्धारी मे, समग्र लीला-जगत्प्रपच है उदर मे जिसके ऐसे विश्वेश्वर मे, श्रीधर मे, और गोविन्द मे (तू) चित्तवृत्ति को स्थिर कर। अन्यो से क्या प्रयोजन ? अन्यत्र परमा वैष्णवी सिद्धिको ध्यान या स्मरण से मिलने वाली कहा गया है—

"ध्यायन्ति ये विष्णुमनन्तमच्युत, हृत्पद्ममध्ये सतत व्यवस्थित ।
उपासकाना प्रभुमीश्वरेश्वर ते यान्ति सिद्धि परमा तु वैष्णवीम् ।।"

अर्थात् हृदयकमल के मध्य मे निरन्तर निवास करने वाले, उपासको के प्रभु, ईश्वरो के ईश्वर, अनन्त, अच्युत, विष्णु का जो लोग ध्यान करते है वे परमा वैष्णवी सिद्धि को प्राप्त होते है ।

वास्तव मे बुद्धि वही है जो परमात्मा के ध्यान मे समर्थ है । एक महात्मा ने ऐसी बुद्धि की ओर इस प्रकार इगित किया है—

"सा बुद्धिर्विमलेन्दुशङ्खधवला या माधवध्यायिनी ।"

("निर्मलचन्द्र और शख के समान धवल बुद्धि वह है जो माधव का ध्यान करती है ।"

४. पाद-सेवन—

इसका अभिप्राय है भगवच्चरणारविन्द का सेवन । इसकी महिमा अपार है । स्वामी यामुनाचार्य ने पाद-सेवन की महिमा इन शब्दो मे लिखी है —

"यन्मूर्ध्नि मे श्रुतिशिर सु च भाति यस्मि
न्नस्मन्मनोरथपथ सकलस्समेति ।।
स्तोष्यामि न कुलधन कुलदैवत तत् ।
पादारविन्दमरविन्दविलोचनस्य ।।"

अर्थात् 'भगवान् पुण्डरीकाक्ष के चरणारविन्द जो मेरे मस्तक पर और वेद के शिर पर प्रकाशमान है, जिनमे हमारे सब मनोरथमार्ग पहुँचते है, जो हमारे कुलधन और वशपरपरागत दैवत है, उनकी मै स्तुति करूँगा ।"

भगवच्चरणो की परम शरण्यता के विषय मे स्वामी यामुनाचार्यजी लिखते है—

"न धर्मनिष्ठोस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमास्त्वच्चरणारविन्दे ।
अकिचनो नान्यगति शरण्य त्वत्पादमूल शरण प्रपद्ये ॥"

अर्थात् "मै न तो धर्मनिष्ठ ही हूँ और न आत्मज्ञानी ही। आपके चरणारविन्द मे भक्तिमान् भी नही हूँ। मै अकिचन और अनन्य गति हूँ। हे शरण्य ! आपके चरणमूल की शरण मे प्राप्त होता हूँ।'

आशय स्पष्ट है कि जो ज्ञान, भक्ति और योग से विहीन है, जो दीन ओर अशरण हे, उसे आपके चरणो मे शरण अवश्य मिलती है। किन्तु भगवच्चरणारविन्द की परिचर्या का सौभाग्य बडी असाधारण कक्षा मे ही जीव को प्राप्त होता है। इस विषय मे एक महात्मा की उक्ति है—

अमर्याद क्षुद्रश्चलमतिरसूयाप्रसवभू
कृतघ्नो दुर्मानी स्मरपरवशो वञ्चनपर ।
नृशस पापिष्ठ कथमहमितो दु खजलधे–
रपारादुत्तीर्णस्तव परिचरेय चरणयो ॥

"मै मर्यादारहित हूँ, क्षुद्र हूँ, चलमति हूँ, असूया उत्पन्न होने की भूमि हूँ, कृतघ्न हूँ, दुरभिमान हूँ, काम के वश मे हूँ, वचक (ठग) हूँ, निर्दय ओर पापिष्ठ हूँ, फिर इस अपार दु ख सागर से कैसे उत्तीर्ण होकर आपके चरणयुगल की परिचर्या करूँ ?

एक अन्य स्थान पर भगवच्चरणो की महिमा का निरूपण इस प्रकार किया गया है –

१ निरासकस्यापि न तावदुत्सहे महेश हातु तव पाद पकज ।
रुषा निरस्तोऽपि शिशु स्तनधयो न जातु मातुश्चरणो जिहासति ॥

२ तवामृतस्यदिनि पाद-पकजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति ।
स्थितोऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरक हि वीक्षते ॥

३ त्वदघ्रिमुद्दिश्य कदापि केनचिद्यथा तथा वापि सकृत् कृतोऽञ्जलि ।
तदैव मुष्णात्यशुभान्यशेषत शुभानि पुष्णाति न जातु हीयते ॥

४ उदीर्ण ससार दवाशु शुक्षणि क्षणेन निर्वाप्य पराच निर्वृति ।
प्रयच्छति त्वच्चरणारुणाम्बुजद्वयानुरागामृतसिन्धु सीकर' ।।

५ विलासविक्रान्त परावरालय नमस्यदार्तिक्षपणे कृतक्षण ।
धन मदीय तव पाद-पकज कदा नु साक्षात् करवाणि चक्षुषा ।।

६ कदा पुन शङ्खरथाङ्गकल्पक ध्वजारविन्दाकुशवज्रलाञ्छन ।
त्रिविक्रम त्वच्चरणाम्बुजद्वय मदीयमूर्द्धानमल करिष्यति ।।

१ हे महेश, आशा न देने वाले आपका चरण कमल छोडने को कभी मेरा उत्साह नही होता है । स्तन्य पान करने वाले शिशु को यदि उसकी माता रोष करके फेकदे तो भी वह माता के चरणो को कभी नही छोडता ।

२ जिसने अपनी आत्मा तेरे अमृत टपकाते हुए चरणारविन्दो मे निवेशित करदी है, वह किसी दूसरी वस्तु की इच्छा कैसे करे ? पुष्परस से पूरित कमल पर बैठा हुआ भ्रमर इक्षुरक की ओर देखता भी नही है । दक्षिण मे इक्षुरक नाम का एक छोटासा वृक्ष होता है । वह काँटे वाला होता है । यदि भ्रमर उस पर जाकर बैठे तो उसका स्वरूप भ्रष्ट होजाता है । इसी प्रकार भगवच्चरणारविन्द को छोड कर दूसरी ओर को लगे हुए जीव का स्वरूप भी भ्रष्ट होजाता है ।

३ तेरे चरणो को उद्देश्य करके जब कभी, जो कोई भी, किसी प्रकार से भी एक बार भी अजलि बाँधले, तो वे चरणारविन्द उसी समय सब अमगलो को दूर करके नि सन्देह मगल कर देते है ।

४ तेरे युगल चरणारविन्दो के अनुराग रूपी अमृत-सागर की एक विन्दु भी ससार की उठी हुई दावाग्नि को क्षणमात्र मे शान्त करके उत्कृष्ट सुख प्रदान कर देती है ।

५ ब्रह्मादिक श्रौर इन्द्रादिक के लोको के विलास को परिमित करने वाले, प्रणाम करने वालो के दु खो को एक क्षण मे

मिटा देने वाले आपके चरण-कमल मेरे धन है। उनका दर्शन मै नेत्रो से कब करूँगा ?

६ हे त्रिविक्रम*! तेरे युगल चरणारविन्द, जिनमे शख, चक्र, कल्पवृक्ष, ध्वजा, कमल, अकुश और वज्र के चिन्ह है, मेरे मस्तक को कब अलकृत करेगे ?

एक अन्य महात्मा भगवच्चरणो मे निश्चल भक्ति माँगते हुए कहते है—

नास्था धर्मे, न वसु निचये, नैव कामोपभोगे,
यद्यद्भव्य भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम् ।
एतत्प्रार्थ्यं मम बहुमत जन्मजन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भोरुह युगगता निश्चला भक्तिरस्तु ।।

अर्थात् मेरा प्रयोजन न धर्म से है, न धन एकत्रित करने से है, और न काम के उपभोग से है। हे भगवन्, पूर्वकर्मों के अनुसार जो कुछ होना है वह हो। हाँ, इतनी मात्र मेरी प्रार्थना है कि आपके युगल चरणारविन्दो मे मेरी निश्चला भक्ति जन्मजन्मान्तर मे भी बनी रहे।

अन्यत्र वे महात्मा चरण-भक्ति माँगने का सुन्दर कारण बताते हुए कहते है—

तृष्णा तोये मदनपवनोद्भूतमोहोर्मिमाले,
दारावर्ते तनयसहजग्राहसघाकुले च ।
ससाराख्ये महति जलधौ मज्जता नस्त्रिधामन्
पादाम्भोजे वरद भवतो भक्तिभाव प्रयच्छ ।।

अर्थात् हे भगवन्, हे वरद, ससार नाम वाले इस महासागर मे, तृष्णा का जल है और मदन रूपी पवन से इसमे मोहरूपी लहरो

* **त्रिविक्रम—तीन पद उठाने वाले भगवान् का नाम 'त्रिविक्रम' है। यहाँ तात्पर्य यह है कि 'त्रिविक्रम' को 'पद' उठाने का अभ्यास है और उनका विक्रम प्रसिद्ध हो चुका है। अतएव त्रिविक्रम ही मेरे शिर पर चरण रखकर शोभित कर सकते है।**

की परम्परा उठी हुई है। इसमे दारा (स्त्री) रूपी भ्रमर है और यह सतति रूपी ग्राहो से व्याप्त है। इसम डूबते हुए हमको अपने चरण-कमलो का भक्ति-भाव दीजिये।

एक अनुभवी कवि ने भी ऐसा ही लिखा है–

"कृतान्त (यमराज) की दूती जरा कर्णमूल के पास आकर कहती है कि लोगो सुनो—पर-स्त्री, पर-द्रव्य की वाञ्छा छोडो और रमानाथ (भगवान् विष्णु) के पादारविन्द की सेवा करो‡।"

इस सब कथन का आशय सक्षेप मे यह है कि भगवच्चरणारविन्द की सेवा सर्वोत्कृष्ट है और इसके द्वारा असख्य प्राणी ससार-सागर से उत्तीर्ण होगये है। भगवान् सर्वागसम्पन्न है और सौन्दर्य तथा अन्य गुणो मे कोई अग भी न्यून नही है तथापि सर्वसाधारण जीवमात्र का सम्बन्ध भगवान् के चरण-कमलो ही से है।

५ अर्चन—

भगवदर्चन का माहात्म्य बहुत विलक्षण है, अतएव यह अत्यन्त आवश्यक है। लिखा भी है कि "मन, वाणी और काया से उत्पन्न हुए ब्रह्महत्यादिक पाप तक शालिग्राम-शिला के अर्चन से शीघ्र नष्ट हो जाते है।¶"

अर्चन मे घोर पापो के नाश करने की शक्ति है। इसका प्रतिपादन यमराज की इस उक्ति से हो जाता है —

नरके पच्यमानस्तु यमेन परिभाषित,
कि त्वया नार्चितो देव केशव क्लेशनाशन ॥

---

‡ कृतान्तस्य दूती जरा कर्णमूल।
समागत्य वक्तीति लोका श्रृणुध्वम् ॥
परस्त्रीपरद्रव्यवाञ्छा त्यजध्व।
भजध्व रमानाथ पादारविन्दम् ॥

¶ "ब्रह्महत्यादिक पाप मनोवाक्काय सभव।
शीघ्र नश्यति तत्सर्वं शालिग्राम-शिलार्चनात् ॥"

अर्थात् 'नरक में पडे हुओ को यम ने कहा कि क्या क्लेश दूर करनेवाले केशव का तुमने अर्चन नही किया ?'

इससे यह स्पष्ट है कि केशव का अर्चन करनेवाले नरक मे नही जाते। वास्तविकता भी यही है। 'न देव केशवात्पर'—व्यासजी का यह वाक्य सत्य है। स्वय शिवजी ने केशव-नाम की यथार्थ सगति इस प्रकार वर्णन की है—

क इति ब्रह्मणो नाम ईशोऽह सर्वदेहिनाम् ।
आवा तवाङ्गे सभूते तस्मात् केशव नामवान् ।।

'क' नाम ब्रह्मा का है और सब देहधारियो का ईश मै हूँ और हम दोनो आपके अक मे हुए, अतएव आप 'केशव' नामवाले हैं।

युधिष्ठिर के पूछने पर भीष्मजी ने उत्तम धर्म का निर्णय इस प्रकार किया है—

"एष मे सर्वधर्माणा धर्मोऽधिकतमो मत ।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्ष स्तवैरर्चेन्नर सदा ।।"

अर्थात् 'मेरे विचार मे सब धर्मो मे अधिकतम धर्म यह है कि मनुष्य भक्तिपूर्वक स्तवोसहित पुण्डरीकाक्ष भगवान् का सदा अर्चन करे।'

इस विषय मे अन्यत्र 'अर्चावतार' तथा 'साकार स्वरूप' के प्रकरण मे बहुत कुछ कहा जा चुका है। वह समग्र विवेचन यहाँ पर जोडा जा सकता है। यह तो स्पष्ट ही है कि अर्चास्वरूप से जो सिद्धि मिल सकती है उसकी योग्यता तभी समझनी चाहिए जब जीव भगवदर्चन करे। यह न भूल जाना चाहिए कि भगवदर्चन के बिना अपने स्वरूपानुरूप व्यवहार मे भी त्रुटि रहती है, क्योकि जीव भगवद्दास है और दासत्व इसके व्यवहार मे आना चाहिए। माला, गन्ध, वस्त्र, नैवेद्य आदि पहले भगवान् को अर्पित करके फिर उनको प्राप्त करने पर ही जीव के अन्त करण पर भगवद्दासत्व

यथार्थ रीति से खचित रह सकता है, अतएव 'अर्चना' मे अर्पण की भावना से परिपुष्ट 'दासत्व' सिद्ध होता है ।

६. वन्दन—

वन्दन का अभिप्राय भगवान् को प्रणाम करना, उनके चरण-कमलो मे शिर झुकाना है । 'कृष्ण-प्रणामी न पुनर्भवाय' (कृष्ण को प्रणाम करनेवाले का पुनर्जन्म नही होता) कह कर 'सुभद्र' ने वन्दन का माहात्म्य निरूपित किया है । शल्य ने 'वन्दन' की महिमा का गुणगान इन शब्दो मे किया है—

"अतसी पुष्प-सकाश पीतवाससमच्युत,
ये नमस्यन्ति गोविन्द न तेषा विद्यते भयम् ।।"

अर्थात् गोविन्द को नमस्कार करनेवाले निर्भय हो जाते है । उनको भय नही रहता, क्योकि 'भय' एक भाव है जिसका लय प्रणामी के नमस्कार मे हो जाता है। इसीसे 'भक्ति' की अनन्यता सिद्ध होती है । अनन्यता एक ही भाव की परिपूर्ण सिद्धि है । फिर अनन्यभक्ति मे भय के लिए अवकाश कहाँ हो सकता है ? वन्दन भी अनन्यभाव से विमुक्त नही हो सकता । इसलिए [illegible] की बडी महिमा है । बडे-बडे महात्मा वन्दन के माहात्म्य को अपनी-अपनी अमर वाणी मे कह गये है—

१ 'वन्दे विष्णु सर्वलोकैकनाथम्'

२ 'वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्'

३ 'गोविन्दानन्त सर्वेश वासुदेव नमोऽस्तु ते ।'

अश्वत्थामा का वचन है—

४ 'गोविन्द केशव जनार्दन वासुदेव विश्वेश विश्व मधुसूदन विश्वनाथ ।
श्री पद्मनाभ पुरुषोत्तम पुष्कराक्ष नारायणाच्युत नृसिंह नमो नमस्ते ।।'

धृतराष्ट्र कहते है—

५ "नमो नम कारण वामनाय, नारायणायामितविक्रमाय ।
श्री शार्ङ्गचक्राब्जगदाधराय नमोऽस्तु तस्मै पुरुषोत्तमाय ।"

द्रौपदी कहती है—

६ "यज्ञेशाच्युत गोविन्द माधवाऽनन्त केशव,
कृष्ण विष्णो हृषीकेश वासुदेव नमोऽस्तु ते ।"

पिप्पलायन का कहना है—

७ "श्रीमन्नृसिंहविभवे गरुडध्वजाय,
तापत्रयोपशमनाय भवौषधाय,
कृष्णाय वृश्चिक जलाग्नि भुजङ्ग रोग
क्लेशव्ययाय हरये गुरवे नमस्ते ।।"

अरुधन्ती कहती है—

८ कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रपत क्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नम ।।

और यामुनाचार्य स्वामी का वचन है—

९ नमो नमो वाङ्मनसातिभूतये,
नमो नमो वाङ्मनसैकभूमये ।
नमो नमोऽनन्त महाविभूतये,
नमो नमोऽनन्तदयैक सिन्धवे ।।"

ऊपर की अनेक उक्तियो मे से नवी उक्ति का अर्थ अधिक ध्यान देने योग्य है। इस श्लोक मे भगवान् के चार स्वरूपो को नमस्कार किया गया है।

१ प्रथम वह स्वरूप है जो मन और वाणी की अतिभूमि है। अर्थात् प्रभु के उन स्वरूप को पूर्णत ग्रहण करने की सामर्थ्य न मन की है, न वाणी की। प्रभु के ऐसे स्वरूप को नमस्कार हो।

२ दूसरा वह स्वरूप है जो मन और वाणी की एकमात्र भूमि है अर्थात् मन और वाणी को प्रभु के उस स्वरूप के अति-रिक्त कुछ मिलता ही नही है जिसका वह चिन्तन अथवा वर्णन करे। चित् और अचित् की, जो नित्य और पृथक् है, स्थिति भी स्वतन्त्र नही है, किन्तु इनका सब व्यवहार इनमे

अन्तर्यामी के निवास से होता है। इनका नियामक और धारक वही अन्तर्यामी प्रभु है, अतएव अन्तर्यामीस्वरूप प्रधान रहने से मन-वाणी की जो कुछ एकमात्र भूमि है, वह प्रधानत अन्तर्यामी प्रभु ही है। स्मरण करने की बात है कि दूसरा नमस्कार भगवान् के उस स्वरूप को किया है जो जीव का ईश्वर है और जीवेश्वर के सम्बन्ध मे आधाराधेय-भाव तथा आत्मशरीर-भाव पहले ही निरूपित किया जा चुका है।

३ तीसरा वह स्वरूप है जो अनन्त और महाविभूति वाला है और जिसके ऐश्वर्य की कोई सीमा नही है।

४ चौथा वह स्वरूप है जो अनन्त दया का एकमात्र सागर है क्योकि परमात्मा मे ऐश्वर्यादि अनेक गुण रहते हुए भी जीवो का उद्धार तो उसके दयासागर होने से ही होता है।

इस प्रकार भक्ति के वन्दन-प्रकार का अमित माहात्म्य है। एक हिन्दी चौपाई मे इस माहात्म्य का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

"प्रभु-पद-कमलन जो सिर नावत।
ताहि श्याम आपुन अपनावत॥
वन्दन नित्य लाभ किन लूटै,
वन्दन तैं बन्धन सब छूटै॥"

७. दास्य—

यह भक्ति का वह स्वरूप है जिसमे जीव के स्वरूप की यथार्थता सिद्ध होती है। जीव को भगवद्दास होने पर भी सदा अपने स्वरूप का यथार्थ बोध नही होता, यद्यपि इस बोध का रहना अत्यावश्यक है। इसी भाव को लेकर कर्ण ने कहा है—

नान्य वदामि न श्रृणोमि न चिन्तयामि,
नान्य स्मरामि न भजामि न चाश्रयामि।

भक्त्या त्वदीय चरणाम्बुजमादरेण
श्री श्रीनिवास पुरुषोत्तम देहि दास्यम् ॥

'जीव की यथार्थता उसकी भगवद्दासता मे है', इस उक्ति पर प्रश्न हो सकता है कि 'क्या वैकुण्ठ को प्राप्त कर लेने पर भी भगवद्दासत्व बना रहता है?' इसके उत्तर मे यह कह देना ही पर्याप्त है कि भगवद्दासता इस जीव का परम सौभाग्य है। यदि ऐसा न होता तो 'दास्य' भाव का इतना माहात्म्य क्यो होता और इसकी गणना 'नवधा' भक्ति मे क्यो होती? "सब जीव अपने आप ही परमात्मा के दास है। वे चाहे बधन-दशा मे हो, चाहे मोक्ष-दशा मे। इनका अन्यथा लक्षण नही है।"† यह बात समझने की भी है कि उत्कृष्ट दशा मे अपने स्वरूप की उत्कृष्ट व्यवस्था मिटनी क्यो चाहिए? एक महात्मा ने तो यहाँ तक कह दिया है—"आपके दास्य सुख के एकमात्र सगियो के स्थानो मे तो (भले ही) मेरा कीट-जन्म भी हो जाय, पर दूसरे स्थानो मे मेरा जन्म ब्रह्मा रूप से भी न हो।"‡

इससे समझना चाहिए कि जिनको अपने मे भगवद्दासत्व का बोध यथार्थ रीति से हो रहा है, उनका इतना बडा माहात्म्य है कि उनके सगसे कीट तक को भगवद्धाम मिल सकता है, और इतरस्थानो मे सभव है कि ब्रह्मा भी ससार-चक्र की नीची कोटियो मे पहुँच जावे। उक्त श्लोक मे यह भी देखने की बात है कि 'दास्य' शब्द के साथ 'सुख'शब्द लगा हुआ है जो लौकिक 'दासत्व' मे निहित दुःख का विपरीत है। जीव का भगवदासत्व बहुत बडो से बडो को भी दुर्लभ है। एक महात्मा ने प्रार्थना की है—

---

† दासभूता स्वतस्सर्वे ह्यात्मान परमात्मन ।
नान्यथा लक्षण तेषा बन्धे मोक्षे तथैव च ॥

‡ तव दास्यसुखैकसङ्गिना भवनेष्वस्त्वपि कीटजन्म मे ।
इतरावसथेषु मास्मभूदपि मे जन्म चतुर्मुखात्मना ॥

"धिगशुचिमविनीत निर्दय मामलज्ज,
परमपुरुष योऽह योगिवर्याग्रगण्यै,
विधिशिव सनकाद्यै ध्यातुमत्यन्तदूर,
तव परिजनभाव कामये कामवृत्त ॥"

अर्थात् 'हे परम पुरुष, श्रेष्ठ योगियो मे अग्रगण्य, ब्रह्मा शिव सनकादिको के ध्यान को भी अत्यन्त दूर तेरे दास्य भाव की जो मै कामवृत्त इच्छा करता हूँ ऐसे अपवित्र, विनयरहित, निर्दय और निर्लज्ज मुझ को धिक्कार है ।'

ऊपर के श्लोक मे महात्मा ने भगवान् के परिजन-भाव को इतना ऊँचा बताया है कि ऐसे उत्तम कक्षा के महानुभाव होने पर भी उन्होने अपने आपको उसके योग्य नही समझा । इससे स्पष्ट है कि जीवो को भगवत्सबध मे दास्य-भाव की जितनी सत्प्रतीति होती रहे उतनी उत्तम है । इसीलिए महात्मा लोग अपने शरीर पर ऐसे चिन्ह धारण किये रहते है, जैसे मस्तक पर तिलक रूप मे भगवच्चरण की आकृति आदि । वे अपने किसी भी अवयव को शेषत्व-भाव से बहिर्भूत नही देख सकते । इस विषय मे एक महात्मा का वचन है कि—

"नदेह न प्राणान्न च सुखमशेषाभिलषित
न चात्मान नान्यत् किमपि तव शेषत्वविभवात् ।
बहिर्भूत नाथ क्षणमपि सहे यातु शतधा
निनाश तत् सत्य मधुमथन विज्ञापनमिदम् ॥"

अर्थात् "हे नाथ ! आपके शेषत्व-महोत्सव से बहिर्भूत, एक क्षण-मात्र भी, न मै देह को सहन करता हूँ, न प्राणो को, न सुख को और न अशेष वाञ्छित पदार्थों को ही सहन करता हूँ । यदि ये आपके शेषत्व-विभव से बहिर्भूत हो तो हे मधु-मथन ! मेरी यह प्रार्थना है कि इनके सैकडो टुकडे होकर इनका नाश होजाए ।"

यहाँ 'मधु-मथन' नाम का प्रयोग करके यह सकेत दिया है कि जिस प्रकार 'आपने मधु नामक राक्षस के सहज ही टुकडे-टुकडे

करदिये वैसे ही उक्त वस्तुओ के छिन्न-भिन्नीकरण मे भी आपको परिश्रम न होगा ।

८. सख्य—

इसका अभिप्राय परमात्मा के साथ 'सखा-भाव' या 'मैत्री' रखने का है । जिस किसी को यह पद प्राप्त होता है वह बडी उच्चकक्षा के आनन्द को प्राप्त करता है । अर्जुन, सुदामा, श्रीदामा आदि व्रज-गोप, और गोविन्द स्वामी आदि इसी भाव के भक्त हो चुके है । उनका भाग्य अति सराहना करने योग्य है । वत्स-हरण के समय इस भाग्य की इस प्रकार प्रशसा की गई है —

अहोभाग्यमहोभाग्य नन्दगोप व्रजौकसाम् ।
यन्मित्र परमानन्द पूर्णब्रह्म सनातनम् ॥

अर्थात "जिन व्रजवासियो के सखा परमानन्द, सनातन, पूर्णब्रह्म हुए उनका अहोभाग्य है ।" एक भाषा का कवि इस भाव को व्यक्त करता हुआ कहता है—

ब्रह्मादिक जाकी पदरज ध्यावै ।
शीश छुवन को सोउ न पावै ।
जो प्रभु सख्य ते भक्त रिझाये ।
काँधे अपने ग्वाल चढाये ।
हारे आपुन जीते ग्वाल,
महिमा 'सख्य' तु भक्ति विशाल ॥

अजड के भेद मे भी जीवात्मा और परमात्मा—ये दो ही है । दोनो ही ज्ञानानन्द स्वरूप है । बद्ध जीवो का ज्ञान तथा आनन्द सकुचित रहता है । इसका हेतु माया-पाश है । इसके कारण ससार-चक्र मे पडे हुए बद्ध जीव नित्यविभूति एव नित्यानन्द से दूर माने जाते है, किन्तु नित्य जीव नित्य-विभूति मे आनन्द से निवास करते है । उक्त माया-पाश से मुक्त होने के लिए भगवान् ने वेद-शास्त्रादि द्वारा सदेश दिया है और अपना पता सूचित करके मिलने के यत्न बताये है । परमात्मा मे मनुष्यो का ऐसा भाव होना

कि 'तू हमारा अत्यन्त प्रिय मित्र है', बहुत उच्च श्रेणी की बात है। भाव की उच्चता इसमे है कि मनुष्य अपना हृदय अपने मित्र के समक्ष खोल कर रख देता है और विश्वासपूर्वक जानता है कि मेरे दोषो से मेरे मित्र को ग्लानि कभी नही होगी, अपितु मित्र मुझे सहायता करने की सतत चेष्टा करेगा। यही भाव सखारूप मे भक्त का परमात्मा के प्रति बना रहता है। प्रेम की ताली दोनो हाथो से बजने वाली होने पर भी प्रेमी के साधने की वस्तु है। इसी भाव से उपासक और उसके उपास्य मित्र सर्वेश्वर के बीच प्रेम की अविरल गगा बहती रहती है।

परमात्मा के प्रति सखाभाव होने पर भक्त अपने को परमात्मा के अति निकट मानता है और अपने जीवन की सब कहानियाँ अपने मित्र को सुनाने को तत्पर रहता है। यह बडी ऊँची बात है। इस भाव मे उस (मित्र) के सामने निर्भय होकर पूर्ण विश्वास के साथ अपने अन्त करण के अत्यन्त गुप्त भेद भी रक्खे जा सकते है।

९. आत्मनिवेदन–

भक्ति का यह सर्वोत्कृष्ट प्रकार है। इस पर पहुँच जाने वाला भक्त अपने आपको श्रीमन्नारायण के चरणारविन्द मे समर्पण करदेता है। यह आत्मसमर्पण इतना सुगम है कि इसमे देश, काल और पात्र का भी नियम नही है। यहाँ पर मर्कट-न्याय की समाप्ति है और मार्जार-न्याय इसके आगे प्रारभ होता है।

वानर-शिशु अपने बल से अपनी माता को पकडे हुए उसके पेट से चिपका रहता है। उसकी माता जब एक शाखा से दूसरी पर कूदती है तो शिशु भी साथ ही चिपका हुआ चला जाता है, परन्तु इसमे माता को अच्छी तरह पकडे रहने का पुरुषार्थ शिशु का होता है, माता का नही। माता की शक्ति से शिशु की शक्ति न्यून होने से यह सभव है कि माता के कूदते समय शिशु का हाथ छूट जाने से वह गिर पडे। यह मर्कट-न्याय है। आत्मसमर्पण

मर्कट-न्याय से ऊँची वस्तु है। इसमे मार्जारि-न्याय काम करता है, क्योकि मार्जारी (बिल्ली) स्वय अपने शिशु को मुख मे पकडती है। शिशु उसको नही पकडता, अतएव शिशु गिर नही सकता।

कहने का आशय यह है कि आत्मनिवेदन से पूर्व 'ऐसा करो ऐसा मत करो' का भार जीव पर है और जीव की सामर्थ्य अल्प होने से उसका गिरजाना भी असभव नही है, परन्तु आत्मनिवेदन के पीछे यह भार जीव पर नही रहता। भगवान् स्वय सब कुछ करते है जिसमे कभी कोई त्रुटि नही हो सकती। इस आत्मनिवेदन का नाम ही 'प्रपत्ति' या 'शरणागति' है जिसके स्वरूप का निरूपण आगे किया जायगा।

आत्मनिवेदन भक्ति का अन्तिम अग है। यहॉ से आगे प्रपत्ति का आरभ होता है। यहॉ यह ध्यान रहे कि आत्मनिवेदन जीवो को करना पडता हे और जहॉ तक इस जीव को कुछ करना पडे वहॉ तक भक्ति-क्षेत्र समझना चाहिए। जब भक्त को कुछ न करना पडे, भगवान् स्वय उसका सब हित करने लगे वहॉ से प्रपत्ति का प्रारभ समझना चाहिए। इस कारण आत्मनिवेदन शब्द को भक्ति के नवे अग मे रक्खा है। इस शब्द से आत्मनिवेदन करने तक की दशा सूचित होती है। इसके पश्चात् की दशा प्रपत्ति अथवा शरणागति कहलाती है। उस कक्षा के महात्माओ को 'प्रपन्न' तथा 'भागवत' कहते है।

स्मरण करने की बात है कि पीछे 'भगवत् पर' के दो भेद कहे जा चुके है—एक भक्त, दूसरा प्रपन्न। 'भक्त' का प्रकरण समाप्त हुआ अब 'प्रपन्न' का प्रकरण प्रारभ होगा।

अध्याय ७

प्रपन्न वह है जिसने 'प्रपत्ति' अगीकार की है अर्थात् सब धर्मों को छोड कर जो अकेले श्रीमन्नारायण की शरण मे चला गया हो। उसी का नाम 'भागवत' है।

प्रपन्न और प्रपत्ति

भागवतो का निवास वैकुण्ठलोक मे होता है। कहा भी है—

वैकुण्ठे तु परे लोके श्री श्रिया सार्द्धं जगत्पति ।
आस्ते विष्णुरचिन्त्यात्मा भक्तैर्भागवतै सह ।।

अर्थात् 'सबसे परे वैकुण्ठ लोक मे लक्ष्मी जी सहित जो जगन्नाथ विराजते है वे ही विष्णु है। वे अचिन्त्यात्मा है। वे वहाँ भक्तो और भागवतो सहित विराजते है।' इससे स्पष्ट है कि वैकुण्ठ लोक मे भगवान् के समीप भक्त और भागवत दोनो रहते है। यह भागवत कक्षा बहुत ऊँची है क्योकि इसमे पहुँचने के उपरान्त जो कुछ करना है, भगवान् 'मार्जार-न्याय' से स्वय कर देते है।

कुछ लोग यह भी पूछ बैठते है कि 'प्राणान्तकाल मे भगवत्स्मरण करने पर सद्गति कही जाती है। क्या यह काम 'प्रपन्न' को नही करना पडेगा?' यहाँ पूछने वालो को यह न भूल जाना चाहिए कि भगवान् मे 'आश्रित-वत्सलत्व' है। आश्रित की रक्षा करने मे विचित्रता भी क्या है? एक महात्मा ने कहा है—

'नावेक्ष्यसे यदि ततो भुवनान्यमूनि
नालम्प्रभो भवितुमेव कुत प्रवृत्ति ।
एव निसर्गसुहृदि त्वयि सर्वजन्तो
स्वामिन्नचित्रमिदमाश्रितवत्सलत्वम् ।।'

अर्थात् 'हे स्वामिन्! यदि आप दृक्पात न करे तो ये भुवन होने मे ही समर्थ न होगे, और जब वे हो ही नही सकते तो उत्पत्ति के अनन्तर होने वाली प्रवृत्ति ही कैसे होगी? इस प्रकार सब जन्तुओ के सहज सुहृद् आप मे, हे स्वामिन्! आश्रित

वत्सलत्व का होना आश्चर्य की बात नही है ।' इसका आशय यह है कि आप निर्हेतुक कृपा से सब जीवो की रक्षा करते है, फिर यदि आप अपने आश्रितो की रक्षा करे तो इसमे विचित्रता की क्या बात है ? वास्तव से भगवदाश्रित 'प्रपन्न' को ही कहा जा सकता है और 'आश्रित' के लिए तो भगवान् सब कुछ करते है,' अतएव सद्गति के लिए प्राणान्त-काल मे भगवत्स्मरण की शर्त 'प्रपन्न' के साथ तो अलग रही, भगवान् ने अपने भक्त के साथ ही नही रखी । उन्होने स्पष्ट आज्ञा की है—

"ऐसी दशा मे जब कि मन ठहरा हुआ हो, शरीर आरोग्य हो, धातुओ की साम्यावस्था हो, जो मनुष्य मुझ विश्वरूप का स्मरण करता रहता है, अपने उस भक्त का, चाहे वह काष्ठ-पाषाणवत् भी हो, उसके मृत्यु काल मे, मै स्मरण कर लेता हूँ और परम गति को ले जाता हूँ ।" † इससे स्पष्ट है कि सद्गति के लिए मृत्यु-काल मे स्मरण करने का प्रतिबन्ध जब भक्त के लिए भी नही है तो 'प्रपन्न' के लिए कैसे हो सकता है । अतएव इसमे कोई सन्देह नही कि निश्चिन्त होने के लिए प्रपत्ति से बढकर कोई उपाय ही नही है । भगवान् ने स्वय कहा है—

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज ।
अह त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ।।"

अर्थात "सब धर्मों का परित्याग करके मुझ अकेले की शरण मे आ जाओ । मै तुम्हे सब पापो से छुडा दूँगा । चिन्ता मत करो ।" इससे स्पष्ट है कि प्रपत्ति अगीकार करने के उपरान्त जीव को कुछ भी चिन्ता करने की आवश्यकता नही है, किन्तु प्रपत्ति होनी चाहिए एकमात्र भगवान् की, क्योकि अनन्यार्हत्व

---

† **"स्थिते मनसि सुस्वस्थे शरीरे, सति यो नर धातुसाम्ये स्थिते, स्मरता विश्वरूप च मामज, ततस्त म्रियमाणन्तु काष्ठ-पाषाण सन्निभ, अह स्मरामि मद्भक्त नयामि परमा गतिम् ।।"**

उन्ही के साथ है। स्वामित्व वास्तव में उन्ही का है और मोक्ष देने की सामर्थ्य उनके अतिरिक्त किसी मे नही है ।

उपर्युक्त गीता-श्लोक मे 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' पद पर आशका उठ सकती है। अनेक मनुष्य यह कह सकते है कि भगवान् ने जीवो को अपनी शरण में आने की आज्ञा दी वह तो ठीक है, किन्तु 'पहले सब धर्मो को छोडने की बात कह दी' इसका औचित्य समझ मे नही आता। उनकी शका के समाधान के लिए यह कहना उचित ही है कि धर्म चाहे कितनी ही बडी वस्तु हो, भगवत्सन्निधि से सदा लघुतर है। उसको भी इसीलिए अगीकार किया जाता है कि उसके द्वारा भगवत्प्राप्ति सरल बने, किन्तु शरणागति मे पहुँचने पर जीव को धर्म का क्या करना है ? छत पर चढने को सीढी चाहिए, किन्तु छत पर पहुँच जाने पर सीढियो की आवश्यकता ही क्या रहती है ? बडी वस्तु हाथ लगने पर छोटी मे मन लगाये रखने से बडी वस्तु का अनादर होता है और 'प्रपत्ति' भी ऐसी ही बडी चीज है कि उससे बडा और कुछ नही। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—इन तीनो के आगे 'प्रपत्ति-योग' है। उदाहरण के लिए दशरथ और वसुदेव को देखिये। दशरथ ने धर्म और भगवान मे से धर्म का पालन किया और राम (भगवान्) को वनवास दे दिया। परिणाम यह हुआ कि उनको वैकुण्ठ न मिल सका। इसके विपरीत वसुदेव ने धर्म का परित्याग करके सुयत्नपूर्वक भगवान् को मथुरा से गोकुल पहुँचाया। इससे उनको वैकुण्ठ प्राप्त हुआ। इससे सिद्ध है कि भगवत्प्राप्ति की कोटि से धर्म की कोटि (पद) नीची है। जब मनुष्य गगा मे गोता लगाए तो उस समय वह हड्डी को मुट्ठी मे क्यो रखे। गोता लगाने से पूर्व ही उसे दूर फैक दे। साराश यह है कि भगवान् के लिए धर्म का परित्याग भी किया जा सकता है।

यहाँ एक और प्रश्न हो सकता है कि 'भगवान् 'प्रपन्न' का इतना भार अपने ऊपर क्यो ले लेते है ?' उत्तर स्पष्ट है कि यदि वे

इतना भार अपने ऊपर न ले तो जीवो का उद्धार कैसे हो ? इस सारे बेडे के खिवैया तो वे ही अकेले है। मनुष्य को ही देखो कि वह जिस वस्तु को अपनी समझ लेता है उसकी सँभाल करता है। पशु तक अपने पर निर्भर बच्चे की रक्षा करता है। जन्म के समय गो-वत्स के शरीर पर बहुत-सा मल लिपटा रहता है। वह खडा तक नही हो सकता, किन्तु गाय वत्स के मल को चाटकर मलरहित कर देती है और वह खडा होने लगता है। इसी प्रकार आत्मसमर्पण के अनन्तर जब जीव यह समझ लेता है कि भगवान् धनी है और मै उनका धन हूँ, धन की रक्षा धनी करता है, स्वय धन अपनी रक्षा नही करता और जब वह कबीर के शब्दो मे अपने कर्मादि को भगवान् को समर्पित कर देता है——

मेरा मुझ को कुछ नही, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझ को सौपते, क्या लागत है मेरा ॥

तो भगवान् इस जीव को सब पापो से मुक्त करके निज धाम प्रदान कर देते है। इससे स्पष्ट है कि भगवान् शरण मे आए हुए के रक्षक है। नीचे लिखे श्लोक से इसी भाव को प्रकट करते हुए कहा गया है——

"भवजलधिगताना द्वन्द्ववाताहताना सुतदुहितकलत्रत्राणभारार्दितानां
विषमविषयतोये मज्जतामप्लवाना भवतु शरणमेको विष्णुपोतो नराणाम् ॥"

अर्थात् जो भवसागर मे पडे हुए है, द्वन्द्वो की घात से आहत है, पुत्र, पुत्री और स्त्री की रक्षा के भार से दबे हुए है, भयकर विषय-जल मे डूबते हुए है, और नौका रहित हैं, ऐसे लोगो की एक-मात्र शरण विष्णु रूपी जहाज है।

शरीर-आत्म-भाव का साक्षात्कार भी इसी प्रपत्ति की दशा मे होता है क्योकि शरीर पर लगी हुई किसी निकृष्ट वस्तु को दूर करने की चिन्ता शरीर नही करता, शरीरी जीव करता है। इसी प्रकार जीव को जब (उक्त दशा मे) शरीर-शरीरी-सम्बन्ध का

वह तो व्यक्ति को पाडित्य मे प्राप्त हुआ है । यह कहना अयुक्त नही कि वर्णमाला 'पडित-पद' का साधन रही है, किन्तु वर्णमाला और पाडित्य मे कोई समता नही है । इसी प्रकार मोक्ष के अन्य छोटे उपायो को प्रपत्ति के समकक्ष कह देना उचित नही है । प्रपत्ति की महिमा अकथनीय है ।

प्रपत्ति की सुगमता

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्रपत्ति मे देश, काल और पात्र का नियम नही हे । ज्ञान उसकी समता का नही है । ज्ञान का प्रयोजन केवल वाक्यार्थ ज्ञान से सिद्ध नही होता, वरन् जो-जो बाते स्पष्ट बोध के योग्य है उनका यथार्थ स्वरूप अन्त करण पर इस प्रकार खचित हो जाना चाहिए कि उसको 'दर्शन-समानाकार' कहा जा सके और यह तभी होता है जब ज्ञान की रफूर्ति निरन्तर एव अविरल हो---एक क्षण होकर दूसरे क्षण बन्द न हो जावे। इसी को 'ध्यानाकारता' कहते है और तभी 'दर्शन-समानाकारता' का पद मिलता है ।

प्रपत्ति भक्ति से भी सुगम है । 'परमेश्वर मे परानुरक्ति' को ही भक्ति कहते है । उसमे उस समय अपना स्वरूप नही होता, जबकि वह एक क्षण होकर दूसरे क्षण न रहे । 'परमेश्वर मे परानुरक्ति' अनवच्छिन्न तैलधारावत् बनी रहनी चाहिए । प्रपत्ति मे यह बात नही है क्योकि प्रपत्ति एक बार होती है और अनन्त-काल तक उसका सौभाग्य जीव को रहता है क्योकि देहावसान पर जो मोक्ष होता है वह सदा के लिए माया-बन्धन से छूटना है । फिर आवागमन का काम नही है। प्रपत्ति की यह सुगमता विभी-षण की शरणागति के समय कहे हुए राम के इन वाक्यो से प्रमाणित होती है ।

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभय सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रत मम ।।—वाल्मीकि रामायण

अर्थात् "मै आपका हूँ, इस प्रकार से एक बार भी याचना करने वाले प्रपन्न को मै सब भूतो से अभय दे देता हूँ। यह मेरा नियम है।" पुरुषोत्तम के इस वाक्य की प्रामाणिकता स्वय सिद्ध है।

इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने योग्य हे कि जो वस्तु आज आपकी हो चुकी है, वह चाहे कितने ही काल तक आपके अधीन रहे आपकी ही है। उसको प्रतिदिन आपकी वस्तु नही बनना पडेगा। वह तो एक दिन आपकी हो चुकी। उदाहरण के लिए एक वस्त्र को लीजिए जिसे आपने कल बाजार से खरीदा है। वह कल से पहले आपका न था, किन्तु कल से आपका होगया–दूकानदार का स्वत्व उठकर उस पर आपका स्वत्व होगया। वह वस्त्र जब तक रहेगा, आपका ही है। यह आवश्यक नही है कि दूकानदार का स्वत्व उससे प्रतिदिन उठा करे और वह प्रतिदिन आपका बना करे। वह तो एक दिन आपका बन चुका सो बन चुका और जब से आपने उसको अपना मान लिया तभी से उसकी रक्षा का भार आप पर ही है। ईश्वर का ज्ञान अत्रुटिपूर्ण होने से उसके द्वारा आपकी रक्षा मे भी कोई त्रुटि नही हो सकती।

यहाँ एक बात और भी समझने की है कि जीव ने सच्चे भाव से यदि यह याचना भगवान् से की है कि 'मै आपका' हूँ तो वास्तव मे उसने भगवान् को दे क्या दिया? इस याचना को करने से पूर्व भी यह जीव भगवान् ही का था। फिर भगवान् को ऐसी क्या नूतन एव अलम्य वस्तु मिल जाती है जिसमे इतनी याचना करने मात्र से याचक को सब भूतो से अभय दे देते है? कहने की आवश्यकता नही कि यह तो भगवान् की दयालुता और आश्रित-वत्सलता है कि वे जीव मे रहने वाले नित्य† भगवद्दासत्व के अनुकूल वृत्ति होने मात्र से प्रसन्न हो जाते है। भला भगवान् के लिए क्या अलभ्य और क्या नूतन है?।

† भगवद्दासत्व प्रत्येक जीव में रहता है, किन्तु सब की वृत्ति उसके अनुकूल नहीं होती। प्रपत्ति के पथ में वृत्ति उसके अनुकूल हो जाती है।

शरणागति मे ये छै बाते होनी चाहिये –१ अनुकूलता का सकल्प, २ प्रतिकूलता का वर्जन, ३ 'रक्षा करेगे' यह विश्वास, ४ गोप्तृत्व-वरण, ५ आत्म निक्षेप, और ६ कार्पण्य (दीनता) । १ अनुकूलता के सकल्प का तात्पर्य है भगवान् के अनुकूल रहन का दृढ व्रत कर लेना, २ प्रतिकूलता के वर्जन मे जीव भगवद्विषयक प्रतिकूलता को कभी निकट भी नही फटकने देता, ३ 'रक्षा करेगे', यह विश्वास जीव के लिए बडा आवश्यक है, जब तक यह विश्वास नही जमता शरणागति-सिद्धि नही होती, ४ गोप्तृत्व-वरण का अभिप्राय है भगवान् ही को एकमात्र रक्षक समझ कर केवल उन्ही से रक्षा चाहना, ५ आत्म निक्षेप द्वारा जीव अपने को भगवच्चरणारविन्दो मे पडा हुआ समझता है, ६ कार्पण्य—इस भाव को ग्रहण कर जीव अपने को दीन और अकिंचन जानता है ।

शरणागति का स्वरूप

जब इन भावो की यथार्थता जीव को अपने स्वरूप मे दीखने लगे तो समझना चाहिये कि भगवच्छरणागति' का स्वरूप बन गया । आगे यह जीव नीची गति को प्राप्त नही होगा । वह मोक्ष का अधिकारो होगया । इस कक्षा मे पहुँचे हुए महात्माओ की यथार्थ रीति से प्रशसा करना सामर्थ्य से बाहर की बात है । कहा भी है—

"आराधनाना सर्वेषा विष्णोराराधन पर ।
तस्मात्परतर देवि तदीयाना समर्चनम् ॥"

अर्थात् हे देवि ! सब आराधनो से विष्णु का आराधन श्रेष्ठ है, उससे भी भागवतो का समर्चन श्रेष्ठ है । इस श्लोक मे भगवत्सेवा से भी उत्कृष्ट भागवत-सवा कही गई है । इसी भाव को एक भाषा के कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

"केवल मेरे सो नहि मेरे । मेरे जो भोजन के चेरे ॥"

---

‡ आनुकूल्यस्य सङ्कल्प प्रातिकूल्यस्य वर्जन ।
रक्षिष्यतीति विश्वास गोप्तृत्व-वरण तथा,
आत्मनिक्षेप-कार्पण्ये षड्विधा शरणागति ॥

भागवत धर्म की महिमा सब से अधिक है और श्री रघुनन्दन महाराज के चौथे भाई शत्रुघ्नजी इस भागवत धर्म की मूर्ति थे।

भागवत धर्म की महिमा

जिस प्रकार भागवत् कैंकर्य बहुत बडी वस्तु है वैसे ही भागवत अपचार से बढकर कोई पातक नही है। भगवान् अपने अपचार को तो क्षमा भी कर देते है, किन्तु वे भागवत अपचार को क्षमा नही करते, किन्तु यह प्रपत्ति जो इतनी सुगम कही गई है, कोई खेल नही है। इसका भी स्वरूपानुरूप व्यवहार चाहिए।

प्रपन्न के दो भेद है (१) एकान्ति (२) परम एकान्ति। भगवत्-कैंकर्य और भगवत-गुणानुभव का सौभाग्य इन दोनो को

प्रपन्न के भेद

मिला होता है, परन्तु इस सौभाग्य के रहते हुए जो इसमे अपनी उत्कृष्टता मानी जाती है ऐसे भाव को 'एकान्ति' कहते है और जो केवल भगवत्-मुखोल्लासमात्र से ही उत्साह का भाव बन जाता है उसे 'परम एकान्ति' कहते है। इन दोनो मे 'परम एकान्ति' की कक्षा ऊँची है।

'परम एकान्ति' के दो भेद है—(१) दृप्त, और (२) आर्त। इन दोनो मे विश्लेषानुसहिष्णुता का थोडा-सा अन्तर है। भगवान् का वियोग इन दोनो ही को असह्य होता है। किन्तु एक तो कुछ सह भी लेता है, पर दूसरा बिल्कुल नही सह सकता।

परिशिष्ट

'आचार्य' शब्द की यथार्थ व्याख्या कठिन है, किन्तु साधारणतया आचार्य 'गुरु' को कहते है। अज्ञान-तिमिरान्ध पुरुष की आँखो को ज्ञानाजन-शलाका से खोलने वाले व्यक्ति को गुरु कहते है। नीचे के श्लोक मे गुरु को नमस्कार करते हुए व्यक्ति ने गुरु के इसी रूप को व्यक्त किया है—

१ आचार्य का स्वरूप

> "अज्ञान-तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया
> चक्षुरुन्मीलित येन तस्मै श्री गुरुवे नम ।।"

इस अज्ञान का दूर होना कुछ छोटी बात नही है। फिर जिसके द्वारा अज्ञान दूर हो उसकी महिमा तो बहुत बडी होनी चाहिए।

गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए एक कवि ने लिखा है—

> विदलयति कुबोध बोधयत्यागमार्थं
> सुगतिकुगतिमार्गौ पुण्यपापे व्यनक्ति ।
> अवगमयति कृत्याऽकृत्यभेदे गुरुर्यो
> भवजलनिधिपोतस्त विना नास्ति कश्चित् ।।

इसका अर्थ यह है कि 'ससार-समुद्र मे ऐसे गुरु को छोड कर कोई नवका नही है, जो कुबोध को दूर करे, शास्त्र के अर्थ का बोध करावे, पुण्य और पाप की अच्छी-बुरी दोनो गतियाँ बतादे और जो करणीय एव अकरणीय के भेद को समझा दे।'

वह गुरु ऐसा ही होना चाहिए नही तो काम नही चल सकता।
गुरु के रूप की विशद व्याख्या इस श्लोक मे मिलती है—

> सिद्ध सत्सम्प्रदाये स्थिरधियमनघ श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ।
> सत्त्वस्थ सत्यवाच समयनियतया साधुवृत्या समेत ।

दम्भासूयाविमुक्त जितविषयगण दीर्घबन्धु दयालु ।
स्खालित्ये शासितार स्वपरहितपर देशिक भूष्णुरीप्सेत् ।।

अर्थात् गुरु वह है, जो सत्सम्प्रदाय मे सिद्ध हो, जिसकी बुद्धि स्थिर हो, जो पापकर्मो से सबध न रखे, जो श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ सत्वस्थ और सत्य बोलनेवाला हो, जो समयनियत रीति और साधु-वृत्ति से युक्त हो, जो छल और असूया से रहित हो, जिसने विषयो को जीत रखा हो, जो दीर्घ-बन्धु हो, दयालु हो और जो पतन का निवारक एव अपने तथा दूसरे के हित की चेष्टा मे परायण हो। वास्तव मे ऐसे गुरु को गुरु रूप मे स्वय भगवान् ही समझना चाहिए। इसी भाव को लेकर एक अन्य श्लोक मे कहा गया है—

साक्षान्नारायणो देव कृत्वा मर्त्यमयी तनुम् ।
मग्नानुद्धरते लोकान् कारुण्यात् शास्त्रपाणिना ।।

अर्थात् 'साक्षात् नारायण करुणापूर्वक मर्त्यमय शरीर बनाकर (गुरु-रूप मे) शास्त्रपाणी होकर डूबते हुए लोगो का उद्धार करते है।' भगवान् के हाथ मे शस्त्र रहने से वे शस्त्रपाणी कहलाते है और जब वे स्वय मनुष्य-शरीर मे गुरु-रूप धारण करते है तो हाथ मे शास्त्र रहने से उन्हे 'शास्त्रपाणी' कहते हैं। किन्तु 'गुरु कीजे जानकर, पानी पीजे छान कर', यह उक्ति भी बडा महत्त्व रखती है। बिना विचारे किसी भी व्यक्ति को गुरु बना लेने से उद्धार नही हो सकता, अतएव यह उक्ति सत्य ही है—

"भिन्ननावाश्रित स्तब्धो यथा पार न गच्छति,
ज्ञानहीन गुरु प्राप्य कुतो मोक्षमवाप्नुयात् ।।"

अर्थात् "टूटी नाव मे बैठा हुआ स्तब्ध व्यक्ति जैसे पार नही पहुँचता, वैसे ही ज्ञान-हीन गुरु को पाकर मनुष्य मोक्ष कैसे पा सकता है ?"

शिष्य आस्तिक, धर्मशील, सत्स्वभाव, वैष्णव, पवित्र, गभीर, चतुर और धीर हो। कहा भी गया है—

"आस्तिको धर्मशीलश्च शीलवान् वैष्णवश्शुचि ।

२ शिष्य का स्वरूप गभीरश्चतुरो धीर शिष्य इत्यभिधीयते ॥"

इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रयोजन से वह शिष्य होता है, वह इतनी बातो के बिना सिद्ध नही हो सकता है। एक ही बात को लेकर विचार किया जा सकता है कि जिसकी बुद्धि ग्रहण करने वाली नही है (जो धीर नही है) वह शिष्य बन कर क्या लाभ उठा सकता है ?

आचार्यो ने शिष्यो के स्वभाव को समझाने के लिए तीन श्रेणियो का निरूपण किया है—(१) महिष, (२) अश्व और (३) वृषभ। निकृष्ट श्रेणी के शिष्य को 'महिष' की उपमा दी जाती है। महिष (भैसा) पोखर मे जल पीते समय किनारे पर खडा रहकर नही पीता। वह भीतर प्रवेश करके पैरो से कीच को ऐसा उठाता है कि स्वच्छ जल गँदला हो जाता है और उसी को (अस्वच्छ जल को) पीता है। इसी प्रकार निकृष्ट श्रेणी का शिष्य भी गुरु के स्वच्छ उपदेशो को ग्रहण नही करता है, वरन् कुतर्कों से बात बिगाड देता है। इससे यह भी नही समझ लेना चाहिए कि नम्र भाव और स्वच्छ अन्त करण से शका करने का निषेध है। ऐसा पूछना तो उत्तम है। निषिद्ध तो वे कुतर्क है जो हानिकारक है जिनका उद्‌भव न तो सज्जनो के मन ही मे होता है और न वे उन्हे वाणी से ही व्यक्त करते है।

मध्यम श्रेणी के शिष्य को अश्व की उपमा दी जाती है। घोडा अच्छा पानी पीता है और अच्छी घास खाता है, किन्तु अन्य घोडे को अच्छा खाते-पीते देख कर असूया से ऐसा हीसता है कि उसका सब अच्छा खाया-पिया भी निष्फल हो जाता है। इसी प्रकार बीच की श्रेणी का शिष्य भी गुरु के अच्छे उपदेशो को ग्रहण तो अवश्य करता है, किन्तु दूसरो के प्रति असूया करता है जिससे उसका प्राप्त उपदेश भी निष्फल हो जाता है।

उत्तम श्रेणी के शिष्य को वृषभ की उपमा दी जाती है। बैल शान्तिपूर्वक घास चरकर और जल पीकर एकान्त छाया-स्थली मे जा बैठता है और शान्ति से जुगाली करता है। इसी प्रकार उत्तम श्रेणी का शिष्य भी गुरु के सदुपदेशो को ग्रहण करके एकान्त मे उन पर विचार करता है और बिना किसी उद्वेग के शान्तिपूर्वक अभ्यास करके पूर्ण लाभ उठाता है।

आचारी वह है जो शास्त्र के अभिप्राय को समझ कर दूसरो को उस आचार पर स्थापित कर सके और स्वय तदनुरूप ही आचरण करे। इसमे सन्देह नही कि आचारी का पद भी बहुत ऊँचा है। कल्याण चाहने वाले के लिए ऐसे आचारी की बडी आवश्यकता है। आचार्य और आचारी मे कोई अन्तर नही है। जो लोग आचार्य की कृपा प्राप्त नही कर पाते है उनके बेडे का पार होना कठिन है। इसमे भी सन्देह नही कि भगवान् इस जीव की वृत्ति अपने चरणो मे आकृष्ट करने मे स्वय समर्थ है, किन्तु नियम यही है कि बीच मे आचार्य का पुरस्कार हो और इस नियम के निर्वाह के लिए भगवान् स्वय इस जीव पर आचार्य प्राप्ति की कृपा करते है और वे आचार्य श्रीमन्नारायण के चरण-कमल मे 'प्रपत्ति' करा देते है।

३ आचारी

इस प्रपत्ति को कोई दूसरी उपाय-वस्तु न समझ लेना चाहिए। अन्य उपायो से शून्य होकर, अपने को अनन्यगति मान कर केवल भगवच्चरणारविन्दो पर डाल देना ही प्रपत्ति का स्वरूप है। जब यह भाव बन जाता है कि भगवान् के सिवा कोई दूसरा आश्रय नही है, जो कुछ है भगवान् ही है, तो भगवत्कृपा के मुख्य उपाय भी भगवान् ही ठहरते है, परन्तु 'प्रपन्न' के लिए यह आवश्यक है कि वह 'अनन्य शेषत्व', 'अनन्य साधनत्व', और अनन्य भोग्यत्व—इस प्रकार—त्रय से सम्पन्न हो।

'अनन्यशेषत्व' मे यह भाव बन जाता है कि मै केवल भगवान् ही का दास हूँ। भगवन्मुखोल्लास को छोड कर मेरे 'कैङ्कर्य' का और कुछ प्रयोजन नही है। 'अनन्यसाधनत्व' वह भाव है जिसमे भगवत्प्राप्ति का उपाय भी भगवान् ही ठहरते है।¶ 'अनन्यभोग्यत्व' वह भाव है जिसमे व्यक्ति की ऐसी निष्ठा हो जाती है कि मै केवल श्रीमन्नारायण का भोग्य हूँ। उसके अतिरिक्त मेरा और कोई भोक्ता नही है।

४ श्रीलक्ष्मीजी

इनका व्यवहार सदैव निरन्तर रूप से भगवान् के अत्यन्त अनुकूल रह कर जीवो पर भगवत्कृपा करवाते रहना है। ये भगवान् को इतनी प्रिय है कि प्रभु ने इनका निवास-स्थान अपनी भुजाओ के मध्य मे ही बना रक्खा है। इनसे जिस प्रकार जीवो को बडा सहारा मिलता है वैसे ही भगवान् को भी बडी प्रसन्नता रहती है। समस्त जगत् इनके कटाक्ष के आश्रित है और गुण, रूप तथा विलास-चेष्टाओ से उसी प्रकार युक्त रहती है जिस प्रकार भगवान् अति प्रसन्न रहे। जिस प्रकार भगवान् अपनी निरवधिक महिमा का यह अनुमान नही कर सकते कि उसकी सीमा कहाँ तक है, उसी प्रकार श्री लक्ष्मीजी भी, जो उनकी परमप्रिया और परमानुकूला है, उनकी महिमा का ऐसा अनुमान नही कर सकती।

श्री लक्ष्मीजी भगवत्सेवा मे तत्पर रह कर जीवो के कल्याण की बाते सदा भगवान् को सुनाती रहती है क्योकि वे जीव जो स्वय इनकी सेवा मे तत्पर रहते है, इनके आश्रय मे आकर, अपनी व्यथा को इन्हे सुनाते रहते है। ये जीवो के दोषो को असत्प्राय करके उनके गुणो का विस्तार करती है। इसलिए इनकी विख्याति 'श्री' नाम से है। जिस प्रकार भगवान् जीवो के प्रति 'हितपर' है, उसी

¶ **तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनन्दन। जानहिं भगत भगत-उर-चन्दन।**
सोइ जानहि जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि हुइ जाई॥
रा० च० मा०

प्रकार लक्ष्मीजी उन जीवो के प्रति 'प्रियपर' है क्योकि पिता 'हितपर' और माता 'प्रियपर' होती है ।

हितपरता और प्रियपरता

पिता और माता, दोनो ही का व्यवहार ऐसा रहता है कि जिससे सन्तान का भला हो, किन्तु बालक के प्रति जितना 'ममत्व' माता का होता है उतना पिता का नही । यह ठीक है कि माता एक सीमा तक यह सह लेती है कि बालक के पिता उसके हित के लिए उसे ताडना दे रहे है, किन्तु जब वह उस 'ताडना' को देख नही सकती, तो स्वामी से सिफारिश कर के बालक को उस ताडना से बचाती है । उदाहरण के लिए उस बालक को लीजिए जिसने अपनी अबोधता अथवा कुटिलता से कुछ दिन से पाठशाला मे जाना बन्द कर दिया है । बालक का पिता उसकी भलाई के लिए उसे मारने-पीटने तक लग जाता है । यह दु ख बालक की माता दु ख से देखती है । पहले तो वह चुप रहती है क्योकि वह जानती है कि स्वामी की चेष्टा बालक की भलाई के लिए है, परन्तु अधिक मार-पीट होने पर एक अवस्था ऐसी आती है जब उसकी माता बीच मे पड कर उसकी रक्षा करती और कराती है और दु खमयी वाणी से अपने स्वामी को यह कहे बिना नही रहती कि इसकी इतने दिन की अनुपस्थिति है तो एक दिन की और भी सही, अब इसे छोडिये, बस रहने दीजिए । ऐसा कह कर वह उस समय उस बालक का पीछा छुडा देती है ।

इस दृष्टान्त से, 'श्री लक्ष्मीजी का काम जीवो की 'बुराई' के लिए है,' ऐसा न समझ लेना चाहिए, क्योकि दृष्टान्त प्राय एक-देशी हुआ करता है । एक दिन पाठशाला न जाने से बालक के एक दिन के अध्ययन की जो क्षति हुई, वह बात यहाँ नही जुडती क्योकि जो कर्म आरम्भ हो गया उसमे माता की वह चेष्टा पूर्णत मानुषी है और यह जगज्जननी की चेष्टा है जो नि सन्देह जीवो के

कल्याण के लिए है। भगवान् अवश्य दयालु हैं, परन्तु स्वतत्र हैं। जीवो के अपराध क्षमा करना न करना भगवान् की इच्छा पर निर्भर है, किन्तु इन हरि-प्रिया श्री लक्ष्मीजी का तो यही व्यवहार रहता है कि वे कह-सुन कर जैसे-तैसे भी भगवान् से जीवो का अपराध क्षमा कराती है। जीवो का अपराध क्षमा होने से उनका बडा उपकार होता है, अपकार नही। लोक मे दण्ड इसीलिए दिया जाता है कि भविष्य मे अपराधी का आचरण ठीक रहे, बिना इसके (उसको यदि शिक्षा नही मिलेगी तो) वह विशेष अपराध करेगा। इस त्रुटि को श्री लक्ष्मीजी नही रहने देती है। उनका बडा भारी अधिकार है। माता पुत्र को कुए या तालाब मे गिरते देखते ही उसकी रक्षा की भावना से उसके साथ कूद पडती है—कष्ट का अनुमान कर के रुकती नही है क्योकि बालक के सबध मे उसका स्वरूप 'प्रियपर' है। जीव मात्र लक्ष्मीजी का पुत्र है, तथापि भगवज्जनो के प्रति उनकी दया का विशेष सचार होता है। रावणादि राक्षसो ने जब भारत के दक्षिण मे भगवज्जनो को दु ख देना आरभ किया तो एक स्थल ऐसा आया कि श्री जनकनन्दिनी सहन नही कर सकी और स्वय लका मे जाकर बैठ गई जिससे मर्यादा‡ की रक्षा के लिए भगवान् स्वय पधारे और दुष्टो का नाश करके अपने जनो की रक्षा की और सीताजी को उत्सव सहित ले आये।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि लक्ष्मीजी अपने पुत्रो (जीवो) के पालन की चेष्टा करती रहती है तो क्या राक्षस उनके पुत्र नही है ? यदि है तो उनका पालन उन्होने क्यो नही किया ? इस प्रश्न के उत्तर मे गीता के इस श्लोक —

"यदा यदाहि धर्मस्य परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम् ।
•सृजाम्यहम् "

की सार्थकता व्यक्त करते हुए यही कहा जा सकता है कि 'अवतार-

‡ न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति

चरित्र' मे लोक-मर्यादा के निर्वाह का परित्याग नही किया जा सकता। यहाँ क्षमा से अधर्म का प्रसग भी बनता है, किन्तु अधर्म को दबाने और धर्म की ग्लानि के निवारण के लिए ही अवतार होता है। 'परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्' मे 'साधुओ का परित्राण' मुख्य अग है और 'विनाशाय च दुष्कृताम्' का 'च-कार' अप्रधान के अर्थ मे है अर्थात् भगवज्जनो का सरक्षण प्रधान है। दुष्टो का विनाश प्रधान नही है। प्रधान अग सप्रदान करने के लिए इस अप्रधान अग का परित्याग नही हो सकता, किन्तु यह बात भुलाने की नही है कि भगवत्सबन्ध, चाहे विरोध से ही सही, हो जाने से आगे उन दुष्ट जीवो का भी कल्याण ही होता है।

जयन्त के प्रति सीताजी का आचरण भी लक्ष्मीजी की 'प्रिय-परता' को ही प्रमाणित करता है। जब जयन्त जानकीजी के स्तन पर चोच मार कर उड गया तो जहाँ-जहाँ वह गया उसके पीछ-पीछे अस्त्र भी गया, किन्तु उसका कुछ बिगाड नही किया, क्योकि माता इतनी स्वतन्त्रता से काम नही करती कि भग-वत्प्रेरणा से छूटे हुए अस्त्र को लौटा देती, परन्तु उस जीव की रक्षा मे प्रयोजन होने से अस्त्र का वेग इतना मन्द कर दिया कि वह साथ-साथ तो फिरता था किन्तु कुछ बिगाड नही सकता था। जब काकासुर ने यह देख लिया कि किसी स्थान मे भी रक्षा नही मिली तो लौट कर उसी स्थान पर राम के सामने आ गिरा। गिरते समय उसको यह भी सुध न रही कि भगवच्चरणारविद की ओर अपना शिर करे, पैर न करे। माता ने जब उसको उलटा गिरा हुआ देखा तो उसका शिर भगवच्चरणारविद की ओर कर के स्वामी से विनयपूर्वक प्रार्थना की कि आपका यह एक दास आपकी शरण मे आ पडा है। इसको त्रिलोक मे कही आश्रय नही मिला है। इस पर दया कीजिए। स्वामी ने कहा कि इस दुष्ट ने आपके स्तन पर चोच मार कर क्या कोई कम अपराध किया है? यह दण्ड के योग्य है। इस पर महारानी सीता ने हाथ जोड कर निवेदन किया

कि प्रभो, आप सर्वेश्वर है। इसको अन्यत्र कही शरण न मिलने से यह अनन्य गति होकर आपके चरण-कमलो मे आ पडा है। आपके सब अग होने पर भी जीव मात्र का आपके और अगो से सम्बन्ध नही, केवल चरण-कमलो से विशेष सम्बन्ध है। इसी प्रकार माता के सब अग होने पर भी उसकी सन्तति का विशेष सम्बन्ध उसके स्तनो से ही होता है। इस नियम का उल्लघन इस जीव ने नही किया। इसने माता के स्तन पर ही मुँह लगाया है। आप निरवधिक वात्सल्य-सागर है, इस पर दया करे। ऐसा कह कर माता जानकी ने उस जीव पर कृपा करवा दी। इस प्रकार जीवो को श्री जगज्जननी से बहुत बडा सहारा मिलता रहता है।

५ पुराणो का महत्त्व

आर्य-जीवन मे अनेक कथा-वार्ताएँ पुराणो से चली आ रही है। पुराणो पर आजकल अनेक प्रहार हो रहे है। प्रसिद्ध है कि पुराण अठारह है, किन्तु अठारह ही उप-पुराण कहे जाते है। कहा जाता है कि पुराण विष्णु के माहात्म्य को विशेषता से प्रतिपादित करते हैं और छै ब्रह्मा और छै महेश का क्रमश प्रतिपादन करते है। पुराणो के विषय मे लोगो के अनेक मत है। कुछ लोग कहते है कि पुराण मिथ्या है। इनमे ईश्वर के नियम के विरुद्ध बाते है जो समाज के लिए हानिकर है। कुछ लोगो का मत है कि भक्ति की मन्दाकिनी को बहाने का सुयश पुराणो को ही मिला है।

कहने की आवश्यकता नही है कि ससार मे अनेक प्रकार के मनुष्य है। उसी प्रकार उपदेशो की भी अनेक रीति है। जिसको जिससे लाभ होता है वह उसे ग्रहण करता है। वेदँ भी उपदेश देते है और पुराण भी। वेदो के उपदेश को प्रभु-सम्मितोपदेश कहते है और पुराणो की कथा-वार्ताओ से जो उपदेश मिलता है वह सुहृत्सम्मितोपदेश कहलाता है। दोनो का प्रयोजन एक ही है। वेद आज्ञा रूप है। वेदोपदेशो को ही कथाओ मे पिरो कर पुराण उसी

प्रकार समझाते है जैसे एक मित्र दूसरे मित्र को उदाहरणो से समझाता है। जिस व्यक्ति मे वेदाज्ञा से लाभ उठाने की योग्यता नही है, उसका कथा-वार्ताओ से युक्त पुराणो के बिना काम कैसे चल सकता है? ऊँची योग्यतावाले उच्च श्रेणी के मनुष्य ही वेदाज्ञाओ को अधिकारपूर्वक ग्रहण कर सकते है, किन्तु उनको भी पुराणो की आवश्यकता इसलिए है कि उनमे वेदाज्ञाओ के पालन के अनेक उदाहरण मिल जाते है। अनेक पौराणिक कथा-वार्ताओ मे भेद होते हुए भी उनका प्रयोजन जीव-कल्याण ही है।

जो लोग पुराणो को मिथ्या बताते है, वे अपनी उक्ति की पुष्टि के लिए प्रमाण नही देते। जो लोग इनमे ईश्वर के नियम के विरुद्ध बाते बताते है उनको दूर ही से प्रणाम करना अच्छा है। उनकी गिरा से यह आशय प्रकट होता है कि ईश्वर के नियम गिनती के अमुक-अमुक है और उन सब को हम जानते है। यह उपहास्य है क्योकि ईश्वर के जिन समस्त व्यवहारो तथा नियमो को ब्रह्मादिक भी न जान सके उनको हमने कैसे जान लिया? अथवा हम मे जितने व्यवहारो तथा नियमो को जानने की योग्यता है, ईश्वर के व्यवहार एव नियम भी यदि उतने ही है, उनसे अधिक नही तो बस ईश्वर का भी निर्णय हुआ, क्योकि इस तर्क से उसका वैभव सान्त सिद्ध होता है, किन्तु वस्तुत वह अनन्त वैभववाला है। आपके या मेरे घटाने से ईश्वर का तो क्या, किसी का भी, वैभव घटाया नही जा सकता है।

पुराण ईश्वर के ईश्वरत्व के साक्षी है। यहाँ एक मनुष्य की वार्ता याद आ जाती है जो विदेश मे पहुँच कर किसी धर्मशाला मे जा टिका और वहाँ के रसोइय से भोजन बनवाया, परन्तु उसे किसी पहली बात के स्मरण से भोजन मे शका हो गई और ग्लानिपूर्वक विचार करता रहा कि समय और धन व्यर्थ गया। सभव है कि इस रसोइये ने भोजन मे विष मिला दिया हो। इस प्रकार सोच-विचार के भ्रमो मे फँस कर जब वह दुख पा रहा था, एक व्यक्ति

उसके सामने से निकला और उसने उससे उस रसोइये के विषय मे पूछ-ताछ की । वह बोला—"सन्देह करने की आवश्यकता नही है। रसोइया भला आदमी है। हम कई आदमी अनेक बार पहले भी इसके हाथो का भोजन कर चुके है। आप भी नि सन्देह भोजन कर लीजिए ।" इतने पर भी उस यात्री की शका का निवारण न हुआ। भोजन के प्रति उसकी ग्लानि ही बनी रही । अनेक परिचित मनुष्यो ने उसे इसी प्रकार समझाया ओर क्रमश उसका भी सन्देह कम होता गया। एक सीमा पर पहुँच कर उसका सन्देह सर्वथा मिट गया और उसने भोजन कर लिया। रसोइये का चरित्र अच्छा होने से भोजन भी शुद्ध ही था, अतएव यात्री का कुछ अनिष्ट भी नही हुआ। अब तक जो उसका मिथ्या सन्देह था वह दूर हो गया। यदि इतनी गवाहियाँ नही गुजरती तो यात्री का सन्देह और क्लेश नही मिटता। पुराणो मे ऐसी ही गवाहियाँ भरी हुई है जिनसे मनुष्यो की सन्मार्ग की प्रवृत्ति के प्रति उत्पन्न हुई ग्लानि दूर होती है। पुराण उदाहरणो द्वारा यह बतलाते है कि अमुक-अमुक ने ऐसा किया था जिसका अमुक-अमुक परिणाम हुआ। इन्ही गवाहियो द्वारा सन्तुष्ट होकर मनुष्य आगे सन्मार्ग मे प्रवृत्त होता है। कहने की आवश्यकता नही कि सन्मार्ग मे प्रवृत्त होने से सदैव उत्तम फल मिलता है। इसमे तो सन्देह भी क्या कि पुराणो की कथाओ से अगणित मनुष्यो को लाभ पहुँच चुका है। यह तो रही बात सुलक्ष्या सद्वार्ताओ की। किन्तु लोगो मे अनेक ऐसी बाते भी प्रचलित है जो असत् है परन्तु जिनका लक्ष्य उत्तम है।

'कितनी बार मोहि दूध पिवत भई,
यह अजहूँ है छोटी ।"

यशोदा के प्रति कृष्ण की इस भक्ति मे सुलक्ष्या असद्वार्ता का ही उदाहरण है। प्राय बालक दूध पीने मे आना-कानी करते है किन्तु मातादिक जन बालक को यह कह कर 'बेटा दूध पीले तेरी चोटी बढ़ जायगी,' दूध पिलाते है। उनकी यह उक्ति किसी

अश मे सत्य भी हो, मिथ्या ही कही जायगी, किन्तु वक्ता का लक्ष्य उत्तम होता है। यदि बालक दूध पीता रहेगा तो शरीर पुष्ट हो जायगा।

यह उदाहरण पुराणो के उदाहरणो से कुछ भिन्न है। बालको को दूध पिलाने का चरित्र तो प्रति दिन आँखो के सामने होता रहता है और यह बात कहते, जानते और सुनते रहते है कि इसका मुख्य लक्ष्य चोटी बढाना नही है, बालक के सब अगो का पोषण करना है, परन्तु पुराणो के विषय मे ऐसा कोई प्रमाण नही है कि जिससे उनको मिथ्या माना जाए और जिनके ये वचन है वे लोग बहुत ऊँचे साक्षी है। उनकी गवाही पर आचण करने वाले बहुत लाभ उठा चुके है और उठा रहे है। फिर ग्लानि के लिए अवसर ही कहाँ है? अनेक लोग सद्ज्ञान के बिना ही अपने को सद्ज्ञानी मान कर लोक मे मिथ्या शकाएँ प्रचलित करने लग गये है। उनसे भयभीत न होकर पुरुषार्थियो को पुरुषार्थ दिखाना चाहिए। प्राचीन भारत के लोगो के विश्वास दृढ थे, किन्तु धीरे-धीरे राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनो ने उनमे क्रान्ति उत्पन्न करदी। देश मे अनेक प्रकार की शकाओ को जन्म मिला। उनमे से बहुत-सी तो मिट गईं और बहुत-सी मिटती जा रही है। जिस समय आँधी का 'बबूला' उठे उस समय खुटी को दृढता से पकड कर चिपका खडा रहे। बबूला निकल जाने पर खुटी को छोडे। यही बात धर्म की है। जब नास्तिकता की आँधी उठे तो धर्मनिष्ठ का कर्तव्य है कि वह अपनी आस्तिकता की खुँटी को दृढना से पकडे रहे। नही तो उड जाने का भय है।

यदि कोई व्यक्ति पुराणो को मिथ्या कहता है तो उसके सामने गगाजल का उदाहरण रखना चाहिए। सब जानते है कि गगाजल अत्यन्त लाभदायक है। गगा की धारा के पर्वतो से आने के कारण, यदि उसमे ककड-पत्थर भी आ गये है तो गगाजल से प्रयोजन रखने-वाले उससे लाभ अवश्य उठाते है। जल के साथ आनेवाले पत्थरो

से न तो उनका प्रयोजन ही है, और न उनको बुरा-भला ही कहते हैं। इसी प्रकार लोगो को चाहिए कि कुतर्क का परित्याग करके पुराणो की कथाओ से लाभ उठावे।

अधिकार-भेद से जगत् मे तीन प्रकार के मनुष्य है एक तो वे है जो 'सत्य ब्रूयात्' इतनी मात्र आज्ञा पा कर ही असत्य नही बोलते, सत्य ही बोलते है। दूसरे वे लोग है जिनमे ऐसी योग्यता नही है, उनको पुराणो की ऐसी कथाएँ सुनने से लाभ होगा कि अमुक-अमुक व्यक्ति असत्य बोले बिना न रह सके, अतएव उनको इतना-इतना दण्ड मिला और अमुक-अमुक ने अति कष्ट पाने पर भी सदा सत्य-व्यवहार किया और उनको ऐसा-ऐसा उच्च पद मिला। ऐसे उदाहरणो से इस श्रेणी के लोग मार्ग पर आ सकते है। तीसरे प्रकार के लोग वे है जिनका मन पुराणो की कथा मे भी नही लगता। ऐसे मनुष्य हरिश्चन्द्र आदि के नाटको मे जब 'सत्यादि' के प्रत्यक्ष सफल दृश्यो को देखते है तो उनपर भी प्रभाव पडता है और सत्य का महत्व उनकी आँखो मे होकर हृदय और बुद्धि पर जम जाता है। चौथे प्रकार के ऐसे भी व्यक्ति है जिन पर किसी भी प्रकार से प्रभाव नही पड सकता। वे अधम से भी अधम है। अधिकार-भेद की यह परिपाटी ससार से उठ नही सकनी। सब प्रकार के मनुष्य इस ससार मे रहते है। उनकी योग्यता के अनुरूप उन्हे सन्मार्ग मे प्रवृत्त होने के निमित्त यहाँ प्रेरणा और प्रश्रय मिलते रहने ही चाहिए। उनका बन्द होना अच्छा नही है। पुराण भी ऐसी ही आवश्यकता की पूर्ति करते है।

सब मनुष्यो को एक ही प्रकार का उपदेश लाभप्रद नही हो सकता। मनुष्य की लाभ-ग्रहण-योग्यता के अनुरूप ही उपदेश-योजना होनी चाहिए। पुराणो मे तीन प्रकार के वचन है जो तीन प्रकार के मनुष्यो के लिए है। एक प्रकार के वे मनुष्य है जो भयद वचनो से मार्ग पर चलते है, अन्यथा नही चलते। दूसरे वे है जो प्राप्ति की आशा से मार्ग पर चलते है। उनके लिए रोचक वचन है।' और

तीसरे वे है जो उत्तम मार्ग को उत्तम समझ कर ही उस पर चलते है। न तो वे भय से चलते है और न प्राप्ति की आशा से। उनके लिए यथार्थ वचनो का निर्देश है। पुराणो मे यह सब सामग्री प्रचुरता से मिलती है।

न क्षेम पाता तप से न दान से,
न लोक जाता भव-पार मत्र से।
बिना किये अर्पण, कृष्ण, आपको,
प्रणाम, लीलावपुशील[1] प्रेम से ।।

'अरुण'

शरीर और प्राण की तरह दर्शन और धर्म का घनिष्ट सम्बन्ध है। भारत की चिन्ता-धारा मे धर्म जिस सूक्ष्म रूप से ओत-प्रोत है उस प्रकार अन्यत्र दुर्लभ है।

(६) भक्ति का विकास तथा रामानुज और उनके परवर्तियो की देन

भारत का प्राचीन धर्म व्यक्तिगत सुख ओर शान्ति के लिये ही नही था, अपितु उसके द्वारा समष्टिगत अभ्युदय की योजना का भी निर्माण किया गया था। भक्ति का सबध धर्म और दर्शन दोनो से ही है। हॉ वह जितनी धर्म की ओर झुकी हुई है, उतनी दशन की ओर नही।

'भक्ति' शब्द का जन्म 'भज्' धातु से हुआ है जिसका अर्थ सेवा करना माना गया है। अतएव भगवान् की सेवा करने की स्थिति मे ही भक्ति का स्वरूप बनता है। आर्य-धर्म मे भक्ति का पदार्पण कब हुआ, इस सम्बन्ध मे कोई निश्चित तिथि बतलाना असभव है, किन्तु यह सत्य है कि भक्ति का इतिहास अन्तर्लोक के विकास का इतिहास है जिसमे भारतीय सस्कृति के विकास का मनोवैज्ञानिक पक्ष निहित है। कुछ विद्वान् भक्ति का स्रोत विदेशी भाव-धारा को मानते है और कुछ विद्वानो के मत से इसका उद्गम भारतीय है। इसका बीज[1] वेद-मत्रो मे

(1) कल्चरल हेरिटेज आफ इडिया, II, पृ० ४८,

पाया जाता है। आर्य-जाति ने आरभ से ही सम्पूर्ण जगत् मे कार्य करने वाली शक्तियो को देव-रूप मे ग्रहण किया था।

देव-पूजा से सबधित वेद-मन्त्रो मे भक्ति[2] और श्रद्धा छलकती दीख पडती हैं। वरुण, सविता, उषा आदि के विषय मे रचे हुए, आत्म-विभोर कर देने वाले, वेद-मन्त्रो को पढ कर सच्ची भक्ति की अनुभूति न करना असभव है, चाहे उसका दार्शनिक[3] आधार कितना ही अपूर्ण क्यो न हो। मत्र-काल मे ही ब्रह्मरूप[4] मे एक ऐसी शक्ति की भावना कर ली गई थी जिसमे अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र आदि देवताओ के रूप मे ग्रहण की गई भिन्न-भिन्न शक्तियो का समाहार था।

वैदिक काल के सर्वप्रथम धार्मिक देवता वरुण थे। वे ऋत (सत्य) के सरक्षक थे। धार्मिक भावनाओ का जागरण वरुण के अनुशासन से ही सभव माना गया था। लोग अपने पापो से मुक्ति पाने के लिए वरुण की कृपा की याचना करते थे। इन्द्र वैदिक काल के लोक-सरक्षक देवता थे। वे लोक-कल्याण के लिए अति पराक्रमी प्रसिद्ध थे। अग्नि देवता होता के यज्ञान्न को देवताओ तक वहन करते थे। उस समय ब्रह्मा, विष्णु और शिव को उतना महत्त्व नही दिया गया था जितना आगे चल कर उनको पौराणिक काल मे दिया गया। वैदिक-काल का मानव अपने जीवन का अभ्युत्थान तप और सदाचार के द्वारा मानता था। इन्ही के बल पर वह स्वर्ग पाने की कामना करता था।

ऋग्वेद मे विष्णु (सूर्यदेव) सर्वज्ञ (त्रिविक्रमो विश्वस्य) है और वरुण (नभोदेव) स्वर्ग का राजा (भुवनस्य राजा) है। शतपथ ब्राह्मण के अनेक उद्धरणो से यह भली भाँति प्रमाणित हो जाता

(2) डाक्टर सील कम्परेटिव स्टडीज इन वैष्णविज्म एण्ड क्रिश्चियनिटी,
(3) बेल्वेल्कर तथा राणाडे . हिस्ट्री आफ इडियन फिलासफी;
(4) ऋग्वेद १-२/१६४-६४।

है कि एक समिष्ट-शक्ति मत्रकाल मे ही नाना रूपो और व्यापारो द्वारा व्यक्त होने वाली भिन्न-भिन्न शक्तियो का प्रतिनिधित्व करने लग गई थी। आगे चल कर उन सब देवताओ का ही तत्त्वदृष्टि से एक मे समाहार करके 'ब्रह्म' की प्रतिष्ठा कर दी गई। इससे धर्म के इतिहास मे दो नई बातो का समावेश होगया, एक तो ब्रह्म नाम से वाच्य परम शक्ति का ग्रहण और दूसरी उस परम शक्ति की नाना रूपो मे अभिव्यक्ति। ये ही दोनो तत्त्व आगे चल कर भक्ति के आधार के लिए अनिवार्य सिद्ध हुए।

वैष्णव भक्ति का रूप ऐतरेय ब्राह्मण मे कुछ अधिक स्पष्ट हो गया है। उसमे विष्णु को सर्वोच्च देव का पद दिया गया है और वेदो के वे मत्र भी जो इतर देवो से सबधित है, विष्णु-विषयक बना दिये गये है। यही देव तैत्तिरीय आरण्यक मे 'नारायणत्व' प्राप्त कर लेते है। यहाँ नारायण एक प्राचीन ऋषि है जिनको 'पाचरात्र' लोग विष्णु के अवतार के रूप मे पूजते है।

भक्ति-मार्ग का शिलान्यास वस्तुत आरण्यको और उपनिषदो के उपासना-काण्ड मे हुआ दीख पडता है, जो ज्ञान-काड का ही एक अग है। ज्ञान-काड के दो मार्ग है—एक तो विशुद्ध ज्ञान को लेकर चलने वाला निवृत्तिपरक ज्ञान-मार्ग और दूसरा हृदय-पक्ष-समन्वित ज्ञान को लेकर चलने वाला कर्म-परक ज्ञान-मार्ग। कर्म-परक ज्ञान-मार्ग मे कर्म के साथ बुद्धि और हृदय दोनो का योग आवश्यक ठहराया गया था। जहाँ से कर्म मे हृदय तत्त्व को कुछ अधिक स्थान देने की प्रवृत्ति हुई, वही से भक्ति-मार्ग आरभ हो गया। अथवा यो कहिये कि मनुष्य की बुद्धि और हृदय का स्वाभाविक रूप से सचालन प्रारभ हो गया।

उपनिषद् काल की धार्मिक परपरा का आधार उस समय का दर्शन रहा। वेदो मे जो शक्ति सर्वोत्कृष्ट मानी जा चुकी थी, वही उपनिषदो मे आनन्दस्वरूप, मानव-आनन्द का स्रोत, भी

मानली गई। जब वह शक्ति रस और आनन्दमय दीख पडी तो मानव-आकर्षण का केन्द्र बन गई। उसके पाने की चेष्टा स्वाभाविक हो गई। पर क्या उसे सब अपने प्रयत्नो से पा सकते है? कठोपनिषद् मे इसका उत्तर नकारात्मक मिलता है। "वह आत्मा (ब्रह्म) न तो प्रवचन से प्राप्त करने योग्य है और न मेधा तथा बहु-श्रवण से ही प्रापणीय है। वह जिसका वरण करती है, उसीको उसकी प्राप्ति होती हे, उसके प्रति वह अपने स्वरूप को व्यक्त कर देती है।"† स्पष्टत इससे भक्ति-मार्ग का 'अनुग्रह'-सिद्धान्त प्रतिपन्न हो जाता है। श्वेताश्वतर‡ उपनिपद् मे अनुग्रह-सिद्धान्त की ओर ओर भी अविक स्पष्ट सकेत मिलता है। उसी से प्रपत्ति¶ भी ध्वनित होती है। भक्ति शब्द का प्रयोग सबसे पहले उपनिषदो मे ही हुआ है, किन्तु जिस भक्ति का बीजन्यास वेद-मत्रो मे ओर प्रस्फुटन उपनिषदो मे हुआ है, वही महाभारत के समय के आसपास विकसित रूप मे दीख पडती है।

यह कहा जा चुका है कि उपनिषद् काल मे ब्रह्म की सर्वोपरि सत्ता मानी गई थी। ब्रह्म की अद्वितीय सत्ता के प्रति श्रद्धा हो जाने पर भारतीय चरित्र मे अनुपम तेजस्विता और उत्साह की प्रतिष्ठा हुई और ब्रह्मज्ञानी पूर्ण रूप से निर्भय हुआ।

ब्रह्मज्ञान साधारण लोगो की बुद्धि से सदा ही परे रहा है। उपनिषद् काल मे जो साधारण जनता वैदिक-कर्म काण्ड से ऊब उठी थी, वह भक्ति-मार्ग की ओर प्रवृत्त हुई। वैदिक काल के रुद्र (पशुपति, महादेव, शिव आदि) और विष्णु (नारायण, वासुदेव, कृष्ण आदि) उनके प्रमुख उपास्य देव हुए।

उपनिषद् काल के पश्चात् साधारण जनता का धर्म अधिक महत्त्वपूर्ण हो चला। सकुटुम्ब शिव तथा कृष्ण की भक्ति मे मग्न

† कठ० उप० १-२-२३ तथा मु० उप० ३ २ ३
‡ श्वेताश्वतर उप० ६-२३
¶ श्वे० उप० ६-२३ तथा २-७

जनता जल, वृक्ष, पौधो तथा पशुओ मे भी अलौकिक देव-कोटि की सत्ताओ का अस्तित्व मान कर उनकी पूजा करने लगी। देवताओ की मूर्तिओ की पूजा भी इसी युग से प्रचलित हुई। इसी युग मे पुनर्जन्मवाद और कर्मफल की प्राप्ति की चर्चा भी विशेष रूप से हुई।

पूर्वजन्म के कर्मों के फल से मुक्ति पा लेना ईश्वर की कृपा से ही सभव हो सकता है। इसके लिए ईश्वर की भक्ति होनी चाहिए। भागवत-धर्म की स्थापना इसी सिद्धान्त को लेकर हुई। इसका प्रवर्तन वसुदेव के पुत्र वासुदेव ने किया। गीता भागवत धर्म का प्रमुख ग्रन्थ है। इसमे भक्ति को मानव की परम शान्ति के लिए आवश्यक बताया गया है। भागवत धर्म मे नवीनता तो अवश्य थी, पर प्राचीन वैदिक धर्म से उसका सामजस्य कराने का सफल प्रयत्न तत्कालीन साहित्य मे मिलता है।

भक्ति का तात्त्विक निरूपण भी सबसे पहले भगवद्गीता मे ही मिलता है। भगवद्गीता महाभारत का ही एक अग है। महाभारत काल के आसपास भगवान् का जो उपास्यरूप सामने आया वह बहुत व्यापक था। यादव-नेता श्री कृष्ण को उस समय विष्णु का अवतार मान लिया गया था जिसने अर्जुन को अपने विराट् रूप का परिचय दिया था। एक ही देव, वासुदेव मे गुण समष्टि की कल्पना उनके विराट् स्वरूप को सिद्ध करती है। वासुदेवोपासना परम व्याकर्ता पाणिनि (५० ई० पूर्व) के समय मे भी होती थी।

भगवान् वासुदेव के भक्त 'भागवत' कहलाये, जिनमे से एक यूनान का राजदूत, हेल्योडोरस (Heliodoros) भी था, जो ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व भारत मे आया था। महाभारत मे दुर्गा की पूजा का भी उल्लेख है। आगे चल कर दुर्गा-पूजा शक्ति-पूजा के रूप मे विकसित हुई। शाक्तमत का प्रचार हुआ। गुप्त-काल मे

भी विष्णु और उनकी परमप्रिया लक्ष्मी की उपासना की जाती थी और गुप्त-सम्राटो को महाभागवत कहते थे, किन्तु गुप्त-काल मे दुर्गा-पूजा का प्रचार विशेष रूप से हुआ। शैव और वैष्णव सम्प्रदायो की भॉति शाक्त-सम्प्रदाय भी लोक-प्रिय हुआ। इस सम्प्रदाय मे बीभत्स और भयकर विधानो के द्वारा दुर्गा या चडिका देवी को सन्तुष्ट करने की विधि प्रचलित रही। मानव का बलिदान करके भी देवी को प्रसन्न करने तक की आयोजना प्रचलित थी। कुछ सुसस्कृत लोग दुर्गा की पूजा मानवोचित ढग से भी करते थे और केवल पत्र पुष्प, फल, तोय, मिष्टान्न का नैवेद्य समर्पित करके दुर्गा को प्रसन्न करने का आयोजन करते थे।

हिंसा के विरोध मे जैन और बौद्ध धर्म भी बहुत प्रगति कर चुके थे। समय बीतने पर गौतम बुद्ध देवता माने जाने लगे। कनिष्क के समय मे उन्हे देवातिदेव की उपाधि दी गई। बैष्णव या भागवत धर्म के विष्णु की भॉति उनके अवतारो की कल्पना की गई। इसी समय बौद्ध धर्म की महायान शाखा विकसित हुई। मौलिक बौद्ध-धर्म हीनयान रह गया। हीनयान मे कोई मनुष्य केवल अपने व्यक्तिगत निर्वाण के लिए प्रयत्न कर सकता है, पर महायान के अनुसार अनेक बार जन्म लेकर भी सभी प्राणियो की निर्वाण प्राप्ति का यत्न किया जाता था। इस प्रकार हीनयान महायान की तुलना मे हीन सिद्ध होता है। नागार्जुन ने महायान शाखा के सिद्धातो का विशद विवेचन करके उसे प्रतिष्ठित किया था।

महायान, शैव और वैष्णव धर्मों का एक दूसरे पर प्रभाव पडा। तीनो धर्मों मे मन्दिर और मूर्तियो की स्थापना और पूजा होती थी। वैष्णव धर्म के अनुसार गौतम बुद्ध भी विष्णु के अवतार माने गये। दोनो धर्मों के निकट सम्पर्क मे आने पर, समानता ही के कारण, बौद्ध धर्म वैष्णव धर्म मे अन्तर्हित होने लगा। बौद्ध

धर्म की वज्रयान शाखा के तान्त्रिक शैव और शाक्त मतावलम्बियो के प्राय समान ही थे ।

गुप्तकाल मे राजाओ और ब्राह्मण पुरोहितो के वैदिक धर्म के साथ ही साथ साधारण जनता का भक्ति-मार्ग बहुत लोकप्रिय हुआ । गीता मे बताई हुई वैष्णव भक्ति और श्वेताश्वतर उपनिपद मे प्रतिष्ठित शैव-भक्ति की पद्धति पर चलने वाले लोगो की सख्या बढती गई । इस भक्तिमार्ग का सब से अधिक प्रभावशाली रूप आज भी उस समय के बने हुए मन्दिरो और गुफाओ की मूर्तियो से प्रकट हो सकता है । जैन और बौद्ध सम्प्रदायो मे भी उस समय धार्मिक मर्तिकला का विकास हुआ । इन देवताओ के अतिरिक्त सूर्य की उपासना का विशेप प्रचार भी इस समय बढा ।

भक्ति का प्रधान ग्रथ गीता है जो महाभारत का ही एक अश है । महाभारत का रचना-काल सुनिश्चित तो नही है, किन्तु इसकी रचना की सम्भावना ई० पूर्व १००० से लेकर ई० पूर्व दूसरी शती तक की जाती है । ऐतिहासिक दृष्टि से गीता महाभारत का अग अवश्य है, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से वह उपनिषदो का सार है । फिर भी गीता की कुछ अपनी विशेषताएँ है । प्राचीन उपनिषद-स्पष्टत अद्वैतपरक है । गीता मे ईश्वरवादी तत्त्व का प्राधान्य है । गीता का ईश्वर, रामानुज के परमेश्वर की भाँति, साक्षात् परब्रह्म होते हुए भी सगुण और साकार है । गीता मे उपनिषदो की अपेक्षा भक्ति का महत्त्व अधिक है । साथ ही उपनिषदो के वैराग्य और सन्यास को गीता मे कर्मयोग का रूप देने की चेष्टा की गई है । गीता मे सन्यास की वृत्ति को अक्षुण्ण रखते हुए आध्यात्मिक आदर्श का लोक-जीवन के कर्तव्य और धर्म से समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की गई है । यह समन्वय की भावना गीता की विशेषता और उसका मूल सदेश है ।

रामायण ने राम का जो रूप प्रस्तुत किया उससे भी उपास्य

का माधुर्य झलकता है । इस प्रकार राम और कृष्ण को आदर्श मानव के रूप मे प्रस्तुत करने वाले सबसे प्राचीन और आदि ग्रथ क्रमश रामायण और -महाभारत है । राम और कृष्ण सम्बन्धी साहित्य का आदि प्रवाह इन्ही ग्रन्थो से माना जाता है । रामायण का प्रणयन काल ई० पू० आठवी शती के लगभग माना जाता है ।

रामायण के पश्चात् रामविषयक काव्य कालिदास का 'रघुवश' है । इसमे दिलीप से लेकर रघु, दशरथ, राम, कुश, आदि अनेक राजाओ का वर्णन मिलता है । इनमे से औरो की तो सक्षिप्त झॉकी मात्र है, पर राम की कथा को रामायण के आधार पर कुछ अधिक विस्तार दिया गया है । तीसरी शती के आसपास भास के नाटको ने राम के चरित्र को उज्ज्वल दिखाने मे भरसक प्रयत्न किया । सातवी शती के उत्तरार्ध मे भवभूति ने महावीरचरित और उत्तररामचरित लिखकर राम-काव्य के उत्थान मे एक बडा अध्याय जोडा । उत्तररामचरित मे लोक-सेवा और आत्मत्याग जीवन-साधना के प्रतीक है ।

इधर पुराणो की सृष्टि भी अविकल रूप से भारतीय भक्ति-धारा के प्रवाह को प्रगति देती रही । रामायण और महाभारत इन पुराणो के स्रोत बने रहे । वैदिक काल मे भी पुराण कोटि के साहित्य के उल्लेख मिलते है । पुराणो का वर्तमान रूप पॉचवी शती से मिलने लगा है । सृष्टि, प्रलय और पुन सृष्टि, आदिकालीन वशावली, मनुओ के गुणो का वर्णन तथा राजवशो का वर्णन—ये ही पुराणो के पाँच लक्षण है । जिन पुराणो मे दार्शनिकता और भक्ति का पुट है वे प्रधानत 'ब्रह्मपुराण' भागवत पुराण, और 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' है । लिग, वामन, और मार्कण्डेय पुराणो मे शैव और शाक्त सम्प्रदायो की चर्चा मिलती है । वराह, कूर्म, और मत्स्य पुराणो मे विष्णु के अवतारो का प्रमुख रूप से वर्णन है । पुराणो से भिन्न, पर उसी कोटि के, अठारह उपपुराण भी है । उपपुराणो मे पुराणो की अपेक्षा साम्प्रदायिक

विषयो की अधिक चर्चा है । इन पुराणो और उपपुराणो का सम्बन्ध वैदिक धर्म से है ।

अधिकाश पुराणो का दार्शनिक आधार ईश्वर वादी है। उपनिषदो के दुर्ग्राह्य निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा सगुण और साकार परमेश्वर सामान्य जन के लिए सुग्राह्य है । प्राय पुराणो मे विष्णु का ही प्रभुत्व और उनके अवतारो का वर्णन है, यद्यपि लिग, स्कन्द आदि पुराणो मे शिव को ही प्रधान माना गया है । उपासना के निरूपण का पुराणो मे पर्याप्त महत्त्व है। सब से अधिक महत्त्व-पूर्ण और लोकप्रिय पुराण श्रीमद्भागवत है । इसका प्रधान विषय विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण की मनोहर कथा है । दूसरा स्थान विष्णु पुराण का है जिसमे विष्णु की महत्ता का वर्णन है । ब्रह्म, पद्म, नारद और ब्रह्मवैवर्त पुराण भी विष्णु की श्रेष्ठता के ही समर्थक हे । वाराह, वामन, कूर्म और मत्स्य पुराण मे विष्णु के अन्य अवतारो का वर्णन है । वायु, लिग और स्कन्द पुराणो मे शिव की महत्ता का वर्णन है । विष्णु अथवा शिव की महत्ता का प्रतिपादन करनेवाले इन पुराणो मे सहिष्णुता का दृष्टिकोण सामान्य है । कुछ पुराणो मे विष्णु और शिव के एकत्व-प्रति-पादन द्वारा समन्वय का स्पष्ट प्रयास किया गया है ।

"धीरे-धीरे भक्ति-मार्ग से लोक-धर्म-पक्ष या कर्म-पक्ष हटता गया और उपासना मे भगवान् का लोक-रक्षा और लोक-मगल वाला स्वरूप तिरोहित होता गया और केवल ऐसे स्वरूप की प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति बढती गई जो अत्यन्त गहन और प्रगाढ प्रेम का आलबन हो सके । नारदीय भक्ति-सूत्र मे भक्ति को 'परम प्रेमरूपा' कह कर इसी बात का प्रमाण प्रस्तुत किया है । शाण्डिल्य ने भी अपने भक्ति-सूत्र मे भक्ति को ईश्वर विषयक 'परमरति' बतलाया है । भक्ति का यह नवीन रूप एक भाव था जो भक्त को ईश्वर की उपासना, उसके सर्वत्र दर्शन और सान्निध्य की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता था । श्रीमद्भागवत इसी प्रवृत्ति का मधुर फल* है ।" इस ग्रथ मे

* रामचन्द्र शुक्ल

यह सूचित किया गया है कि 'सात्वत धर्म या नारायण ऋषि का धर्म नैष्कर्म्य-लक्षण† है। इसमे भक्ति को पूरी प्रधानता न मिलने से ही भागवत पुराण‡ कहा गया है। आगे चलकर यही भागवत पुराण कृष्णोपासको के प्रेम-लक्षणा-भक्ति-योग का प्रधान ग्रथ हुआ और उसमें प्रकाशित श्रीकृष्ण का स्वरूप प्रेम या भक्ति का आलम्बन हुआ।

विद्वानो* ने भागवत का रचना-काल ईसा की ६०० और ८०० शताब्दी के मध्य माना है। इसमे कृष्ण को प्रेम के आलम्ब के रूप मे स्वीकार किया गया है। मनोहर बालक, प्रमी युवक, राजनीतिज्ञ, दार्शनिक और साक्षात् ईश्वर, इन सभी रूपो मे भागवत ने कृष्ण का चित्रण किया है। यह युगान्तरकारी ग्रन्थ था। न केवल नये भाव-सिद्धान्त के कारण, वरन् उत्कृष्ट साहित्यिक सौन्दर्य के कारण भी देश ने शीघ्र ही इसके प्रभाव की प्रधानता स्वीकार करली। प्रत्येक प्रान्त मे पौराणिको ने इसके भावो और अभिव्यक्ति के रूपो को गावो के द्वार-द्वार पर पहुँचा दिया। शुद्ध 'भक्ति' को भागवत मे अति मनोहर अभिव्यक्ति प्राप्त हुई।

गीता और भागवत वैष्णवो के प्रधान ग्रन्थ है जिनमे गीता प्राचीन है और भक्ति का कर्म-ज्ञान-समन्वित रूप प्रत्यक्ष करती है। तदुपरान्त भागवत मे कर्म और ज्ञान के क्षेत्र से अलग भक्ति का एक स्वतत्र क्षेत्र तैयार किया गया। पीछे भक्ति के सिद्धान्त-पक्ष के प्रतिपादन के लिए कुछ छोटे ग्रन्थ भी बने। नारदसूत्र, शाण्डिल्यसूत्र और नारदपाचरात्र उन्ही के उदाहरण है।

श्रीमद्भागवत के आविर्भाव के उपरान्त भक्ति ने जो बाह्य और आभ्यन्तर रूप प्राप्त किया, उसके प्रवर्तको मे चार मुख्य

† भागवत १ ३ ८ तथा ११ ४ ६

‡ भागवत १ ५ १२

* सूरदास रामचन्द्रशुक्ल, पृ० ३२ तथा गुजरात एण्ड इट्स लिट्रेचर के एम मुशी पृ० १७६

आचार्य दिखाई पडते है—रामानुज, निम्बार्क मध्व और वल्लभ। इन्होंने अपनी-अपनी रुचि और भावना के अनुसार उपासना की पद्धतियाँ चलाई। रामानुज श्रीवैष्णव सम्प्रदायक के प्रवर्तक थे। निम्बार्क ने सन् ११५० ई० के लगभग तैलगाना मे सनक सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया जिसमे राधाकृष्ण की शुद्ध भक्ति पर जोर दिया गया। मध्व (११९९-१२७८ ई०) ने उससे भी दृढ सम्प्रदाय—ब्रह्म सम्प्रदाय की नीव डाली। वल्लभ (१५ वी शता) ने पुष्टिमार्ग का प्रवर्तन करके भगवान् के अनुग्रह पर विशेष जोर दिया। इस सम्प्रदाय मे बालकृष्ण की उपासना का विशेष महत्त्व है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि भक्ति की नई धारा को प्रामुख्य देने वाला ग्रथ भागवत था। भागवत मे भाव-भक्ति का महत्त्व होते हुए भी 'राधा' का कोई उल्लेख नही है। रामानुज के समय मे भागवत का प्रचार हो गया था, और उन्होने उस पर श्रीभाष्य लिख कर उसकी मान्यता मे भी योग दिया है, किन्तु भागवत के कृष्ण के स्थान पर रामानुजीय भक्ति मे विष्णु ही प्रमुख रहे है। लक्ष्मी जी उनकी परमप्रिया रही है। विष्णु की स्थिति ने राधा को तो क्या, रुक्मिणी तक को श्रीसम्प्रदाय की मान्यताओ मे प्रतिष्ठित नही होने दिया है, किन्तु इसमे सन्देह नही कि 'राधा' का उदय भागवत के उपरान्त भक्ति की नई धारा के प्रवाह मे ही हुआ है। इसका सकेत भागवत मे मिलता है कि 'कृष्ण को एक गोपी अत्यन्त प्रिय है, पर 'राधा' का नाम सामने नही आता है। नई धारा ने ऐश्वर्यमयी लक्ष्मी अथवा महारानी रुक्मिणी के स्थान पर सामान्य लोक से अधिक मानवी प्रेममूर्ति 'राधा' को जन्म देकर ८०० ई० से पूर्व राष्ट्रीय कल्पना की प्रवृत्ति की एक सक्षिप्त रूप-रेखा भी रखदी है। ८५० ई० के आसपास 'ध्वन्यालोक' मे श्रीकृष्ण के साथ-साथ राधा की पूजा भी दिखाई गई है। लगभग ९८० ई० मे राधा को कृष्ण-भार्या के रूप मे देखा गया है। धारा के राजा

अमोघवर्ष के शिलालेख (९८० के आसपास) से यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है ।

आलवारो ने भक्ति के प्रचार मे कुछ अवशेष नही रहने दिया था । वे 'ईश्वर के दीवाने' थे । उनमे से एक राजा, दूसरा भिखारी, तीसरी एक स्त्री, और चौथा एक शूद्र था । नारायण की जिस भक्ति का उक्त आलवारो ने प्रचार किया उसके अन्तर्गत 'परम प्रेम' और 'आत्मसमर्पण' से ईश्वर की प्राप्ति किसी को भी हो सकती है । इसमे जाति, पद और सस्कृति का कोई प्रतिबध नही है । उनके 'भक्ति-गीत' 'वैष्णव-वेद' के नाम से दक्षिण मे बडे लोकप्रिय हो चुके है ।

इन आलवारो के उपरान्त आचार्यो का समय आता है जिन्होने भक्ति को दार्शनिक आधार प्रदान किया । सन् १००० ई० के आसपास यामुनाचार्य ने प्रपत्ति-सिद्धान्त को जन्म दिया । उन्ही के प्रपौत्र रामानुज थे जिन्होने भक्ति-आन्दोलन को पूर्णत दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान करके 'विशिष्टाद्वैतवाद' का पद दिया ।

पाचरात्र का प्रामाण्य सब को मान्य है, परन्तु श्रीवैष्णव-मत पर पाचरात्र का विशेष प्रभाव है । वैष्णव पुराणो मे विष्णु पुराण को रामानुज ने तथा श्रीमद्भागवत को वल्लभ ने अपनाया है । इन सब आचार्यों का सामान्य प्रयत्न शकराचार्य के मायावाद अर्थात् जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिषेध था । ये भक्त होने के साथ-साथ दार्शनिक भी थे । इन्होने उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र के चिन्तन से ब्रह्म के स्वरूप का बोध प्राप्त करके उक्त मतो मे अपनी-अपनी रुचि और भावना का प्रकाशन किया है ।

श्रीमद्भागवत मे श्रीकृष्ण के मधुर रूप का विशेष वर्णन होने से भक्ति क्षेत्र मे गोपियो के ढग के प्रेम का, माधुर्य भाव का, द्वार खुल गया । सब सम्प्रदायो के कृष्ण भक्त भागवत मे वर्णित कृष्ण की व्रजलीला को ही लेकर चले क्योकि उन्होने अपनी प्रेमलक्षणा भक्ति के लिए कृष्ण का मधुर रूप ही पर्याप्त समझा।

वे कृष्ण को केवल प्रेम-क्रीडा के एकान्त क्षेत्र मे रख कर ही देखते रहे । श्रद्धा का अवयव, जो महत्त्व की भावना मे निमग्न करता है, छूट जाने से वे (कृष्ण-भक्त) कृष्ण के लोक-रक्षक और लोक-मगलकारी स्वरूप को सामने न ला सके । भगवान् के धर्म-स्वरूप को इस प्रकार किनारे रख देने से उसकी ओर आकर्षित होने और करने की प्रवृत्ति का विकास कृष्ण-भक्तो मे न हो पाया । फल यह हुआ कि कृष्ण-भक्त कवि अधिकतर फुटकल शृगारी पदो की रचना मे ही लगे रहे । उनकी रचनाओ मे न तो जीवन के अनेक गभीर-पक्षो के मार्मिक रूप स्फुरित हुए, न अनेक रूपता ‡ आई ।

भागवत के पीछे जितने कृष्णोपासना-सबधी सप्रदाय चले उन्होने कृष्ण को वात्सल्य और शृगार के आलबन के रूप मे ही लिया । उन्हे गोपीवल्लभ की प्रेममूर्ति ही आराधना के उपयुक्त दीख पडी । यद्यपि कृष्ण का आविर्भाव भी लोक-कटक आततायियो का पराभव करके धर्म की शक्ति और सौन्दर्य का प्रकाश करने के लिए कहा गया है, पर कृष्ण-भक्तो ने भगवान् के स्वरूप मे केवल सौन्दर्य ही देखा । इसके विपरीत रामोपासक भक्त-सम्प्रदाय शक्ति, शील और सौन्दर्य—तीनो विभूतियो से समन्वित 'राम' मे अपने हृदय को लीन करता आया । यद्यपि भगवान् के इसी रूप मे धर्म के पूर्ण रूप की भावना सनिहित रही है, फिर भी कृष्ण का सौन्दर्य (लीलादि मे) भक्त हृदय को खीचता रहा है ।

सन् १०१७ ई०-११२० ई० का युग रामानुज का समय था । उस समय धर्म-क्षेत्र मे बडी उच्छृखलता फैल रही थी । दर्शन के क्षेत्र मे शकर का मायावाद छारहा था और व्यवहार मे अनेक मत-मतान्तर फैले हुए थे । शिव, विष्णु और शक्ति की उपासना

‡ रामचन्द्र शुक्ल सूरदास, पृ० १३२—

प्रचलित थी और मायावाद की आड मे नाथ-सम्प्रदाय हठयोग का प्रचार कर रहा था। "पूर्व मे वाममार्गी स्त्री-उपासक सहज-मत का जन्म हो गया था। त्रिपुरसुन्दरी-पूजा प्रचलित थी। ऐसे समय मे रामानुजाचार्य ने वैष्णव धर्म का सगठन एक नये प्रकार से किया। उन्होने उन सब धर्म सम्प्रदायो को स्वीकार करलिया जो शास्त्र-विहित थे और उनका वैष्णव धर्म से सबध स्थापित किया।"

शकर ने शैव-धर्म के प्रचार के साथ-साथ बौद्ध शून्यवाद के खण्डन मे ज्ञान का विशेष आश्रय लिया था। इससे उनका भक्ति-धर्म कोई विशेष प्रगति न कर सका। शकर के मायामय अद्वैतवाद मे भक्ति को सहारने की शक्ति न थी। उससे अस्मिता की वृद्धि के साथ-साथ निराशा की गति भी तीव्र थी। शकर ने जिस मायावाद से जगत् को मिथ्या सिद्ध करके ब्रह्म और जीव की एकता सिद्ध की थी, रामानुज ने उसी पर आक्रमण करके जगत् की सत्यता का प्रतिपादन किया और जीव को ब्रह्म का (ईश्वर का) विशेषण बता कर विशिष्टाद्वैत का प्रवर्तन किया। रामानुज का नया मत खण्डन-मण्डन के लिए नही था, वरन् अहताजन्य दोषो के निवारण एव अद्वैतजन्य निराशा के स्थान पर आशा की प्रतिष्ठा के लिए था। अतएव जहाँ उन्होने मायावाद का खण्डन किया, वहाँ अपनी उपासना-पद्धति मे भक्ति को भी स्थान देने की आवश्यकता समझी। उन्होने जहाँ द्विजातियो को भक्ति का अधिकार दिया, वहाँ शूद्रो के लिए प्रपत्ति का उपदेश किया।

रामानुज के उपरान्त वल्लभाचार्य (सन् १४७८-१५३०) तक भक्ति-आन्दोल के विकास की अनेक सरणियाँ बनी। रामानुज के कुछ ही दिनो पश्चात् १२ वी शताब्दी मे आन्ध्रदेश मे निम्बार्क उत्पन्न हुए। उन्होने भक्ति और प्रपत्ति को एक मानकर भक्ति के क्षेत्र को विस्तीर्ण किया। रामानुज ने नारायण

तथा लक्ष्मी को अधिक महत्त्व दिया था, परन्तु निम्बार्क ने कृष्ण तथा राधा को उपास्य माना। उनके कुछ ही समय पश्चात् उनके अनुयायियो की सख्या बढती गई और व्रज और बगाल मे 'राधा' का प्रचार अधिकाधिक होता गया। कृष्ण के साथ राधा की अवतारणा भक्ति-आन्दोलन की एक बडी घटना है।

राधा की अवतारणा से भारतीय भक्ति-क्षेत्र मे पहली बार मधुर-भाव की उपासना को जन्म मिला। इसी समय इस माधुर्य-भाव से मिलती-जुलती एक उपासना-पद्धति सूफियो ने भी अकुरित कर रखी थी। शक्ति की उपासना के कारण बगाल मे 'मधुर-भाव' की भक्ति के लिए पहले ही पृष्ठ-भूमि बन चुकी थी। कृष्ण की लीला-भूमि, व्रज मे तो उनकी अनेक लीलाओ का अभाव होने के लिए कारण ही क्या था?

कृष्ण-भक्ति की दुदुभि देश-भर मे बज चुकी थी। दसवी शताब्दी मे पतनोन्मुख बौद्ध-धर्म ने बगाल के कान्ह भट्ट के प्रभाव से प्रभावित होकर, गुरु के प्रति अवैध प्रेम एव पूर्णत कायिक तथा मानसिक समर्पण का प्रचार किया। इसीसे भक्त को मुक्ति मिल सकती थी। इधर लोक-गीतो, उत्सवो और त्यौहारो के द्वारा राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाएँ देश मे अति प्रिय बन गई थी। उन्होने लोक-हृदय को तो विशेष रूप से जीत लिया था। इन दोनो धाराओ ने कृष्ण-भक्ति के प्रवाह को और भी दृढ बना दिया। ग्यारहवी शताब्दी मे उमापति ने और बारहवी मे गीतगोविन्दकार जयदेव ने कृष्ण-रस से आपूर्ण कलात्मक रचनाओ द्वारा भावुको को मत्रमुग्ध-सा कर लिया था। देश के भक्त-कलाकारो पर गीत-गोविन्द का प्रभाव तो इतना पडा कि अपनी रचना के एक शताब्दी के भीतर ही उसकी गणना 'क्लासिक' रचनाओ मे होने लगी।

रामानुज के लगभग २०० वर्ष बाद सन् १२३७ ई० मे मध्वाचार्य का जन्म हुआ। उन्होने वैराग्य और नवधा भक्ति पर

विशेप जोर दिया। उन्होने विष्णु को परमात्मा मान कर उनके अवतार राम और कृष्ण को उपास्य ठहराया, किन्तु कृष्ण पर अधिक बल दिया। इसके बाद विष्णु स्वामी ने महाराष्ट्र में विष्णु-भक्ति को विशेष रूप से प्रतिष्ठित किया।

चौदहवी शताब्दी मे नवद्वीप (नदिया), जहाँ परवर्ती बौद्धो ने प्रेम को ही निर्वाण का एकमात्र साधन बतलाया था, चडीदास के रसभीने प्रेमगीतो से गूज उठा। यह विद्वान् ब्राह्मण सहजिया सम्प्रदाय का था, किन्तु उसके प्रेमगीतो मे लौकिक प्रेम अपने दिव्य और अलौकिक रूप मे व्यक्त हुआ था।

रामानुजादि आचार्यों का सबध दक्षिण से था। उनके मत की विशेष प्रतिष्ठा दक्षिण मे ही हुई थी, किन्तु रामानन्द (१३३०-१४४५ ई०) ने दक्षिण के आचार्यों के मत को अधिक सार्वजनिक रूप देकर उत्तर भारत मे प्रचलित करने का विशेष श्रेय प्राप्त किया। रामानन्द ने रामानुज के श्रीसम्प्रदाय को व्यापक और लोक-प्रिय बनाया। उन्होने भक्ति-क्षेत्र मे स्त्रियो और अछूतो तक को अधिकार दिया। विष्णु अथवा नारायण के स्थान पर उनके अवतार राम की भक्ति का प्रचार भी इन्होने ही किया। इनके उपदेशो की विशेषता यह थी कि वे सस्कृत मे न होकर लोक-भाषा मे थे। भाषा के क्षेत्र मे यह एक अपूर्व क्रान्ति थी।

रामानन्द के पश्चात् तो उत्तर भारत मे भक्ति का तार बँध गया। रामानन्द के कुछ विशेप सिद्धान्तो के प्रभाव से सतमत का उदय हुआ। सतो मे सबसे अधिक लोक-प्रिय कबीर (१३९८ ई०-१५१८ ई०) हुए जो सतमत के प्रवर्तक भी माने जाते है। सन्त-मत मे राम का सगुण साकार रूप छोड कर निर्गुण निराकार रूप स्वीकार किया गया। यद्यपि भारत के धार्मिक इतिहास मे सन्तमत एक महत्वपूर्ण आन्दोलन के नाम से विख्यात रहेगा, किन्तु उसका मेरुदण्ड भक्ति-भाव ही था। कबीर, उनके समकालीनो और अनु-

यायियो के प्रयास से सतो के अनेक सम्प्रदाय शीघ्र ही स्थापित हो गये और उन्होने समस्त उत्तर भारत को रागात्मिका भक्ति की लहर मे डुबा दिया।

वैष्णव भक्ति की परपरा में प्रेम के आलम्बन राम और कृष्ण (विष्णु के अवतार) ही रहे है, किन्तु रामानन्द के पश्चात् कबीर आदि निर्गुण सन्तो के हाथो मे पडकर 'राम' अपने रूप और गुण को खोकर 'निर्गुण-निराकार' ही रह जाते है। यो तो 'हरि' आदि नाम भी सन्त-भक्तो की रचनाओ मे मिलते है, किन्तु वे सब एक ही निर्गुण के प्रतीक है। "ना दसरथ घरि औतरि आवा, ना जसवै लै गोद खिलावा", कह कर कबीर ने 'राम' और 'कृष्ण' से अवतारत्व छीन कर उन्हे निर्गुण बना दिया है। इस निर्गुण परमात्मा की प्राप्ति के साधन मे कबीरादि ने कायिक तत्त्वो को बडा महत्त्व दिया है। उन्होने भक्ति को न केवल अव्यक्त मे निहित किया है, वरन् कायिक साधना का प्रचार भी किया है। इससे भक्ति सरल के स्थान पर जटिल और दुरूह बन गई है। वैष्णव भक्ति के आधार, रागात्मिका वृत्ति मे ऐसी जटिलता के लिए कोई अवकाश नही है। उसमे प्रेम का वह सरल रूप है जिसे सब लोग जानते है। जिन वैष्णव भक्तो का अन्यत्र नाम लिया जा चुका है, उनकी प्रवृत्ति इसी सरलता और सुगमता की ओर रही है। वे किसी ज्योति या प्रकाश का ध्यान नही करते, प्रत्युत वे उस रूप-माधुरी को मन मे लाने के लिए ध्यान करते है जिसकी कल्पना रूप बन कर उनकी दृष्टि मे समाई हुई है। उनका ध्यान किसी 'अनाहत नाद' का आश्रय नही लेता और न वे सुरति-निरति के झमेले मे पड कर किसी अव्यक्त निर्गुण तक पहुँचने का प्रयत्न ही करते है। अतएव सत्य यह है कि वैष्णव भक्ति का रागात्मक रूप सहजयानियो और नाथपथियो के कायिक आग्रहो के कारण विकृत हो गया। उन्ही के प्रभाव से कबीर का प्रेम सफल नही हो पाया है, यद्यपि कबीर ने उसकी सफलता के लिए

भरसक चष्टा की है। सत-मत मे 'निर्गुण' का आग्रह भारतीय भक्ति-मार्ग मे अपूर्व उत्क्राति है। निर्गुण और अव्यक्त को लेकर कभी कोई भक्ति-मार्ग भारतीय आर्य-धर्म के भीतर नही चला।

निर्गुणोपासना मे माधुर्य-भाव की स्थिति भी दिखाई पडती है, किन्तु उसमें लीलापक्ष का अभाव है। वहाँ केवल ध्यानपक्ष है, ध्यान भी निराकार ईश्वर का। अत पति के रूप का मूल मे ही आरोप करना पडता है। कृष्ण-भक्ति-मार्ग मे जो कृष्ण लिए गये है, वे वास्तव मे शृगार के आलबन रहे है, पर इस्लाम या ईसाई-धर्म मे प्रियतम का आरोपमात्र है। इस कारण इन धर्मों के भक्तो मे माधुर्य-भाव रहस्यवाद का एक अग है, पर कृष्णोपासको में वह भगवान् की नरलीला का एक विज्ञात अग है।

पन्द्रहवी शताब्दी के अन्त और सोलहवी के आदि मे कृष्ण भक्ति ने भारत मे एक धार्मिक क्रान्ति को जन्म देकर भक्ति को मधुरतर बना दिया। इस काल के कुछ पूर्व वल्लभाचार्य के गुरु, विष्णु स्वामी, जो सन्त ज्ञानेश्वर के भी गुरु थे, राधाकृष्ण सम्प्रदाय का बडे जोरो से प्रचार कर चुके थे। महाराष्ट्र प्रदेश मे सन्त ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ और तुकाराम ने जिस भक्ति का प्रचार किया, उसमें राधाकृष्ण के महत्त्व की प्रतिष्ठा के साथ-साथ 'कान्त-भाव' की पावनता सुरक्षित थी, किन्तु चैतन्य द्वारा प्रतिपादित भक्ति मे मधुर भाव को प्रतिष्ठित किया गया था। उसमे राधा और कृष्ण के, प्रिया और प्रेमी के, हृदयो का प्रबल आकर्षण है। चैतन्य की भक्ति मे 'बौद्ध-भक्ति' की छाया स्पष्ट है।

चैतन्य का समय १४८५ ई० से १५८५ तक है। यद्यपि उनका सम्बन्ध प्रधानत बगाल से रहा, किन्तु उन्होने व्रज-देश के गौडीय वैष्णवो को एक नई दिशा प्रदान की और उनकी भक्ति-भावना ने व्रज के भक्तो और भक्त-सम्प्रदायो को भी प्रभावित किया। यह तो ऊपर ही कहा जा चुका है कि चैतन्य की भक्ति मे 'मधुर-भाव'

की प्रधानता थी। वे राधा के महाभाव को आदर्श मानते थे। भक्त का लक्ष्य भी साधना द्वारा इसी तन्मयता का उपलाभ होना चाहिए, यह उनकी साधना का मूल मन्त्र था। उनकी साधना मुख्यत व्यक्तिगत साधना थी और उसे शास्त्र का रूप बहुत बाद मे दिया गया।

चैतन्य के समकालीन श्री वल्लभाचार्य थे। भक्ति-क्षेत्र मे उनका उदय चैतन्य से कुछ पहले हो चुका था। वल्लभाचार्य का समय १४७८ ई० से १५३० ई० तक माना जाता है। वे शास्त्रज्ञ और सस्कृत के धुरन्धर पडित थे। वे आचार्य भी थे, केवल साधक और भक्त ही नही थे। उन्होने अन्य आचार्यों की तरह जीव, ब्रह्म, माया, जगत् आदि दार्शनिक विषयो पर गूढ गवेषणाएँ की और शकर के मायावाद के विरोध मे 'शुद्धाद्वैत' दर्शन की प्रतिष्ठा की। उपासना के क्षेत्र मे उन्होने राधा को स्वीकार नही किया। इससे स्पष्ट है कि वे मधुर भक्ति के समर्थक नही थे। उन्होने शृगारपूर्ण प्रसगो को रूपक बना कर भागवत की व्याख्या की। उन्हे केवल मात्र लीला नही माना। इससे उनका दृष्टिकोण स्पष्टत हमारे सामने आ जाता है। उन्होने बालकृष्ण की (नवनीतप्रिय की) उपासना का एक विस्तृत आयोजन खडा किया। इसमे श्रीकृष्ण की बालमूर्ति (श्रीनाथजी) की उपासना की जाती है।

वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथजी ने 'अष्टछाप' की स्थापना कर के भक्ति के पायो को और भी दृढ कर दिया था। रूप और जीव गोस्वामियो ने भी भक्ति के प्रसार मे कुछ कम सहयोग नही दिया था। 'उज्ज्वलनीलमणि' और 'भक्ति-रसामृत-सिधु' भक्ति-सम्बन्धित अनूठे ग्रन्थ है। इधर अष्टछाप के कवियो मे सूरदास, नन्ददास और परमानन्ददास को भला कौन भुला सकता है? इन सब मे सूरदास ने भक्ति के प्रसार मे अधिक योग दिया। सूरसागर भक्त सूरदास के हृदय का स्वाभाविक उन्मेष है। उसमे

रामानुज से लेकर वल्लभाचार्य तक विकसित भक्ति-भावना के उत्कृष्ट रूप के दर्शन होते है। सूर की कविता वल्लभीय पुष्टिमार्ग और शुद्धाद्वैत-सम्बन्धी मान्यताओ पर तो पूरी उतरती ही है, वह स्वय भी अपने मे पूर्ण है और उसमे तत्कालीन भक्ति-भावना के विविध रूपो (दास्य, वात्सल्य, माधुर्य एव सख्य) के सुन्दरतम दर्शन होते है।

इधर राम-भक्ति के क्षेत्र मे भी अनेक भक्त अवतीर्ण हुए है, किन्तु रामानन्द के बाद भक्तो मे किसी का नाम विशेष रूप से स्मरण किया जाता है तो तुलसीदास का। तुलसीदास ने उत्तर-भारत के भक्ति-क्षेत्र मे जो क्रान्ति की उसे भारत का इतिहास ही नही, भविष्य भी भुला नही सकता। वे प्रमुखत भक्त थे, तदनन्तर कवि, किन्तु कही-कही उनका 'चिन्तक' भी मुखर हो उठता है। उन्होने उत्तर-काड मे ईश्वर, जीव, भक्ति आदि की जो व्याख्या प्रस्तुत की ह, उससे हम उनकी सैद्धान्तिक रुचि का भी अनुमान लगा सकते है। इसके विपरीत सूरदास ने अपने काव्य मे कही भी इस रुचि को प्रकाशित नही किया। उनका काव्य उनकी भक्ति-साधना का अनिवार्य अग था। दूसरो के लिए वह भले ही काव्य हो, किन्तु सूरदास के लिए वह उनकी वृत्तियो के परिष्कार का साधन था। वह भगवल्लीला का ज्ञान मात्र था। इससे यह न समझ लेना चाहिए कि वे पुष्टिमार्ग के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तो से अवगत नही थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से पता चलता है कि वे पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तो से अच्छी तरह अवगत थे। विट्ठलनाथजी ने तो उन्हे 'पुष्टिमार्ग' का जहाज तक कह डाला है।

सत्रहवी शताब्दी के पश्चात् भक्ति-धारा की प्रगति रुक गई। अनेक सम्प्रदायो मे टूट-फूट होकर पुराने सिद्धान्तो का ही पिष्ट-पेषण होता रहा। जनता के हृदय से भक्ति का कितना ही प्रभाव रहा हो, लेखनी पर भक्ति का प्रभाव शिथिल पड गया था। रीति-

जाए जैसे देह, गेह, धन, पुत्र, कलत्र आदि मे यह सहज ही मग्न हो जाता है। तभी समझिये कि भक्त का उदय हो गया, भगवान् के चरणो मे दृढ प्रेम हो गया। बस, फिर क्या है ? द्वद्वो से मुक्ति मिल जायगी, अभिमान दूर हो जायगा, ज्ञान मे तल्लीनता हो जायगी, विषयो से विरति हो जायगी, अनेक परीक्षाओ मे सफलता मिलेगी और सर्व हितैषिता तथा मन की निर्मलता सिद्ध हो जायगी। भला, फिर सुख-निधि, चतुर भगवान् राम प्रसन्न होकर वशीभूत क्यो न होगे ? किन्तु यह राम के अनुग्रह से ही सम्भव हो सकता है।"[1] अत तुलसीदास भगवान् से इसी प्रकार के प्रेम की याचना करते है कि "हे रघुनाथ, जिस प्रकार कामी को स्त्री और लोभी को धन प्रिय लगता है उसी प्रकार आप मुझे निरन्तर प्रिय लगते रहे।"[2] सम्भवत ऐसी प्रेम-पद्धति की शिक्षा तुलसीदास को भक्त प्रह्लाद से मिली हो। वे भी विष्णु पुराण[3] मे भगवान् से ऐसी ही भक्ति की याचना करते है। पार्थिव प्रेम और भगवत्प्रेम की पद्धति एक होते हुए भी दोनो की स्थितियो मे प्रथित अन्तर है। आसक्ति के सब पार्थिव लक्ष्य नश्वर होने से सान्त है, किन्तु भक्ति का लक्ष्य अनश्वर और अनन्त है।

जब अनुरक्ति का प्रवाह अनेक से एक की ओर, सान्त से अनन्त की ओर, जगत् से भगवान् के चरणो की ओर मुड जाता है, उसी दशा मे भक्ति का रूप बनता है। विनयपत्रिका मे भक्ति का यही रूप सामने रखते हुए तुलसीदास कहते है "जिसे श्रीराम और सीता प्रिय नही है उसे करोडो वैरियो के समान समझ कर छोड

---

1 वि० पू०, २०४

2 कामिय नारि पियारि जिमि, लोभिय प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम।।

3 या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरत सा मे हृदयान्मापसर्पतु।।

वि० पु०, १ २० १६

देना चाहिये, चाहे वह अपना परम स्नेही ही क्यो न हो ।
जिसके कारण राम के चरणो मे स्नेह हो, वही सब प्रकार से हितैषी, पूज्य और प्राणो से भी अधिक प्रिय है । बस यही हमारा सिद्धान्त है ।"[1] यही अनन्य भक्ति का लक्षण है ।

राम के पूछने पर उनके निवासोचित स्थान बतलाते हुए वाल्मीकि उक्त लक्षण ही की ओर सकेत करते हुए कहते है "हे तात ! स्वामी, सखा, माता, पिता, गुरु—सब कुछ जिनके तुम्ही हो उनके मन-मदिर मे तुम दोनो भाई सीतासहित निवास करो[2] ।"

और वनगमन के लिए उद्यत लक्ष्मण राम के प्रति अपनी विनयोक्ति मे उसी अनन्यता का परिचय इस प्रकार देते है "हे नाथ ! मै स्वभाव से कह रहा हूँ, मेरा विश्वास कीजिए कि मै आपके सिवा और किसी को माता, पिता और गुरु नही समझता हूँ । हे दीनबन्धो ! सर्वान्तर्यामिन् जगत् मे जहाँ तक स्नेह और नाते है तथा शास्त्र मे जिनके प्रति प्रीति और विश्वास की बात कही गई है, मेरे लिये तो वह सब कुछ आप ही है[3] ।"

अनन्य भक्ति का यह लक्षण नया आविष्कार नही है । शाडिल्य के "सा परानुरक्तिरीश्वरे[4], इस सूत्र मे इसी लक्षण की ओर सकेत है और नारद ने "सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा[5]" द्वारा इसी की पुष्टि की है । भक्ति की परमता केवल परमात्मा म सिद्ध होती है क्योकि जगत् के अनित्य नानात्व के नित्य समाहार की प्रतीति उसी मे होती है । जब तक नानात्व के साथ सबध रहेगा प्रेम परमता को प्राप्त न हो सकेगा । नानात्व से अनानात्व मे, अनेकत्व से एकत्व मे पहुँच कर ही प्रेम अपने अखड रूप मे प्रकट हो सकेगा । नानात्व

1 वि० प०, १७४ तु० की०, ना० भ० सू०, ११
2 रा० च० मा०, पृ० ४६७
3 रा० च० मा०, पृ० ४१५
4 शा० भ० सू०, २
5 ना० भ० सू०, २

की तुच्छता सामने आजायगी और प्रेम का आलबन (समष्टि-सबध का प्रतीक) सर्वोत्कृष्ट प्रतीत होने लगेगा। कदाचित् प्रेम की ऐसी ही अवस्था मे सूरदास लिखते है "भक्त का भगवान् जैसा कोई दूसरा स्वामी नही है। सेवक को जिस प्रकार भी सुख मिले भगवान् उसे उसी प्रकार रखता है। वह भूखे को भोजन, प्यासे को जल और नगे को वस्त्र देता है। वह अपने भक्त के साथ उसी प्रकार लगा फिरता है जैसे घर-वन जाते-आते-समय गाय अपने बछडे के साथ लगी फिरती है। वह अत्यत उदार, चतुर, अभिलाषा पूर्ण करने वाला, और निर्धन के लिए करोडो कुबेर के समान है। वह याचना करने वाले अपने भक्त की प्रतिज्ञा रखता है। सकट पडने पर तुरन्त दौडा आता है, वह ऐसा प्रणवीर है। वह महा कृतघ्न पुरुषो तक के लिए करोडो उपकार करता है और एक को भी हृदय मे नही लाता[1]।"

इसी प्रकार विनयपत्रिका (पद १६२) मे तुलसीदास 'बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर, राम सरिस कोउ नाही' से राम के औदार्य की अनुपमता प्रतिष्ठित करते है। अनन्य प्रेम की दशा मे भक्त को भगवान् मे ऐसे अनन्त गुणो का दर्शन होता रहता है जो उसके आकर्षण का केन्द्र बने रहते है।

भक्ति स्वय फलरूपा[2] है, अत वह निर्हेतुक है और परानुरक्ति भी निष्काम भक्ति ही को कह सकते है। भक्ति का यह स्वरूप गीता,[3] भागवत[4] आदि तक ही सीमित नही है, आगे भी बढा चला आता है और इससे प्रभावित होकर रसखान घोषणा कर उठते है कि "शुद्ध और अखड प्रेम वह है जिसके लिए यौवन, गुण, रूप

---

1 सू० सा०, पृ० ३
2 ना० भ० सू०, ३०
3 गीता ६ २७, २८ तथा गीता १२ ११
4 भाग० १ २. ६

और धन की अपेक्षा नही है, जो स्वहित या स्वार्थ से रहित है और जिसमे कामना का लेश तक नही है[1] ।"

प्रेम की अखडता निष्काम भक्ति मे ही रह सकती है । अत गीता मे भगवान् ने स्थान-स्थान पर 'निष्कामत्व' का उपदेश दिया है । वे अर्जुन से कहते है "हे कौन्तेय ! तू जो करे, जो खाए, जो हवन मे होम करे, जो दान मे दे, जो तप करे वह सब मुझे अर्पण करके कर । इससे तू शुभाशुभ फल देने वाले कर्मबन्धन से छूट जाएगा और फलत्यागरूपी समत्व को पाकर ,जन्म-मरण से मुक्त होकर मुझे पाएगा[2] ।" इसी उपदेश को मानो अगीकार करके कबीर भक्तोचित सहज दैन्य के साथ अपने समर्पण मे अनासक्ति का भाव भर कर कहते है । "मेरा क्या है ? मेरा तो कुछ नही । जो कुछ है सब तेरा ही है । तेरा तुझे सौपने मे मेरा क्या लगता है[3] ?"

भक्ति अमृतस्वरूपा[4] कही जाती है । उसमे लोकोत्तर माधुर्य होता है । "जिस प्रकार मूक गुड के स्वाद को व्यक्त नही कर सकता उसी प्रकार भगवत्प्रेम वाणी द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता[5] ।" इस रस को जो चखता है वही जानता है ।

भक्ति-विभोर भक्त को भगवान् के सिवा और कुछ नही दीखता । वह जिधर देखता है उधर उसे भगवान् का ही दर्शन होता है । "नेत्र, वाणी, मन—शरीर का कोना-कोना-प्रियतम का आवास

---

1 बिनु जोबन गुन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जानि ।
सुद्ध कामना ते रहित, प्रेम सकल रसखानि ।

2 गीता ९ २७, २८ तथा तथा १२ ११ तथा देखिये, ना० भ० सू०, ६५

3 मेरा मुझ में कुछ नही, जो कुछ है सो तेरा ।
तेरा तुझ को सौंपता, का लागै है मेरा । क० ग्र० पृ० १९
तु० की०, ना० भ० सू०, ६५

4 देखिये ना० भ० सू०, ३

5 कहै कबीर गूगै गुड खाया बूझै तो का कहिये । क० ग्र०, पृ० १३१
तु० की०, ना० भ० सू०, ५१, ५२

बन जाता है।"[1] यही तो भगवदासक्ति की वह अवस्था होती है जिसमे पर-छवि के लिए कोई अवकाश नही रहता। उसी की मानो अनुभूति करके रहीम कहते है। "नेत्रो मे तो प्रियतम की माधुरी बसी हुई है, दूसरे का सौन्दर्य कहाँ समाएगा ? वह अपने आप ही लौट जाएगा, जैसे सराय को भरी देख कर पथिक स्वत ही लौट जाता है।"[2] सूरदास की गोपियो के हृदय मे भी नद-नदन के सिवा और किसी के लिए स्थान नही है। भला, उनके होते हुए किसी और को कैसे बुलाया जा सकता है।[3] इसी अवस्था मे प्रेमी, प्रेम और प्रिय मे कोई अन्तर नही रहता।[4]

भगवान् भक्ति द्वारा ही मिलते है, परन्तु भक्ति हर किसी को मिलती भी तो नही। वह केवल उसी को मिलती है जिस पर भगवान् का अनुग्रह होता है।[5] सच तो यह है कि "भगवान् को केवल प्रेम (भक्ति) प्यारा है।"[6] प्रेम के कारण ही भक्त भगवान् मे और भगवान् भक्त मे निवास करते है। भरत भक्ति की इसी स्थिति मे है। भरत के प्रेम ने राम को इतना मुग्ध कर लिया है

---

1 नद० ग्र०, पृ० १२६ तु० की०, ना० भ० सू०, ५५

2 प्रीतम छवि नैनन बसी, पर छवि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिर जाय॥

3 देखिये सूरदास
"नाहिन रह्यौ हिय महँ ठौर।
नवनदन अछत कैसे आनिये उर और॥"

4 देखिये रहीम
प्रेम हरी को रूप है, त्यो हरि प्रेम सरूप।
एक हि ह्वै द्वै में लसै, ज्यो सूरज अरु धूप॥

5 तुम्हरिहि कृपा तुम्हहि रघुनन्दन।
जानहि भगत भगत उर चन्दन॥ रा० च० मा०, पृ० ४६४
तु० की०, "भगवत्कृपालेशाद्वा" ना० भ० सू०, ३८

6 रा० च० मा०, पृ० ४७२ · "रामहि केवल प्रेम पियारा"
तु० की०, महाभारत, १२ ३४३ ५४, ५५

कि 'जगत् राम को जपता है और राम भरत को जपते है ।'[1] प्रेम का यह आकर्षण, भक्ति का यह जादू भगवान् ने गीता मे स्वय स्वीकार किया है । वे कहते है—"यद्यपि मै सब प्राणियो मे समभाव से रहता हूँ, मुझे किसी से रागद्वेष नही है, किन्तु जो मुझे भक्ति-पूर्वक भजते है वे मुझ मे और मै उनमे रहता हूँ ।"[2] तुलसीदास ने भगवान् की इस प्रवृत्ति को वृहस्पति के मुख से इन्द्र के प्रति इन शब्दो मे व्यक्त करवाया है—"यद्यपि राम समदर्शी है, उन्हे किसी के प्रति राग-द्वेष नही है, वे किसी के पाप-पुण्य या गुण-दोष को ग्रहण नही करते है, उन्होने सारे ससार के लिए कर्म प्रधान कर रक्खा है, जो जैसा करता है वैसा फल पाता है, तथापि वे भक्त-अभक्त के हृदय के अनुसार सम-विषम विहार करते है ।"[3] "उन्हे अपने दास से अधिक प्रीति होती है ।"[4]

भक्ति पापो को नष्ट कर देती है । भगवान् की शरण मे आ जाने पर पापी भी पुण्यात्मा हो जाते है । अपावन को पावन करना अशरण को शरण देना तथा अरक्षित की रक्षा करना भगवान् का स्वभाव है । इसी भाव को व्यक्त करते हुए रामचरित मानस मे भरत राम से कहते है—'हे नाथ ! आपकी रीति, सुन्दर स्वभाव और बडाई जगत् मे विख्यात है । इनकी वेद शास्त्रो मे बडी प्रशसा है । क्रूर, कुटिल, दुष्ट, कुमति, कलकी, नीच, नि शील, निरीश और नि शक को भी सामने शरण मे आया हुआ सुनकर, एक बार प्रणाम करते ही, आप तुरन्त अपना लेते हैं । उनके दोषो को हृदय में न लाकर आप साधु-मडली मे उनके गुणो की ही प्रशसा करते

1 रा० च० मा०, पृ० ५४४ "भरत सरिस को राम सनेही ।
जगु जप राम रामु जप जेही ।।"
तु० की०, गीता ६ २६ 'मयि ते तेषु चाप्यहम् ।'

2 गीता ६ २६

3 रा० च० मा०, पृ० ५४५

4 देखिये, रा० च मा०, पृ० ६६१

है।"[1] गीता मे भगवान् ने भक्ति की महिमा और अपने स्वभाव का ऐसा ही वर्णन किया है ।

भक्ति रस का स्वाद ले लेने पर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सब तुच्छ एव हेय दीख पडते है । भक्त तो शरीर की उपयोगिता तक भक्ति के सबध से ही मानता है । यदि इस शरीर का उपयोग भगवान् की भक्ति के लिए नही हुआ तो यह व्यर्थ है । अत तुलसीदास कहते है—"जिन्होने अपने कानो से भगवान् की कथा नही सुनी उनके कान सॉप के बिल के समान है । जिन्होने अपनी ऑखो से सतो के दर्शन नही किये उनकी ऑखे मोरपख पर बनी हुई ऑखो के समान है । वे सिर, जो हरि-गुरु के पद-मूल मे नही झुकते, कडवी तूँबी के समान है । जिन्होने अपने हृदय मे ईश्वर भक्ति को धारण नही किया, वे प्राणी जीवित दशा मे भी मृतक के समान है । जो जीभ राम के गुणो का गान नही करती वह मेढक की जीभ के समान है । वह हृदय वज्र से भी अधिक कठोर है जो हरि-चरित्र को सुन कर गद्गद् नही होता ।[2]" भक्ति के बिना शरीर की व्यर्थता का ऐसा ही वर्णन भागवत[3] मे मिलता है। सभवत भक्तो मे यह भाव परपरा बना कर चला आया है। दादू भी भक्ति के बिना जीवन को व्यर्थ समझते हुए कहते है—"यदि जीवन भक्ति से सरसित नही है तो करोड वर्षों तक जीवित रहने अथवा अमर होने से भी क्या लाभ ?[4]

सस्कृत साहित्य के भक्ति-ग्रथो मे भक्ति के अनेक साधनो का वर्णन मिलता है जिनमे सत्सग को प्रमुख माना गया है। सत्सग की महिमा का वर्णन करते हुए स्वय भगवान् कृष्ण

---

1 रा० च० मा०, पृ० ६१७ तु० की०, गीता १८ ६६ तथा ९ ३०

2 रा० च० मा०, पृ० ११५

3 देखिये, भाग० २ ३ २०-२४

4 दा० बा० I, पृ० ९९, प० १२-१३

उद्धव से कहते है—"जगत् मे जितनी आसक्तियाँ है उन्हे सत्सग नष्ट कर देता है। यही कारण है कि

भक्ति के साधन

सत्सग मेरी प्रसन्नता का, मुझे वश मे कर लेने का, जैसा सफल साधन है वैसा साधन न योग है, न साख्य, न धर्मपालन और न स्वाध्याय। तपस्या, त्याग, इष्टापूर्त और दक्षिणा से भी मै वैसा प्रसन्न नही होता। कहाँ तक कहूँ व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम-नियम भी सत्सग के समान मुझे वश करने मे समर्थ नही है।"[1] सत्सग अमोघ[2] होता है। उसके अमित प्रभाव को सब भक्त एक मत से मानते चले आए है। तुलसीदास कहते है—"प्राणी भक्ति को, जो स्वतत्र और सफल सुखो का आकर है, सत्सग बिना नही पाते।"[3] इसका कारण बतलाते हुए वे कहते है—"सत्सग बिना भगवद्वार्ता नही होती, भगवद्वार्ता बिना मोह नही मिटता और मोह का नाश हुए बिना भगवान् के चरणो मे दृढ प्रेम नही होता। बिना प्रेम के योग, जप, ज्ञान, वैराग्य आदि साधनो से भी भगवान् की प्राप्ति नही होती।"[4] "यदि स्वर्ग और मोक्ष के सुखो को एक साथ एक पलडे मे और पलभर के सत्सग के सुख को दूसरे पलडे मे रखकर तोला जाय तो वे सत्सग के बराबर नही हो सकते।"[5] परन्तु क्षण भर का सत्सग भी दुर्लभ है।[6] "सत्सग की प्राप्ति बडे भाग्य से होती है और उससे प्रयास बिना ही भव-बधन (आवागमन) नष्ट हो जाता है।[7] सच तो यह है कि "सत्सग के समान दूसरा

---

1 भाग० ११ १२ १-२
2 देखिये, ना० भ० सू०, ३९
3 रा० च० मा०, पृ० १०२०
4 रा० च० मा०, पृ० १०३५
5 रा० च० मा०, पृ० ७५७ तु० की०, भाग० १ १८ १३
6 रा० च० मा०, पृ० १११२ . तु० की०, ना० सू० ३९
7 रा० च० मा०, पृ० १००९

कोई लाभ नही है, परन्तु वह भगवान् की कृपा से ही होता है।"[1]

सत स्वय अनन्य भक्त होता है, इसीलिए सत समागम से भक्ति का प्रादुर्भाव होता है।[2] भक्ति साहित्य मे सत और भगवान् मे अतर नही माना गया। विनयपत्रिका[3] मे 'सत भगवत अतर निरतर नही किमपि' से और सूरसागर[4] मे 'हरि हरिभक्त एक नहिं दोई' से भगवान् और सन्त (भक्त) की एकता प्रकट की गई है। "साधु प्रतषि देव[5] है" से हम कबीर के हृदय मे साधुओ (सतो) के प्रति उसी भावना का दर्शन करते है। सत समागम और भगवत्-समागम दोनो अन्योन्याश्रय है। पहले से दूसरे की और दूसरे से पहले की प्राप्ति होती है।[6] "साधु सतो की सेवा से हरि प्रसन्न होते है।"[7] भगवान् भक्तो के वश मे है। भगवान् को पाने के लिए भक्तो (सतो) से प्रेम बढाना चाहिए।[8] कबीर 'साधुसगति को ही वैकुठ' कहते है।[9]

गुरु को भी भक्ति का एक साधन माना गया है। यो तो गुरु सतो की श्रेणी मे होने से भक्ति का सत्सग से अलग साधन नही बनता, परन्तु शिष्य के साथ गुरु का सबध सामान्य सत

---

1 रा० च० मा०, पृ० १११५ तथा
वि० प० स्तु० १३६, पद १०, मत्र ३ तु० की०, ना० भ० सू०, ४०

2 देखिये, रै० बा०, पृ० ३७, प० २३ तु० की०, अ० रा०, अर० कां०, ३ ३७ ३९ तथा रा० च० मा०, पृ० ६६८

भगति तात अनुपम सुख मूला,
मिलइ जौ सत होंहि अनुकूला।।

3 वि० प०, पद ५७, अतिम पक्ति

4 सू० सा०, पृ० ३२, पद १६९

5 क० ग्र०, पृ० ४४, प० ५ तथा पृ० २७३ ३०

6 देखिये, दा० बा०, T, पृ० ६४, प० २२

7 व्यासजी ब्र० मा० सा० पृ० २११

8 देखिये, सू० सा०, पृ० २४, पद १२७

9 क० ग्र०, पृ० २९३ ९८ तु० की० अ० रा० अ० कां०, ३ ३६

की अपेक्षा प्रगाढतर होता है, अत भक्ति ग्रन्थो मे गुरु का निरूपण भक्ति के पृथक् साधन के रूप मे किया गया है। हिन्दी-साहित्य मे गुरु की महिमा को उसी प्रकार अक्षुण्ण रखा गया है जिस प्रकार वह सस्कृत साहित्य मे मिलती है। भक्त का धर्म सीखने के लिए साधक को गुरु की बडी आवश्यकता होती है। दूसरी बात यह है कि गुरु अपने अनुभव के रहस्य का उद्घाटन करके शिष्य के साधन-पथ को परिशुद्ध बना देता है। भगवान् को प्रसन्न करनेवाले भाव और आचरण की क्रियात्मक शिक्षा शिष्य को गुरु से ही मिलती है।[1]

"सद्गुरु के मिलने से सशय और भ्रम समूह मिट जाता है।"[2] मनुष्य शरीर इस ससार सागर मे एक पोत है, भगवान् का अनुग्रह अनुकूल पवन है और सद्गुरु उसका केवट है।[3] गुरु की आवश्यकता और कृपा का वर्णन उपनिपदो[4] ने भी किया है। शकर श्वेताश्वनर उपनिषद् के भाष्य मे गुरु-महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं—"जैसे तपे हुए मस्तकवाले पुरुष के लिए जलाशय के खोजने के सिवा और कोई उपाय नही है तथा भोजन के सिवा क्षुधातुर पुरुष की शान्ति का और कोई सावन नही है, उसी प्रकार गुरु-कृपा के बिना ब्रह्मविद्या का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है।"[5] गीता[6] मे गुरु-पूजा को शारीरिक तपो मे परिगणित किया गया है। तुलसीदास ने अपनी रचनाओ मे गुरु को कुछ कम सम्मान नही दिया। उन्होने गुरु को न केवल हरि-भक्ति का साधन कहा है वरन् गुरु की पूजा

1 देखिये, भाग० ११ ३ २१-२२
2 रा० च० मा०, पृ० ७३५
3 रा० च० मा०, पृ० १०१६
4 देखिये, श्वे० उप०, ६ २३
5 देखिये, श्वे० उप०, ६ २३ 'शाकर भाष्य'
6 गीता, १७ १४

को हरि-भक्ति का ही एक प्रकार बतलाया है ।[1] गुरु-पूजा को हरि-पूजा कहकर तुलसीदास ने कोई नया मार्ग तैयार नही किया। अध्यात्म रामायण[2] के रचयिता की भी गुरु-पूजा के सबध मे यही भावना रही है । गुरु-महिमा का वर्णन करते हुए तुलसी-दास कहते है—"जो गुरु के चरणो की धूलि को सिर पर धारण करते है, गुरु के प्रति श्रद्धावान् है, वे मानो सकल वैभव को आत्मसात् कर लेते है ।"[3] मलूकदास गुरु के प्रति श्रद्धा इन शब्दो मे व्यक्त करते है—"केवल गुरु के शब्दो मे विश्वास ही ससार सागर से पार ले जा सकता है।"[4] नानक का कहना है कि "गुरु-सेवा से सब सन्तापो का नाश हो जाता है ।"[5]

भारतीय सस्कृति के इतिहास से विदित होता है कि वैदिक काल से ही गुरु को अनुपम श्रद्धा और विश्वास का केन्द्र माना गया है। गुरु को जितनी मान्यता वैष्णव सम्प्रदायो मे दी गई है अवैष्णव सप्रदायो मे भी सभवत उससे कुछ कम नही दी गई। योग-सम्प्रदायो मे तो गुरु को और भी अधिक महत्त्व दिया गया दीख पडता है, क्योकि क्रियापरक होने से योगमार्ग की सफलता गुरु के मार्गदर्शन से सम्बन्धित रहती है । शिवसहिता[6] मे गुरु को पिता, माता और साक्षात् देव माना गया है तथा मन, वाणी और कर्म से गुरु की सेवा करने का उपदेश दिया गया है। कबीर-पथ मे गुरु को योगपरपरा[7] के अनुकूल ही महत्त्व दिया गया

---

1 देखिये, रा० च० मा०, पृ० ६६८, दो० ४२
2 देखिये, अ० रा०, १० २४
3 रा० च० मा०, पृ० ३५४
4 म० बा०, पृ० १८, प० ७
5 प्रा० सं०, पृ० २२५, प० ६
6 शि० स०, ३,१३
7 देखिये, डाक्टर पी० डी० बडथ्वाल दी निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोएट्री ' पृ० १६७ फुटनोट

ह। सम्भवत कबीर-पथ ने गुरु-महत्त्व को नाथ-पथ से पैतृक सम्पत्ति के रूप मे ही ग्रहण किया है।

"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ"

इस वाक्य से श्वेताश्वतर उपनिषद् (६ २३) ने प्राचीन काल मे ही गुरु को देव-समता प्रदान कर दी थी। धीरे-धीरे भेद हट गया और गुरु और देव मे अभेद हो गया।[1] अभेद की यही भावना हमे हिन्दी के भक्त कवियो के हृदय मे मिलती है। 'गुरु गोविन्द तो एक है' कह कर कबीर[2] ने दोनो में अभेद ही स्वीकार किया है। वल्लभ-सम्प्रदाय[3] मे भी अभेद ही माना गया है। दोनो का अभेद स्वीकार करते हुए भी कबीर और तुलसीदास गुरु की दिशा मे कुछ और प्रगति कर गये है। तुलसीदास कहते है "विधाता के कोप से गुरु रक्षा कर सकते है, परन्तु गुरु के विरोध से रक्षा करनेवाला जगत् मे कोई नही है।"[4] तुलसीदास ने तो गुरु को केवल विधाता से ही बडा दिखलाया है, किन्तु कबीर गुरु को और बडा सिद्ध करने की चेष्टा करते हुए कहते है "वे मनुष्य, जो गुरु को और कहते है, अन्धे है। याद रहे कि हरि के रूठने पर गुरु का आश्रय रहता है, परन्तु गुरु के रूठने पर कही आश्रय नही मिल सकता।"[5]

भक्ति के अनेक साधनो मे से पूर्वोक्त दो ही प्रमुख है। इनके महत्त्व का अनुमान इसी से हो सकता है कि कुछ भक्ति-ग्रथो मे इन्हे (सत्सग और गुरु-सेवा को) भक्ति के प्रकारो मे स्थान दिया गया है। भागवत मे तो भगवान् ने उद्धव के प्रति भक्ति के अनेक साधनो का निरूपण इस प्रकार किया है—"जो मेरी भक्ति प्राप्त

1 देखिये, शि० स० ३ १३

2 क० ग्र०, पृ० ३ २६

3 देखिये, अ० पदा० पृ० ८३, १४०, १७६, २०४, २२४

4 रा० च० मा, पृ० १६०

5 क० ग्र०, पृ० २,४

करना चाहता हो वह मेरी अमृतमयी कथा मे श्रद्धा रखे, निरन्तर मेरे गुण, लीला और नामो का सकीर्तन करे, मेरी पूजा मे अत्यन्त निष्ठा रखे और स्तोत्रो के द्वारा मेरी स्तुति करे। मेरी सेवा-पूजा मे प्रेम रखे और सामने साष्टाग लेट कर प्रणाम करे। मेरे भक्तो की पूजा मेरी पूजा से बढ कर करे और समस्त प्राणियो मे मुझे ही देखे। अपने एक-एक अग की चेष्टा केवल मेरे ही लिए करे। वाणी से मेरे ही गुणो का गायन करे और अपना मन भी मुझे ही अर्पित कर दे। मेरी प्राप्ति की कामना के अतिरिक्त सारी कामनाएँ छोड दे, मेरे लिए धन, भोग और प्राप्त सुख का भी परित्याग कर दे, और जो कुछ यज्ञ, दान, हवन, जप, व्रत और तप किया जाए वह सब मेरे लिए ही करे। उद्धवजी! जो मनुष्य इन धर्मो का पालन करते है और मेरे प्रति आत्मनिवेदन कर देते है, उनके हृदय मे मेरी प्रेममयी भक्ति का उदय होता है।"[1] अध्यात्म-रामायण में भक्ति के उक्त साधन राम ने लक्ष्मण को सक्षेप मे इस प्रकार कहे है—मेरे भक्त का सग करना, निरन्तर मेरी और मेरे भक्तो की सेवा करना, एकादशी आदि का व्रत करना, मेरे पर्व-दिनो को मनाना, मेरी कथा के सुनने, पढने और उसकी व्याख्या करने मे सदा प्रेम करना, मेरी पूजा मे तत्पर रहना, मेरा नाम कीर्तन करना—इस प्रकार जो निरन्तर मुझ मे लगे रहते है उनकी मुझ मे अविचल भक्ति अवश्य हो जाती है।"[2] तुलसीदास ने सम्भवत इन दोनो से भाव लेकर अपने ढग से राम द्वारा सक्षेप मे इस प्रकार कहलाया है—"पहले तो ब्राह्मणो के चरणो मे अत्यन्त प्रीति हो और वेदोक्त विधि से अपने-अपने धर्म मे तत्परता हो। इसका फल फिर यह हो कि विषयो मे वैराग्य हो जाए। जब वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, तब मेरे धर्म (भगवद्धर्म) मे अनुराग उत्पन्न हो जाता है, श्रवणादिक नौ प्रकार की भक्ति दृढ

1 भाग० ११ १६ २०-२४
2 अ० रा०, अर० कां०, ४ ४८–५०

हो जाती है और चित्त मे मेरी लीलाओ पर अतिशय प्रीति हो जाती है। जो सन्तो के चरण-कमलो मे अत्यन्त प्रेम करे, मन, कर्म और वचन से भजन करने का दृढ नियम रखे, मुझे गुरु, पिता, माता, बन्धु, पति और देवता आदि सब कुछ जाने और दृढता से मेरी सेवा करे, मेरे गुण गाते हुए जिसका शरीर पुलकित हो जाए, वाणी गद्‌गद् हो जाए तथा अन्तर कामादि, मद और दम्भ से रहित हो जाए, हे तात! मै निरन्तर ऐसे मनुष्य के वश मे रहता हूँ। जिनको मन, वचन और कर्म से मेरी ही गति है, जो निष्काम होकर मेरा भजन करते है, मै उन लोगो के हृदय-कमल मे सदा विश्राम करता हूँ।"[1]

भक्ति के साधनो के वर्णन मे तुलसीदास ने जो विशेष बात कही है वह है ब्राह्मणो की सेवा। निस्सन्देह तुलसीदास ने ब्राह्मणो को वही सम्मान प्रदान किया है जो उन्हे सनातन-धर्म मे परम्परा से मिलता चला आया है। गीता मे भगवान् कृष्ण ने भी ब्राह्मणो की पूजा की शारीरिक तपस्याओ[2] मे गणना की है। भागवत मे नारद युधिष्ठिर को ब्राह्मणो का गौरव दिखलाते हुए कहते है— "हे युधिष्ठिर! मनुष्यो मे भी ब्राह्मण विशेष सुपात्र है, क्योकि वह अपनी तपस्या विद्या और सन्तोष आदि गुणो से भगवान् के वेद-रूप शरीर को ही धारण करता है। महाराज! हमारी और आपकी तो बात ही क्या, ब्राह्मण तो सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण तक के इष्टदेव है। उनके चरणो की धूलि से तीनो लोक पवित्र होते है।"[3]

निर्गुण कवियो के अतिरिक्त उन सब भक्तो ने, जो वैदिक धर्म मे आस्था रखते है, ब्राह्मणो का महत्त्व स्वीकार किया है। कबीर आदि ने जहाँ अवतारवाद का खण्डन किया है वहाँ तीर्थादि और

1 रा० च० मा०, पृ० ६६८–६९
2 देखिये, गीता १७ १४
3 भागवत ७ १४ ४२

जाति-पाँति को भी पाखड एव ढकोसला मात्र कहा है। कबीर कहते है—"सब एक ज्योति से उत्पन्न हुए है, फिर कौन ब्राह्मण और कौन शूद्र ?"[1] नानक भी जाति-पाँति का खडन करते हुए "ब्राह्मण" की परिभाषा करते है कि "ब्राह्मण वही है जो ब्रह्म को पहिचाने।"[2]

भागवत म भक्ति को 'नवलक्षणा'[3] और अध्यात्म-रामायण मे उसे 'नवविद्या'[4] कहा गया ह। तुलसीदास आदि ने भक्ति को 'नवधा'[5] कहा है। हिन्दी भक्ति काव्य मे भक्ति के साथ 'नवधा' शब्द भक्ति के नौ प्रकारो की ओर सकेत करता है।

भक्ति के प्रकार

भागवत मे 'नवलक्षणा' शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ मे हुआ प्रतीत होता है, किन्तु अध्यात्म रामायण मे 'नवविधा' का प्रयोग स्पष्टत 'नवसाधना' के अर्थ मे हुआ है। हम नही कह सकते कि 'साधन' शब्द 'विधा' (प्रकार) का कहाँ तक पर्यायी है, परन्तु अध्यात्म रामायण मे दोनो शब्द एक ही अर्थ मे प्रयुक्त हुए है। कुछ भी सही, भक्ति ग्रथो मे भक्ति के कई साधनो और प्रकारो मे सामान्यतया अभेद ही माना गया है यथा, सत्सग भक्ति का साधन भी है और प्रकार भी।

यदि साधन और प्रकार के विवाद को छोडकर भागवत की 'नवलक्षणा' और अध्यात्म-रामायण की 'नवविधा' भक्ति के रूप की तुलनात्मक परीक्षा की जाए तो पूर्ण साम्य नही मिलता। जिस अन्तर से भक्ति के प्रकारो को उक्त ग्रन्थो मे प्रस्तुत किया गया है, लगभग

---

1 क० ग्र०, पृ० १०६ ५७

2 प्रा० स०, पृ० २३२, प० १

3 देखिये भागवत ७ ५ २३ "भक्तिश्चेन्नवलक्षणा"

4 देखिये, अ० रा०, अर० कां०, १० २७ "एव नवविधा भक्ति"

5 देखिये, रा० च० मा०, पृ० ६६८ "नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं" तथा, अ० छा० पदा० (परमानन्ददास) पृ० ६६, पद ३०:
"ताते नवधाभक्ति भली।"

उसी अन्तर से उन्हे हिन्दी भक्ति काव्य मे रक्खा गया है। तुलसीदास अध्यात्म रामायण की ओर झुके रहे है और केशवदास, परमानददास आदि भागवत का दृढता से पक्ष ग्रहण किये रहे है।

भागवत[1] मे भक्ति के नौ भेद ये माने गये है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। विज्ञान[2] गीता मे केशव ने इन्ही नौ भेदो का वर्णन किया है। यही पर केशव ने भक्ति से कुछ साहित्य की ओर भी प्रगति दिखलाई है। उन्होने भक्ति को नवरस मिश्रित प्रमाणित करने की चेष्टा की है तथा श्रवण को अद्भुत से, स्मरण को करुण से, दास्य को जुगुप्सा से, पाद-सेवन को भयानक से, वदन को वीर से, अर्चन को शृगार से, सख्य को हास्य से, कीर्तन को रौद्र से और आत्मनिवेदन को शान्त से सबधित किया है। परमानददास[3] ने भी भक्ति के ये ही नौ प्रकार स्वीकार किये है। उन्होने अपने एक पद मे उक्त नौ भेदो को उदाहरणो द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया है—"नवधा भक्ति योगादि सब से अच्छी है। जिस-जिसने इस (भक्ति) मार्ग को पकडा है वह अनन्य भाव से इस पर चलता रहा है। श्रवण से राजर्षि परीक्षित का उद्धार हो गया। कीर्तन से शुकदेवजी कृतकृत्य हो गये। स्मरण ने प्रह्लाद को निर्भय कर दिया। कमला ने पाद-सेवन से, पृथु ने अर्चन से, अक्रूर ने वदन मे, हनुमान ने हास्य से ओर अर्जुन ने सख्य से भगवान् को वश मे कर लिया। बलि ने आत्म-समर्पण-द्वारा हरि को अपने पास ही बुला लिया।"

तुलसीदास ने भक्ति के नौ प्रकारो को दस प्रकार प्रस्तुत किया है—"पहली भक्ति सतो की सगति करना है। भगवत्कथा

---

1 भागवत ७ ५ २३ श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पादसेवन।
अर्चन वन्दन दास्य सख्यमात्मनिवेदनम्।

2 देखिये, वि०, गी०, पृ० २३५–३६ छद १७२–१७४

3 देखिये, अ० पदा० (परमानददास) पृ० ६६, पद ३०

के प्रसगो मे प्रीति रखना दूसरी भक्ति है । निरभिमान होकर गुरु के चरण कमलो की सेवा करना तीसरी और निष्कपट भाव से भगवद्गुणो का गान करना चोथी भक्ति है। दृढ विश्वास के साथ मेरे मत्र का जप करना पाँचवी भक्ति है जिसका वर्णन वेद[1] मे भी आया है । छठी भक्ति है दम (इन्द्रिय-निग्रह करना), शील, विरति और सदाचार मे तत्परता, समदृष्टि होकर जगत् को भगवन्मय देखना और भगवान् से भी अधिक भक्तो (सतो) की पूजा करना सातवी भक्ति है। यथालाभ सन्तुष्ट रहना एव कभी परदोष-दर्शन न करना आठवी भक्ति है और सबके साथ सरल एव निश्छल भाव रखना तथा हर्ष-विषाद छोडकर हृदय म भगवान् का पूरा भरोसा रखना नवी भक्ति है[2] ।"

भक्ति के उक्त प्रकारो के लिखने मे गोस्वामीजी का झुकाव अध्यात्म रामायण[3] ही की ओर प्रतीत होता है क्योकि मानस

---

1 सभवत अनेक बार 'वेद' शब्द से तुलसीदासजी का अभिप्राय 'गीता' या 'भागवत' से भी रहा है ।

2 रा० च० मा०, पृ० ६६८ ।

"प्रथम भक्ति सतन्ह कर सगा । दूसरि रति मम कथा प्रसगा ।
गुरु पद पकज सेवा, तीसरि भगति अमान ।
चौथि भगति मम गुनगन, करहि कपट तजि गान ।।
मत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा । पचम भजन सो वेद प्रकासा ।
छठ दम सील बिरति बहुकर्मा । निरत निरतर सज्जन धर्मा ।
सातवँ सम मोहिमय जग देखा । मो ते सत अधिक करि लेखा ।
आठवँ जथालाभ सतोषा । सपनेहु नहिं देखहि परदोषा ।
नवम सरल सब सन छलहीना । मम भरोस हिय हरष न दीना ।"

3 देखिये, अ० रा०, अर० का०, १० २२-२७

सतां सगतिरेवात्र साधन प्रथमं स्मृतम् ।
द्वितीय मत्कथालापस्तृतीय मद्गुणेरणम् ।
व्याख्यातृत्व मद्वचसा चतुर्थं साधन भवेत् ।
आचार्योपासन भद्रे मद्बुद्ध्यामायया सदा ।
पचम पुण्यशीलत्व यमादि नियमादि च ।
निष्ठा मत्पूजने नित्य षष्ठ साधनमीरितम् ।
मम मन्त्रोपासकत्व साङ्ग सप्तममुच्यते ।
मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मति ।
बाह्यार्थेषु विरागित्व शमादिसहित तथा ।
अष्टम नवम तत्त्वविचारो मम भामिनि ।
एव नवविधा भक्ति साधन यस्य कस्य वा ।

मे वर्णित नवधा भक्ति का पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा और पाँचवाँ भेद अध्यात्म रामायण के पहले, दूसरे, पाँचवे, तीसरे और सातवे भेद से क्रमश मिलता है। तुलसीदास ने छठे और सातवे भेद की रचना अध्यात्म रामायण के छठे और आठवे भेद के सम्मिलित आधार पर की है। आठवे भेद मे मानसकार ने अपनी मौलिकता का समावेश किया है और नवे भेद मे आत्म-निवेदन के लक्षण है, जिसका वर्णन भागवत ने भक्ति के नौ भेदो के अन्तर्गत किया है। इस प्रकार तुलसीदास ने भक्ति के नौ भेदो मे अपने ढग की एक आकर्षक क्रान्ति पैदा करदी है।

सभवत सत कवियो के भक्ति-निरूपण मे 'कथा-रति' के सिवा तुलसीदास की नवधा भक्ति के सब उपकरण मिल सकते है। यद्यपि नारद, अम्बरीष आदि भक्तो की कथाओ की ओर सकेत करके कबीर आदि ने उक्त अभाव की किसी अश तक पूर्त्ति की है, पर सिद्धान्तरूप से वे कथादि मे विश्वास नही रखते। वे प्रेम-मार्ग के पथिक है। उन्होने केवल 'प्रेम भगति' का पल्ला पकड रक्खा है। इसी को वे 'नारदी भगति[1]' कहते है और इसी को 'भाव भगति'[2] आदि अन्य नामो से भी पुकारते है। भक्ति के भेदो की ओर उन लोगो की रुचि कही स्पष्टत व्यक्त नही होती।

भक्ति में नाम की महिमा

नाम की महिमा सब धर्मो मे स्वीकार की गई है। हिन्दू-भक्ति-सम्प्रदायो मे तो इसकी और भी अधिक मान्यता है। नाम के हाथ मे बडी शक्ति मानी जाती है। ऐसा कौनसा सकट है जो नाम से न कट सकता हो ? इसमे भवो-च्छेदन तक की अमोघ शक्ति बतलाई जाती है। इसकी शक्ति प्रमाणित करने के लिए भक्ति-साहित्य से 'अजामिल' जैसे कितने ही उदाहरण दिये जा सकते है।

---

1 देखिये, क० ग्र०, 'भगति नारदी मगन सरीरा,' पृ० १८३ २७८

2 देखिये, क० ग्र०, पृ० २४५ "भाव भगति विश्वास बिन, कटै न ससै सूल"।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी नाम का गौरव बहुत प्राचीन दीख पडता है । मै समझता हूँ सनातन धर्म के प्रभात काल मे ही प्रणव ने 'नाम' के नाम पर अपना झडा फहरा दिया था । समय-समय पर जैसी-जैसी वायु की प्रेरणा हुई उसका रुख भी (विष्णु, कृष्ण, राम आदि नामो के रूप में) बदलता रहा । नाम का विकास-काल सभवत 'विष्णु सहस्रनाम' के रचनाकाल के आसपास आता है और उत्तरकालीन वैष्णव साहित्य मे इसका महत्त्व बढता ही चला जाता है । हिन्दी के भक्ति-साहित्य पर 'नाम'-सबधी प्रभाव डालने मे सस्कृत-साहित्य के साथ-साथ परम्परा का भी हाथ रहा है ।

हिन्दी के निर्गुण कवियो मे 'नाम' को सगुण कवियो से कम गौरव नही मिला है, परन्तु दृष्टिकोण भिन्न रहे है । चाहे जिस पवित्र समझे जाने वाले शब्द को तोते की तरह रट डालने को निर्गुण कवि 'नाम सुमिरन' नही मानते । वे ऐसे नामस्मरण को हृदय से घृणा करते प्रतीत होते है । उनके मतानुसार वास्तविक शक्ति भाव मे है, नाम मे नही । नाम तो भाव का बाह्य सकेत-मात्र है । उन पडितो के सम्बन्ध मे जो नाम मे ही शक्ति बतलाते है, कबीर कहते है—पडित मिथ्या बकते है । यदि राम कहने मात्र से जगत को मुक्ति मिल जाए तो खॉड कहने से मुख भी मीठा हो जाना चाहिए । यदि पावक के कहने से पाँव जल जाए अथवा जल कहने से तृष्णा शान्त होजाए और भोजन कहने से भूख का निवारण होजाए तो मुक्ति भी सब किसी को मिल जाए ।"[1]

---

1 पडित बाद बदते झूठा ।
राम कह्या दुनिया गति पावै, षाड कह्यां मुख मीठा ।
पावक कह्यां पाव जे दाझै, जल कह त्रिषा बुझाई ।
भोजन कह्यां भूष जे भाजै, तौ सब कोई तिरि जाई ।
क० ग्र०, पृ० १०१.४०

इससे स्पष्ट है कि नाम-स्मरण ओठो से करने की वस्तु नही है, हृदय से होना चाहिए । "पढाने वाले के साथ-साथ तोता भी हरि-नाम बोलता है, किन्तु वह हरि के वैभव को नही जानता । और यदि वह कभी उडकर बन मे पहुँच जाए तो नाम का कभी स्मरण भी नही करेगा ।"[1] कबीर कहते हैं कि "राम-नाम जपने वाले को भी काल घसीटे ले जारहा है ।"[2] यदि केवल राम मे शक्ति होती तो मृत्यु का इतना दुस्साहस नही होता । इसलिए यह सिद्ध है कि निर्गुण-मत मे नाम-स्मरण का मूल प्रेम माना गया है । प्रेम या भाव के बिना उसका कोई मूल्य नही है । तुलसीदास को यह मान्य नही है । भागवत[3] के स्वर मे वे कहते है कि "नाम सब प्रकार से सर्वत्र कल्याण करने वाला है, चाहे उसे कोई भाव से ले या कुभाव से, क्रोध मे ले अथवा आलस्य मे ।"[4]

अस्तु, निर्गुण और सगुण कवियो का नाम-स्मरण के सबध मे कुछ भी सिद्धान्त हो नाम की महिमा का गान दोनो ने एक स्वर से किया है । नाम के सबध से भक्त कवियो के दो पक्ष दीख पडते है । 'राम-भक्त' और 'कृष्ण-भक्त' । सगुण मत की रामाश्रयी शाखा के कवि तथा निर्गुण कवि 'रामनाम' के भक्त हैं और कृष्णाश्रयी शाखा के कवि 'कृष्णनाम' के भक्त हैं, किन्तु इन दोनो के बीच मे कोई गहरी अन्तर-रेखा नही खीची जा सकती । 'रामनाम' के भक्तो ने स्वतन्त्रता से हरि, वासुदेव आदि नामो का प्रयोग किया

---

1 नर के साथि सूवा हरि बोलै, हरि परताप न जानै ।
जो कबहू उडि जाइ जगल में बहुरि न सुरतै आनै ।
क० ग्र०, पृ० १०१ ४०

2 रामहि राम जपतडाँ, काल घसीटया जाइ ।
क० ग्र०, पृ० ३७ १८

3 भाग० १२ १२ ४६ तथा ६ २ १४

4 रा० च० मा०, पृ० ३५, भाय कुभाय अनख आलस हू ।
नाम जपत मगल दिसि दसहू ।।

है, उसी प्रकार सूरदास आदि कृष्णनाम के भक्तो ने रामनाम का प्रयोग खुलकर किया है। गिरिधर गोपाल का इष्ट रखने वाली मीराँ स्मरण के समय राम और कृष्ण मे कोई अन्तर नही समझती।

उस असीम परमात्मा के अनन्त नाम हो सकते है। विष्णु सहस्र-नाम इसका प्रमाण है, किन्तु कबीर राम[1] के पक्ष मे है। वे लोगो को 'रा' का टोप और 'म' का कवच बनाने[2] का उपदेश देकर परमार्थ की रक्षा का साधन बतलाते है। कबीर के पीछे तुलसी साहिब और शिवदयाल को छोडकर, लगभग सभी निर्गुणियो ने अभ्यास के लिए रामनाम को ही स्वीकार किया है[3]।

संस्कृत-भक्ति-साहित्य मे नाम को शक्ति का आकर माना गया है। भागवत मे बताया गया है कि 'भवजाल मे भटकता हुआ जीव भगवान् के पावन नाम के स्मरण से तुरन्त ही मुक्त हो जाता है[4]।" विष्णुपुराण मे "श्रीकृष्ण-स्मरण को तपस्यात्मक और कर्मात्मक सब प्रायश्चित्तो मे सर्वश्रेष्ठ[5]" कहा गया है। अध्यात्म रामायण का कहना है कि "हरिनाम का स्मरण करके अज्ञजन भी हरि मे लीन होजाते है[6]।" जिसकी वाणी एक क्षण भी "राम राम" ऐसा सुमधुर गान करती है वह ब्रह्मघाती अथवा मद्यपी भी क्यो न हो, समस्त पापो से छूट जाता है[7]।" "भगवान् के नाम के सुनने या जपने से चाण्डाल भी पुण्यात्मा ब्राह्मणो के समान पूज्य होजाते है[8]।" रामनाम के प्रभाव से ही वाल्मीकि ने

---

1 देखिये, क० ग्र०, पृ० १८३ "ररा ममा वाई आखिर तारा। कहै कबीर तिहू लोक पियारा।

2 'ररा करि टोप ममां करि बखतर' क०, ग्र०, पृ० २०६ ३५०

3 देखिये, पी० डी० बड़थ्वाल, नि० स्कू० आफ हिं० पो०, पृ० १२४

4 भा० ११ १४

5 वि० पु० २ ६ ३७

6 अ० रा०, अर० कां०, ७ १६

7 अ० रा०, कि० का०, १.८४

8 भा० ३ ३ ३७

ब्रह्मर्षि-पद प्राप्त कर लिया[1] और अजामिल जैसे अनेक पापी राम-नाम लेकर पार होगये ।[2]

इसी प्रकार अन्य भक्ति-ग्रथो मे भी 'नाम' महिमा का निरूपण मिलता है। सबके आधार पर नाम की महिमा को हम निम्न बिन्दुओ मे रख सकते है—(१) नाम कर्मों का नाश करता है, (२) पापियो को पावन करता है, (३) भवसागर से तारता है, (४) सब पुण्यो की सम्मिलित शक्ति से इसकी शक्ति बडी है, और (५) यह अशरण का शरण है ।

हिन्दी-भक्ति-काव्य इन्ही बिन्दुओ को लेकर चला है। कबीर राम-नाम की महिमा का वर्णन करते हुए कहते है कि "यदि नाम थोडा भी मुख पर आ जाए तो कोटिकर्मो का जाल एक क्षण भर मे नष्ट हो जाता है। 'राम' के बिना कही विश्राम नही मिलता, चाहे कोई अनेक युगो तक पुण्य क्यो न करता रहे।"[3] अन्यत्र कबीर[4] "नाम को भवसागर से तरने के लिए 'पोत' कहते है।" रैदास को विश्वास है कि "नाम के सहारे अनेक अधम जीवो का उद्धार हो चुका है और कितने ही पतित नाम के ससर्ग से पावन हो गये है।"[5] नाम के मूल्य का अकन करते हुए नानक कहते है—"जो

---

1 देखिये, अ० रा०, अयो० का० ६ ६४

2 देखिये, क० ग्र०, पृ० १६६, प० १७ १८

3 क० ग्र०, पृ० ६

कोटि क्रम पेले पलक में, जे रचक आवे नाउँ ।
अनेक जुग जे पुन्नि करे, नही राम बिन ठाउँ ।।

4 क० ग्र०, पृ० २४१, प० १७

सिरजनहार नाउँ धू तेरा, भौ सागर तिरिवे कू भेरा ।

5 रै० बा०, पृ० २१, प० १४, १५

अनेक अधम जिव नाम गुन ऊधरे,
पतित पावन भये परसि सार ।।

नाम को सदैव हृदय मे रखते हैं उनका श्रम अवश्य सफल होगा तथा उनके मुख उज्ज्वल होकर चमकेगे ।"[1]

सूरदास भगवान् के पावन[2] नाम मे 'अशरण को शरण देने की एव अधम का उद्धार करने की शक्ति बतलाते है ।[3] उन्हे ऐसे किसी प्राणी का ज्ञान नही जिसने एक बार भी नाम लिया हो किन्तु उसका उद्धार न हुआ हो ।[4] अतएव वे रामनाम को बडी शरण मानते हैं ।[5] गदाधर भट्ट "नाम के प्रताप को प्रबल पावक कहते है जिसमे महामहापापो तक के दाह की अमोघ शक्ति है ।"[6]

भागवत ने तार स्वर से घोषणा कर रक्खी है कि जब कलियुग मे ध्यान, यज्ञादि का नाम भी न होगा तब भगवन्नाम ही उनका कार्य सफलता से करता रहेगा ।[7] इसी को ध्यान मे रखकर

1 नानक जपजी,, अन्तिम दोहा, निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी
पोएट्री, पृ० १२३ पर उद्धृत

2 देखिये, सूरसागर पृ० १५, पद ७२
"पतितन में बिख्यात पतित हौं पावन नाम तुम्हारो ।"

3 देखिये, सूरसागर पृ० १५, पद ६९
तुम कृपालु करुणानिधि केशव अधम उधारन नाउँ ।
o o o o o o o
अशरण शरण नाम तुमरो हौं कामी कुटिल सुभाउँ ।

4 देखिये, सूरसागर, पृ० ६, पद २७ .
द्विज पतित मतिहीन गनिका गुन लौलीन करत अघक्षीन पूतना प्रहारे ।
सकृत निज हरिनाम जिन लियो अवशि कर दूरि करि को को न तारे ।।

5 देखिये सूरसागर, पृ० २३, पद १२० 'बडी है रामनाम की ओट'

6 देखिये, ब्रज माधुरी सार, पृ० ११३
हेम हरन द्विज द्रोह मान मद, अरु पर गुरु दारागम ।
नाम प्रताप प्रबल पावक के, होत जु तात सलभ सम ।।

7 देखिये, भाग० १२ ३ ५२
कृते यद् ध्यायतो विष्णु त्रेतायां यजतो मखे ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ।।

तुलसीदास कहते है—"जो गति कृतयुग मे पूजा से, त्रेता मे मख से और द्वापर मे योग से मिलती है, वही कलियुग मे नाम द्वारा मिल जाती है।"[1] "यही बात केशव कहते है कि "जब सब वेद पुराण नष्ट हो जाएँगे (वेदाचार को लोग भूल जाएगे), जप, तप, तीर्थादि भी मिट जाएँगे (इनमे भी लोगो की श्रद्धा न रहेगी), गो-ब्राह्मण की कोई चिन्ता न करेगा, उस समय कलियुग मे भी केवल नाम उद्धार करता रहेगा।"[2] गदाधर भट्ट 'हरिनाम' को ऐसा मत्र कहते है जिसके बिना कलिकाल रूपी कराल व्याल की विष-ज्वाला से मुक्ति हो नही सकती।[3] इतना ही नही, राम-नाम महामत्र है जिसका जप महेश नित्य करते रहते है और जिसका उपदेश काशी मे मुक्ति का कारण बना रहता है।[4] नाम की महिमा गाते गाते जब गोस्वामीजी को किसी प्रकार भी सन्तोष नही हुआ तो वे यहाँ तक कह गए कि "नाम ब्रह्म और राम से भी बडा है।"[5]

---

1 रा० च० मा०, पृ० १०७७

कृत युग त्रेता द्वापर, पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि विषै, नाम ते पावहिं लोग ॥

2 रा० च०, २६ ८

जब सब वेद पुराण नसैहै, जप तप तीरथ हू मिटि जैहै।
द्विज सुरभी नहि कोउ विचारै तब जग केवल नाम उधारै।

तु० की०, ना० पुराण, १ ४१ ११५

3 ब्र० मा० सा०, पृ० ११३

इहि कलिकाल कराल व्याल विष ज्वाल विषम भोये हम।
बिनु इहि मत्र गदाधर को क्यो, मिटि है मोह महातम ॥

4 रा० च० मा०, पृ० २७ महामत्र जोइ जपत महेसू।
कासी मुकति हेतु उपदेसू ॥
तु० की०, अ० रा०, यु० का०, १५ ६२

5 देखिये, रा० च० मा०, पृ० ३३ 'ब्रह्म राम ते नामु बड'
तु० की०, "राम त्वत्तोधिक नाम"
विनयपत्रिका (स्तुति २२८) में वियोगी हरि द्वारा उद्धृत।

राम के पूछने पर वाल्मीकि ऋषि ने जो उनके निवास योग्य स्थान बताया है वह भक्त का हृदय है। ऋषि के भक्तिपूर्ण उत्तर मे भक्त के लक्षण इस प्रकार दिये गये है—

भक्त के गुण

"जिनके श्रवण समुद्र के समान है और आपकी नाना कथाएँ उनमे सरिताओ के समान निरन्तर भरती रहती है, तो भी वे पूर्ण नही होते, जिन्होने आपके दर्शनरूपी जलधर की अभिलाषा से अपने नेत्रो को चातक बना रक्खा है, जो अनेक नदियो, समुद्रो और भारी सरोवरो का निरादर कर के आपके रूप-बिन्दु से ही सुखी रहते है, जिनकी जीभ रूपी मराली आपके यश-रूपी निर्मल मानसरोवर मे से गुणगण-रूपी मुक्ताओ को चुनती रहती है, जिनकी नासिका आपके प्रसाद की शुचि एव सुभग सुवास को नित्यप्रति आदरपूर्वक ग्रहण करती है, जो आपको भोग लगा कर भोजन करते है, आपको चढा कर वस्त्र और आभूषण धारण करते है, जो देवता, गुरु अथवा ब्राह्मण को देख कर विनय और प्रेम से प्रणाम करते है, जो अपने हाथो से सदैव भगवच्चरणो की पूजा करते रहते है, जिन्हे राम के सिवा और किसी का भरोसा नही है, जिनके चरण चल कर रामतीर्थों मे जाते है, जो आपके मन्त्रराज (रामनाम) को नित्य जपते है और परिवारसहित आपकी पूजा करते है, जो नाना प्रकार के तर्पण, होमादि करते है, ब्राह्मणो को भोजन करा के बहुतसा दान देते है, जो आपसे भी अधिक अपने गुरु को मान कर बडे सम्मान से उनकी सेवा करते है, जो इन सब कर्मों का यही फल माँगते है कि राम के चरणो मे रति हो, जिनके मन मे न काम है न क्रोध, न मद है न मान, न मोह है न लोभ, न स्नेह है न द्रोह, न कपट है न दभ और न क्षोभ है न माया, जो सब के प्रिय और हितकारी है, जिनको दु ख-सुख और निन्दा-स्तुति समान है, जो विचारपूर्वक सत्य और प्रिय वचन कहते है और सोते-जागते आपकी शरण मे

रहते है, जिनका आपके सिवा दूसरा आश्रय नही है, जो दूसरे की सम्पत्ति को देख कर प्रसन्न होते है और दूसरे की विपत्ति को देख कर भारी दुखी होते है और जिनको आप प्राणो के समान प्रिय है, जिनके आप ही स्वामी, सखा, पिता, माता ओर गुरु है, जो सब के अवगुणो को छोड कर गुणो को ग्रहण करते है, जो ब्राह्मणो और गौओ के लिए सकट भी सह लेते है, जो नीति मे निपुण है और जगत् मे जिनकी मर्यादा है, जो आपके गुणो और अपने दोषो को समझते है, जिन्हे सब प्रकार से आपमे विश्वास है, जो जाति-पॉति, धर्म, प्रशसा, प्रियजन और सुखद सदन को भी त्याग कर आप ही मे दत्तचित्त रहते है, जिनके लिए स्वर्ग, नरक और मोक्ष समान है, जो सर्वत्र शर-चाप-धर आपही को देखते है, जो कभी कुछ भी नही चाहते, जिनको आपसे सहज स्नेह है, उनके मन-मदिर मे आप निरन्तर निवास कीजिए ।"[1] वे आपके सच्चे भक्त है। भक्तोचित गुणो की यह सूची तुलसीदास ने अध्यात्म रामायण[2] के अनुकरण मे तैयार की है। वाल्मीकि ऋषि ने वहॉ भी ऐसी ही लम्बी-चौडी 'भक्त-गुण-सूचनिका' भगवान् राम के सामने प्रस्तुत की है ।

कबीर एक सक्षिप्त सूची मे भक्तो के ऐसे ही गुणो की ओर सकेत करते हुए कहते है "राम का भक्त उसे समझना चाहिए जिसे आतुरता पीडित न करती हो, जो सत्य, सतोप और धैर्य से यक्त हो, जो काम, क्रोध, तृष्णादि से मुक्त होकर आनन्दपूर्वक हरि-गुण-गान करता हो, जो पर-निदा और असत्य से दूर रहता हो, जिसे काल का भय न रहा हो, जो भगवच्चरणो मे चित्त रखता हो, जो समदृष्टि और शान्त हो और जिसे द्विविधा न सताती हो ।"[3]

---

1 रा० च० मा, पृ० ४६५–४६८

2 देखिये, अ० रा०, अयो० का०, ६ ५४ ६३

3 क० ग्र०, पृ० २०६,३६३

गीता[1] मे भगवान् कृष्ण ने भी भक्त के इन सब गुणो का विस्तार-पूर्वक निरूपण किया है ।

भक्त का एक मात्र परम गुण यह है कि वह भगवान् की सेवा के सिवा साल्ोक्यादि की भी इच्छा नही करता ।[2] अत भक्ति को ही सर्वस्व समझनेवाले तुलसीदास "निर्वाण पद का भी तिरस्कार कर देते है ।"[3] वे केवल भगवान् की 'अनपावनी'[4] भक्ति माँगते है ।

भक्तो की कोटियाँ

"जिस प्रकार एक ही जल भिन्न-भिन्न वर्णों से मिल कर भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है उसी प्रकार एक ही भक्ति विभिन्न गुणाश्रय से भिन्न-भिन्न रूप की बन जाती है । तीन गुणो मे से किसी एक की प्रधानता से भक्त सत्त्व-गुणी, रजोगुणी अथवा तमोगुणी होता है । पहला मुक्ति चाहता है, दूसरा सासारिक सुख चाहता है और धन, परिवार आदि से अनुराग रखता हे, और तीसरा ईर्ष्यादि दोषो से मुक्त नही हो पाता । वह चाहता है कि किसी प्रकार उसका वेरी मर जाए ।" भक्तो की उक्त कोटियाँ गुणाश्रित है । चौथी कोटि के भक्त कामना से ऊपर उठ जाते है, उन्हे कुछ चाह नहीं रहती । सूरदास ऐसी भक्ति को "सुधा भक्ति" कहते है । ऐसा भक्त मन, वाणी और कर्म से भगवान् की सेवा मे ही लीन रहता है । सासारिक इच्छाओ का तो कहना ही क्या वह मुक्ति की इच्छा का भी तिरस्कार कर देता है । ऐसा भक्त भगवान् का अति प्रिय होता है । वे उससे क्षण मात्र के लिए अलग नही रहते । भगवान् उसके लिए और वह भगवान के लिए होता है । उसके समान भगवान् का और कोई नही होता । सकाम भक्त जो कुछ माँगते है भगवान् उन्हे वही देते है, किन्तु अनन्य भक्त निष्काम

1 देखिये, गीता, १२ १३ १९

2 देखिये, भाग० ९ ४ ६७ तथा अ० रा०, उत्तर का०, ७ ६६

3 'पद न चहो निर्वाण', रा० च० मा०

4 'भक्ति देहु अनपावनी'

होता है। उसे किसी प्रकार की इच्छा नही होती, अत भगवान् भी सकुचाते रहते है। उनका न कोई मित्र होता है और न शत्रु। हरि की माया जो सब को सन्तप्त रखती है, उसे व्याप्त नही होती।"[1]

भक्तो की उपर्युक्त कोटियो का वर्णन भागवत[2] और रामायण[3] दोनो मे मिलता है।

गीता[4] से प्रभावित होकर तुलसीदास[5] ने रामचरितमानस मे भक्तो की कोटियाँ भिन्न प्रकार से प्रस्तुत की है। उन्होने आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु एव ज्ञानी के भेद से भक्तो के चार वर्ग तैयार किये है। आर्तजन दुख से पीछा छुडाने के लिए भगवद्-भजन

1 देखिये, सूरसागर पृ० ५२-५३, पद १३
भक्ति एक पुनि बहु विधि होई, ज्यो जल रग मिलि रग सु होई।
भक्त सात्विकी चाहत मुक्ति, रजोगुणी धन कुटुब अनुरक्ति।
तमोगुणी चाहै या भाई। मम बैरी क्योहो मर जाई।
सुधा भक्त मोही को चाहै। मुक्तिहि को नाही अवगाहै।
मन, क्रम, वच मम सेवा करै। मनते भव आशा परिहरै।
ऐसो भक्त सदा मोहि प्यारो
इक छन जाते रहो न न्यारो।
ताको मै हित मम हित सोई।
जाको मै सब और न कोई।
तु० की०, गीता ६ ३०
त्रिविध भक्त मेरे है जोई। जो मागै तिहि देहु मै सोई।
भक्त अनन्य कछू नहि मागे। ताते मोहि सकुच अति लागे।
ऐसो भक्त जानिहै जोई। जाके शत्रु मित्र नहि होई।
हरिमाया सब जग सतापे। ताको माया मोह न व्यापे।

2 देखिये, भाग० ३ २९ ८-१३

3 देखिये, अ० रा०, उ० का०, ७ ६०-६७

4 देखिये, गीता ७ १६
चतुर्विधा भजन्ते मा जना सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।
तेषा ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियोऽहि ज्ञानिनोऽत्यर्थमह सच मम प्रिय।

5 देखिये, रा० च० मा०, पृ० ३०,
जाना चहहि गूढगति जेऊ। नाम जीह जपि जानहि तेऊ
साधक नाम जपहि लउ लाए। होहि सिद्ध अनिमादिक पाए।
जपहि नामु जन आरत भारी। मिटहि कुसकट होहि सुखारी।
रामभगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा।
चहू चतुर कह नाम अधारा। ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पियारा।

करते है। जिज्ञासु भगवद्ज्ञान की इच्छा से भगवान् की भक्ति करते है। अर्थार्थी अणिमादिक सिद्धियाँ पाने के लोभ से भक्ति मे प्रवेश करते है। ज्ञानी निष्काम भाव से भगवान् की भक्ति करते है।

जिस प्रकार सत्सग भक्ति का साधक है उसी प्रकार असत्सग भक्ति का बाधक है। यह भक्ति का सब से अधिक भयानक शत्रु है। भक्ति-ग्रथो ने इसे भक्ति-पथ का भीषण अन्तराय निश्चित किया है। नारद-भक्ति-सूत्र[1] मे दु सग को सर्वथा त्याज्य कहा गया है। नारदपाचरात्र का कहना है कि "अभक्तो से बातचीत करने, उनके शरीर को छूने, उनके साथ सोने या खाने से भी पाप लगता है। हमे उनसे उसी प्रकार दूर भागना चाहिए जैसे हम कराल विषधर से भागते है।[2]

भक्ति के अन्तराय

तुलसीदास को भी दु सगति से घृणा है वे कहते है "विधाता दुष्ट की सगति न दे। इससे तो नरक का वास कही अच्छा है।"[3] कबीर का कहना है कि "कुसगति मे पडकर मनुष्य अपना मूल-नाश कर लेता है, वैसे ही जैसे कि भूमि के विकारो से मिलकर आकाश की बूँद अपनी निर्मलता खो बैठती है।"[4]

भक्ति मार्ग मे दूसरी बडी बाधा पडती है मन मे कामादि के निवास से।[5] "वे चित्त को सदैव उसी प्रकार भयभीत करते रहते है जैसे बिल्ली चूहे को।"[6] कामादि की भूख कभी शान्त नही होती,

---

1 देखिये, ना० भ० सू० ४३ "दु सग सर्वथैव त्याज्य"

2 देखिये, ना० पा० रा० २ २ ६

3 रा० च० मा० .
"दुष्ट सग जनि देहु विधाता, इहि ते भला नरक का बासा।"

4 क० ग्र०, पृ० ४७
"निरमल बूँद अकास की, पडि गई भोमि विकार।
मूल बिनठा मानवा, बिन सगति भठछार।"

5 दखिये, अ० रा०, यु० का०, ८ ४५
"कामक्रोधादयस्तत्र बहव परिपन्थिन"

6 अ० रा०, यु० का०, ८ ४६
"भीषयन्ति सदा चेतो मार्जारा मूषक यथा।"

ये मनुष्य के भीषण शत्रु है ।[1] जब तक इनसे पीछा नही छूटता मनुष्य सत्पथ पर नही चल सकता । इसीलिए तुलसीदास कहते है –"जब तक पडित के मन मे काम, क्रोध, मद, लोभ आदि बसे हुए है तब तक वह मूर्ख के समान है ।"[2] कामादि के वश मे पडकर वह भी उसी अधम मार्ग पर चलता है जिस पर मूर्ख चलता है । फिर अन्तर कहाँ से आया ? कबीर ने उस वर्ग मे से तीन (काम, क्रोध, लोभ) को अति घृणित समझा है । वे कहते है –"भगवान् उन्ही को मिलता है जो काम, क्रोध, और तृष्णा का परित्याग कर देते है ।"[3] काम, क्रोध और लोभ को घातक समझ कर ही नारद[4] ने स्त्री, धन, नास्तिक और वैरी का चरित्र सुनने के लिए मना किया है । ठीक है, काम, क्रोध, लोभ, मद आदि सभी प्रबल मोह की धाराएँ है, किन्तु उनमे अत्यन्त कठिन दु ख देने वाली मायारूपिणी स्त्री है ।[5] स्त्री काम को जाग्रत करती है जो ज्ञान को ढक कर देहधारी को बेसुध कर देता है ।[6] कामादि की प्रबल भयकरता स्वय सिद्ध है, पर दु सगति से ये शीघ्र भडक उठते है ।

भक्ति का अन्य शत्रु वाद, विवाद है । परमात्मा की प्राप्ति

---

1 देखिये, गीता, ३ ३७

2 तु० दोहावली

"काम क्रोध मद लोभ की, जब लगि मन में खान ।
तब लगि पडित मूरखो, तुलसी एक समान ।"

3 क० प्र०, पृ० १०

"काम, क्रोध, त्रिष्णा तजै, ताहि मिलै भगवान् ।"

4 देखिये, ना० भ० सू०, ६३

"स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्र न श्रवणीयम् ।"

5 देखिये, रा० च० मा० पृ० ७०७

काम, क्रोध, लोभादि, मद, प्रबल मोह कै धारि ।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि ।

6 देखिये, गीता ३ ४०

"एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।"

(अथवा उसका ज्ञान) तर्क से नही होता । इसी कारण कठोपनिषद्[1] मे तर्क का निषेध किया गया है । नारद[2] भी अपने भक्तिसूत्र मे 'वाद' को वर्जनीय कहते है। कबीर ने 'वाद' को भक्ति का विरोधी समझ कर ही उसे अपने आचरण से निकाल दिया है । वे कहते है —"मै वाद नही करता और न मै वाद करना जानता ही हूँ, क्योकि मैने विद्या नही पढी । मै तो हरि के गुणो के गाने और सुनने मे ही मस्त हूँ ।"[3] तुलसीदासजी भगवतत्त्व जानने वाले विरक्त पुरुषो का एक बडा लक्षण यह बतलाते है कि वे सब तर्कों को छोडकर एक राम का ही भजन करते है ।[4]

भक्ति की उत्कृष्टता

भक्ति मानव जीवन का सर्वोत्तम मार्ग और सुनिश्चित लक्ष्य है । इसकी उत्कृष्टता सर्वत्र स्वीकार की गई है । स्वय फलस्वरूपा होने से इसकी अमोघता असदिग्ध है । मार्गरूप मे यह सबसे अधिक सरल है । अन्य मार्ग इतने लम्बे, टेढे और अरक्षित है कि कभी-कभी उन पर चलना असभव होजाता है और कभी-कभी वे इतने धुँधले और अनिश्चित होते है कि साधक भ्रम मे पड जाता है, किन्तु भक्ति-मार्ग ऐसा दिव्य पथ है कि उसमे पद-पद पर साधक के सामने दिव्य लक्ष्य रहता है । यह मार्ग प्रेम का सरस पथ है जो कष्ट, दुख, भय, विपत्ति आदि से रहित है । पथ प्रदर्शक यहाँ है, रक्षक यहाँ है और यहाँ है समक्ष ही भक्त का लक्ष्य । फिर उसे किस बात की चिन्ता ? भय कैसा ? भक्त को यदि कुछ करना है तो वह है

---

1 क० उप० १ २ ९ "नैषा तर्केण मतिरापनेय"

2 ना० भ० सू०, ७४ "वादो नावलम्ब्य"

3 क० ग्र०, पृ० १३५ १४७, विद्या पढू न वाद नहि जानूँ ।
हरिगुन कथत-सुनत बौरानूँ ।

4 देखिये, रा० च० मा०
अस विचारि जे तज्ञ विरागी ।
रामहि भजहि तरक सब त्यागी ।

भगवान् के प्रति अपने अनन्य प्रेम की रक्षा । उमडते हुए प्रेम की लहरे हरि के चरण रसनिधि मे मिलती रहे, बस इतना ही तो वह चाहता है और इसी मे है उसका आनन्द । उन चरणो को छोडकर प्रेम कही दूसरी जगह न जाए, बस यही तो अनन्यता है और "अनन्य भक्त को ही भगवान् के दर्शन होते है जो न वेद से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से ही हो सकते है ।"[1] इससे भक्ति की उत्कृष्टता स्पष्ट है । नारद ने 'सातु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा' से भक्ति की उत्कृष्टता की ही पुष्टि की है । भक्ति उत्कृष्ट इसलिए है कि इससे ससार-बधन सहज ही मे कट जाता है जब कि यज्ञ, दान, जप तथा इष्टापूर्त आदि कर्मों से वह टूटने के बजाय दृढ होता जाता है ।[2] सुग्रीव की इस अनुरागोक्ति (अध्यात्म रामायण मे) के तीखेपन को मानो हल्का करते हुए तुलसीदास विनयपत्रिका मे कहते है "श्रुति ने व्रत, दान, ज्ञान, तप आदि शुद्धि के अनेक साधन बतलाये है, पर राम के चरणो मे अनुराग किये बिना मल का अतिनाश नही होता ।"[3] भक्ति के बिना जप, तप, आदि को व्यर्थ बताते हुए कबीर कहते है "यदि भगवान् के प्रति प्रेम-भाव न हुआ तो जप, तप, व्रत, सयम, तीर्थ स्नान-आदि से भी क्या लाभ ?"[4]

---

1 देखिये, गीता, ११.५३-५४

2 देखिये, अ० रा०, कि० का०, १.८०-८१

3 देखिये, वि० प०, स्तुति ८२, प० ७-८

तुलसिदास व्रत दान ज्ञान तप, सुद्धि हेतु स्रुति गावै ।
राम चरन अनुराग नीर बिनु, मल अतिनास न पावै ।

4 क० ग्र०, पृ० १२६ १२१

क्या जप क्या तप सजमां, क्या तीरथ व्रत अस्नान ।
जोपै जुगति न जानिये, भाव भगति भगवान् ।।

तु० की०, अ० रा०, यु० का०, ७ ६७: "भक्तिहीनेन यत्किंचित्कृत सर्वमसत्समम् ।"

स्वय फलरूप और परमार्थ (highest value) होने से भक्ति के सिवा ओर कुछ वाछनीय नही रहता । भगवान् ने स्वय कहा है—"जो कुछ कर्म, तप, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म या अन्य पुण्यो से प्राप्त हो सकता है उस सब को मेरा भक्त भक्ति द्वारा सहज ही (easily) प्राप्त कर लेता है, पर विशेषता यह है कि मेरा अनन्य भक्त तो कैवल्य मोक्ष तक को नही चाहता ।"[1] भक्त का प्रेम भगवान् के चरणो के सिवा ओर कही नही जाता । भगवान् के सिवा उसे अन्य सब कुछ हेय एव अवस्तु दीखता है । अतएव नददास के भँवरगीत मे गोपियाँ कहती है—"हे उद्धव ! ब्रह्मज्योति क्या है ? ज्ञान किसे कहते हो ? रखो यह सब कुछ अपने पास । हमे कोई कुटिल मार्ग स्वीकार नही करना है । हमारा तो प्रेम का सीधा मार्ग है । नही जानते—श्यामसुन्दर के नेत्र, वाणी, श्रुति, नासिका—उनके मोहनरूप ने हमे मुग्ध कर रक्खा है । मुरली की तो कहे क्या ? उसने प्रेम क जादू से हमे बेसुध बना दिया है ।"[2] इसलिए "हे उद्धव ! योग की शिक्षा उसे देना जो उसके उपयुक्त हो । हमारे पास (यदि कुछ कहना चाहते हो) तो प्रेमपूर्वक नदनदन का गुण गान करो । हमे ओर कुछ अच्छा नही लगता ।"[3]

ज्ञान का लक्ष्य मुक्ति है जो साधक को आत्मज्ञान और आत्मा तथा ब्रह्म के ऐक्य की अनुभूति से मिलता है । जो भक्ति के बिना

---

1 देखिये, भाग० ११ २० ३२-३४

2 नददास, पृ० १२५ (भँवरगीत) कौन ब्रह्म की जाति, ग्यान कासो कहौ उधो ?
हमरे सुन्दर स्याम, प्रेम को मारग सूधो
नैन, बैन, श्रुति, नासिका, मोहनरूप दिखाइ ।
सुधि बुधि सब मुरली हरी, प्रेम ठगोरी लाइ ।।

3 नददास, पृ० १२६ (भँवरगीत)
ताहि बतावहु जोग, जोग ऊधो जेहि पावौ ।
प्रेम सहित हम पास, नद नदन गुन गावौ ।।

ब्रह्म का ध्यान करता है उसे निर्विशेष ब्रह्म का ज्ञान होता है।

भक्ति और ज्ञान

इससे साधक का निर्गुण ब्रह्म के साथ तादात्म्य हो जाता है, किन्तु यह अवस्था बडे प्रयास से प्राप्त होती है। फिर भी इसमे भगवान् की पूर्णता का साक्षात्कार नही होता, केवल उसकी निर्विशेष सत्ता का ज्ञान होता है। भक्ति मे भगवान् का पूर्ण चित्र सामने आता है। भक्त निर्गुण को सगुण, अव्यक्त को व्यक्त रूप मे देखकर भगवान् की पूर्णता का साक्षात्कार करता है।[1]

भक्ति को ज्ञान से उत्कृष्ट सिद्ध करने के लिए तुलसीदास ने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए है—

१ भक्त और ज्ञानी दोनो परमात्मा के पुत्र है, किन्तु भक्त शिशु के समान है और ज्ञानी प्रौढ पुत्र के समान। जिस प्रकार माँ को अपने शिशु की अधिक चिता होती है उसी प्रकार भगवान् को भक्त की अधिक चिन्ता होती है।[2]

२ ज्ञान का कहना कठिन है, समझना कठिन है और साधना भी कठिन है। यदि घुणाक्षरन्याय से वह कभी बन भी जाय तो फिर पीछे उसमे अनेक विघ्न होते है। ज्ञानमार्ग तलवार की धार है। उस पर से गिरते देर नही लगती। इसके निर्विघ्न तय हो जाने पर कैवल्य परमपद मिलता है, परन्तु वही मुक्ति भक्ति से, बिना इच्छा किए भी, हठपूर्वक आती है।[3]

३ माया भक्ति से अलग रहती है। ज्ञान, वैराग्य, योग, विज्ञान ये सब पुरुष जाति के है और माया स्त्री जाति की है, अत

---

1 देखिये, सुशीलकुमार डे वैष्णव फेथ एड मूवमेंट—पृ० २७०-७१

2 देखिये, रा० च० मा०, पृ० ७०७

मोरे प्रौढ तनय सम ग्यानी, बालक सुत सम दास अमानी।

० ० ० ० ० ० ०

करउँ सदा तिन्हकै रखवारी, जिमि बालकहि राख महतारी ।।

3 देखिये, रा० च० मा०, पृ० ११०२-११०३

इन पर उसकी आसक्ति हो सकती है और ये भी उस पर मुग्ध हो जाते हैं, क्योंकि कोई विरक्त और धीरबुद्धि ही स्त्री को त्याग सकता है। जो कामी, विषयाधीन और राम के चरणो से विमुख है वे स्त्री के जाल मे पड ही जाते है, किन्तु भक्ति स्त्री-जाति की है। स्त्री का स्त्री के रूप के प्रति मोह नही होता, इस कारण माया भक्ति की ओर आकृष्ट नही होती।[1]

४ भगवान् की दृष्टि मे भक्ति का पद माया से ऊँचा है। माया तो निश्चित रूप से भगवान् की नर्तकी है, किन्तु भक्ति भगवान् की प्रिया है। भगवान् भक्ति के अनुकूल रहते है, इसलिए माया भक्ति से सदा डरती रहती है।[2]

५ भगवान् का आकर्षण भक्ति की ओर सबसे अधिक होता है। उत्तरकाड (रा० च० मा०) मे भगवान् ने स्वय कहा है—"भक्ति-हीन चाहे ब्रह्मा ही क्यो न हो वे भी मुझे साधारण जीवो के समान ही अप्रिय होगे। भक्ति करने वाला चाहे नीच प्राणी भी हो, तो भी वह मुझे प्राणो से अधिक प्रिय होता है। सब जीवो मे मुझे मनुष्य अधिक प्रिय लगते है। उनमे भी ब्राह्मण, ब्राह्मणो मे

---

1 देखिये, रा० च० मा०, पृ० १०९७

ग्यान, बिराग, जोग बिग्याना, ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना।
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती, अबला अबल सहज जडजाती।
पुरुष त्यागि सक नारिहिं, जो बिरक्त मतिधीर।
न तु कामी जो बिषयबस, बिमुख जो पद रघुबीर॥

o o o o o o

मोह न नारि नारि के रूपा, पन्नगारि यह रीति अनूपा।
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ, नारिबर्ग जानहिं सब कोऊ॥

2 रा० च० मा०, पृ० १०९७

पुनि रघुबीरहिं भगति पियारी।
माया खलु नर्तकी बिचारी।
भगतिहिं सानुकूल रघुराया।
ताते तेहि डरपति अति माया॥

भी वेद के जानने वाले, उनमे भी वेदज्ञ, उनमे भी विरक्त और विरक्तो मे भी ज्ञानी और उनमे भी आत्मज्ञानी मुझे प्रिय है। विज्ञानियो (आत्मज्ञानियो) से भी अधिक प्रिय मुझे अपने वे दास है, जिन्हे मेरी ही गति है और कोई भी दूसरा भरोसा नही है।"[1]

६ एक पिता के बहुतसे पुत्र होते है, परन्तु उनके गुण, शील और आचरण अलग-अलग होते है। उनमे से कोई पडित, कोई तपस्वी, कोई ज्ञानी, कोई धनी, कोई योद्धा और कोई दानी होता है। कोई सर्वज्ञ और कोई धर्मरत होता है, परन्तु पिता का स्नेह सब पर समान होता है। कोई मन, वचन और कर्म से पिता का भक्त होता है और स्वप्न मे भी दूसरे धर्म को नही जानता। वह पुत्र पिता को प्राण के समान प्यारा होता है, चाहे वह सब प्रकार से मूर्ख हो। इसी प्रकार तीन लोक मे देवता, मनुष्य और राक्षसो

---

1 रा० च० मा०, पृ०–१०६० १०५६

भगतिहीन बिरंचि किन होई।
सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवत अति नीचउ प्रानी।
मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाये।
सब ते अधिक मनुज मोहि भाये॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ स्रुतिधारी।
तिन्ह महँ निगम धर्म अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय विरक्त पुनि ज्ञानी।
ग्यानिहुँ ते अति प्रिय विज्ञानी॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा।
जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं।
मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥

तु० की०, गीता, ६ २६

समेत जितने चराचर जीव है उनसे युक्त यह सम्पूर्ण जगत् मेरा उत्पन्न किया हुआ है। मुझे सब पर बराबर दया है। उन सब मे जो मद और माया को छोड कर मन, वचन और काया से मुझे भजता है वह स्त्री, पुरुष, नपुसक, चर और अचर कोई भी हो, यदि भक्ति-भाव से कपट छोडकर मेरा भजन करता है, तो वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। हे खग ! मै तुझसे सत्य कहता हूँ, पवित्र सेवक मुझ प्राण के समान प्रिय है।[1]

७ माया की ग्रथि खोलने के लिए प्रकाश चाहिए, वह ज्ञान और भक्ति दोनो से मिल सकता है। ज्ञान दीपक के समान है और भक्ति चिन्तामणि के समान। ज्ञान-दीपक विघ्न-पवन से बुझ सकता है, परन्तु भक्ति-मणि अबाध रूप से प्रकाश करती रहती है।[2]

---

1 रा० च० मा०, पृ० १०६०–६१.

एक पिता के विपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा।
कोउ पडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवत सूर कोउ दाता।
कोउ सर्बग्य धर्मरत कोई। सब पर प्रीति पितहि सम होई।
कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहु जान न दूसर धर्मा।
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भांति अयाना।
एहि विधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते।
अखिल बिश्व यह मम उपजाया। सब पर मोहि बराबरि दाया।
तिन्ह महँ जो परिहरि मदमाया। भजहि मोहि मन बच अरु काया।
पुरुष नपुसक नारि नर, जीव चराचर कोइ।
भगति भाव भजि कपट तजि, मोहि परम प्रिय सोइ।

2 देखिये, रा० च० मा०, पृ० ११०२, ११०४

जब सो प्रभजन उर गृह जाई। तबहि दीप बिग्यान बुझाई।
ग्रथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि विकल भइ विषय बतासा।
× × ×
राम भगति चिंतामनि सुन्दर। बसइ गरुड जाके उर अन्तर।
परम प्रकास रूप दिन राती। नहि कछु चहिय दिया घृत बाती।
× × ×
अचल अविद्या तम मिटि जाई। हारहि सकल सलभ समुदाई।

कहा है कि "ज्ञान, वैराग्य आदि भक्ति के पुत्र[1] है और मुक्ति उसकी दासी[2] है।"

इस प्रकार सब सगुण[3] भक्तो ने भक्ति को ज्ञान से ऊँचा कहा है, परन्तु निर्गुण मत के सन्त, जिनका लक्ष्य मुक्ति है, ज्ञान-मार्ग के पथिक है, फिर भी वे ज्ञान-पथ पर भक्ति से अलग होकर नही चलना चाहते और कभी कभी तो वे भी भक्ति की वेदी पर ज्ञानादि के फल का भी बलिदान कर देते है।

भक्ति और योग

भक्ति साहित्य मे योग को भक्ति से छोटा सिद्ध करने के लिए बडे प्रबल तर्क प्रस्तुत किये गये है। चित्तवृत्ति-निरोध, जिसकी योग शिक्षा देता है, भक्ति से स्वत ही हो जाता है। इसी प्रकार भक्ति मे लीन होने पर विरक्ति भी अपने आप ही आजाती है।

मायाशक्ति के प्रभाव से जीव स्वरूप को भूलकर इस नाम-रूपात्मक जगत् के जाल मे फँस जाता है। फलत वह अपनी शान्ति को खो बैठता है। अष्टागयोग की शिक्षा का लक्ष्य मन को अहकार से मुक्त करके और निश्चल बना कर उसे असम्प्रज्ञात समाधि मे प्रलीन कर देना है जहाँ जीव माया से मुक्त होकर अपनी शुद्ध सत्ता की अनुभूति दिव्य चेतना (Divine Consciousness) के तात्त्विक परमाणु के रूप मे (ब्रह्म के साथ ऐक्य मे नही) करता है। इसलिए योगानुभूति ज्ञानानुभूति से उच्चतर होती है, क्योकि निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्ति से आगे सविशेष परमात्मा की ओर भी होती है। अन्त मे उसके द्वारा (यदि योग को भी भक्ति की सहायता प्राप्त है) भगवान् का दर्शन भी हो जाता है। अत "जहाँ

1 देखिये, भाग० माहात्म्य, २ ११
2 देखिये, भाग० माहात्म्य, २ २१
3 सूरदास और नन्ददास के भ्रमरगीतो में भी भक्ति को ज्ञान से ऊँचा पद दिया गया है। उद्धव पर गोपियो की विजय वस्तुत 'निर्गुण' पर 'सगुण' मत की—ज्ञान पर भक्ति की—विजय है देखिये, सूरसागर, पृ० ७१३, पद ३१ "आयौ हौ निर्गुण उपदेशन भयौ सगुण को चेरो।"

योग भक्ति का साधन होता है।"[1] वहाँ उसका फल परमात्मा की सगुणमूर्ति का दर्शन होता है। इसलिए कुछ लोग उसे शान्ता भक्ति मान कर भक्ति का ही भेद बतलाते है। शुद्धा भक्ति, जिसमे भगवान् के साथ भक्त अपना भावात्मक सम्बन्ध (यथा, हास्य, सत्य, वात्सल्य अथवा माधुर्य) स्थापित कर लेता है, उससे कही ऊँची होती है।

"भक्ति के साथ योग की तुलना करना कचन के साथ काँच की तुलना करना है।"[2] भला भक्ति के बिना योग से भगवान् को किसने प्राप्त किया है[3] जब कि योगी ज्योति का ध्यान करता है, भक्त के लोचन भगवान् की सौन्दर्य-सुधा का पान करते रहते है।[4] "भक्त अपने हृदय से भगवान् के चरण कमलो को नही भुलाता, उनसे उसे बडी शीतलता मिलती है। योग के गम्भीर अधकूपो को देखकर उसे डर लगता है।"[5] योग मे लुभाने वाली कोई बात ही नही, जब कि भक्ति मे आँख, कान, नाक,—सबके लिए आकर्षण है।"[6] योग के अपारसिन्धु मे योगी को भगवान् कही नही मिल

---

1 देखिये, सूरसागर, पृ० ६७०, पद २९
योग युगति साधिकै जे तप योगिनि योग सिरायौ।
ताहू को फल सगुण मूरति प्रगटहि दरशन पायौ।

2 सूरसागर, पृ० ७१७, पद ४३
"योग प्रेम रस कथा कहो कचन की काचै।"

3 सूरसागर, पृ० ६९२, पद ८३ "योग सौ कौनै हरि पाये।"

4 देखिये, नन्ददास भँवरगीत, पृ० १२७, प० ८६
जोगी जोतिहि भजै भक्त निज रूपहि जानै।"

5 सूरसागर, पृ० ६७३, पद ५०
"हरिपद कमल विसारत नाहिन शीतल उर सचरे।
योग गभीर अधकूपन सो ताहि जु देखि डरे।

6 देखिये, सूरसागर, पृ० ६७०, पद २८
"ए अलि कहा योग मे नीको।
तजि रसरीति नदनदन को सिखवत निर्गुण फीको।
देखति सुनति नाहि कछु श्रवणनि ज्योति ज्योति करि धावति
सुन्दर श्याम कृपालु दयानिधि कैसे हौ विसरावति।
सुनि रसाल मुरली की सुर ध्वनि सुर मुनि कौतुक भूले।।
अपनी भुजा ग्रीव पर मेली गोपिन कै मन फूले।

पाना, किन्तु यशोदा की भक्ति के कारण वे स्वय ऊखल से बँधने के लिए आते है ।[1]

भक्त की आँखो से कर्मो को भी तुच्छ देखा गया है । नन्ददास गोपियो से कहलाते है कि "हे उद्धव ! प्रेम (भक्ति) मे कर्म को मिलाना ठीक वैसा ही है जैसा अमृत को धूलि मे मिलाना । सब कर्म तभी तक रहते है जब तक हृदय मे हरि की स्थिति नही होती । कर्म जीव के विमुख होकर विश्व बन्धन का कारण बनते है ।"[2] यह बात नही कि केवल पापो से ही जीव बन्धन मे पडता है, पुण्यो से भी उसी प्रकार जीव का बधन बनता है । पाप और पुण्य दोनो ही बधन है । पाप कर्म यदि लोहे की बेडी है तो पुण्य सोने की । पुण्य कर्मो मे बँध कर हम स्वर्ग मे पडते है और पापो मे बँधकर नरक मे । सच तो यह है कि प्रेम के बिना विपयवासना के रोग से पीछा नही छूट सकता ।[3] "पुण्य करने की दशा मे भी पापो का नाश नही होता, वरन रक्तबीज की तरह बढ़ते ही जाते है ।"[3]

---

1 सूरसागर, पृ० ६७१ पद ३५

"योगी योग अपार सिंधु मे ढूढ़े हू नहि पावत ।
इहाँ हरि प्रगट प्रेम यशमति के ऊखल आप बँधावत ।

1 देखिये, नददास (भँवरगीत), पृ० १२६ .

"कर्म धर्म की बात, कर्म अधिकारी जानै ।
कर्म धूरि कौं आनि, प्रेम अमृत मैं सानै ।
तब ही लौं सब कर्म है, जब लौं हरि उर नाहि ।
कर्मबध सब विस्व के, जीव विमुख ह्वै जाहि ।"

2 देखिये, नददास (भवरगीत), पृ० १२७

"कर्म पाप अरु पुन्य, लोह सोने की बेरी ।
पाइन बधन दोउ, कोउ मानौ बहुतेरी ।
ऊँच कर्म तै स्वर्ग है, नीच कर्म तै भोग ।
प्रेम बिना सब पचि मरै, विषय वासना रोग ।"

3 देखिये, वि० प०, स्तुति १२८, प० ३

"करतहुँ सुकृत न पाप सिराही ।
रक्त बीज जिमि बाढ़त जाही ।"

भगवान् कृष्ण ने भागवत मे कर्म के फेर मे न पडकर भक्ति ही का आश्रय लेने का उपदेश दिया है। वे उद्धव से कहते है– "कर्मयोगी लोग यज्ञ, तप, दान, व्रत तथा यम-नियम आदि को पुरुषार्थ बतलाते है, परन्तु ये सभी कर्म है, इनके फलस्वरूप जो लोक मिलते है वे उत्पत्ति और नाश वाले है। कर्मो का फल समाप्त हो जाने पर उनसे दु ख ही मिलता है और सच पूछो, तो उनकी अन्तिम गति घोर अज्ञान ही है। इसलिए इन विभिन्न साधनो के फेर में न पडना चाहिए।"[1]

किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि भक्ति अकर्मण्यता को जन्म देती है। भक्ति के आलोचक भक्ति द्वारा अकर्मण्यता के प्रचार को सिद्ध करने के लिए प्राय मलूकदास की इस पक्ति–– "अजगर करै न चाकरी पछी करै न काम। दास मलूका कहि गये सबके दाता राम"––को प्रस्तुत किया करते है। वे इसका उलटा सीधा अर्थ लगाकर भक्ति-सिद्धान्तो के विषय मे न केवल भ्रम फैलाते है, अपितु अपना अज्ञान प्रकट करते है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि 'काम करो, पर फल मे आसक्ति रखकर नही, फल को भगवान् के लिए अर्पण करके और उस पर पूरा भरोसा रखकर।' इसमे फलासक्ति के परिणाम से बचने का उपदेश है। यहाँ 'प्रपत्ति' ओर 'निष्कामता' का सदेश है, अकर्मण्यता का प्रचार नही। तुलसीदास ने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि "जप, तप, नियम, योग, स्वधर्म, वेदविहित नाना प्रकार के शुभ कर्म, ज्ञान, दया, धर्म, तीर्थ-स्नान इत्यादि का एक सुन्दर फल यही है कि भगवान् के चरण-कमलो मे प्रीति उत्पन्न हो।"[2] भक्ति रहित कर्मो को वे मल

1 भा० ११ १४ १०-११

2 देखिये, रा० च० मा०, पृ० १०२३

जप तप नियम जोग निज धर्मा, स्रुतिसभव नाना शुभ कर्मा।
ग्यान दया दम तीरथ-मज्जन, जहँ लगि धरम कहत स्रुति सज्जन।
आगम निगम पुराण अनेका, पढे सुनेकर फल प्रभु एका।
तव पद-पकज प्रीति निरतर, सब साधन कर यह फल सुन्दर।

से समता देते है। जिस प्रकार मल से मल नही धुलता उसी प्रकार भक्ति के विना शुभ कर्म से भी अशुभ वासना का नाश नही होता।[1] अतएव जो कर्म किया जाए वह भक्ति के लिए किया जाए, किसी कामना से नही।

भक्त अकर्मण्य नही होता। वह कर्म करता है, किन्तु ऐसे जो भक्ति के साधक होते है, भक्ति का अग होते है। यदि भक्ति का अर्थ अकर्मण्यता होता तो गोपियाँ श्याम के साथ २ न फिरती।[2] जगत की दृष्टि से कोई भक्त को उन्मत्त भले ही कहदे, पर उसे अकर्मण्य नही कहा जा सकता। जब ससार के लोग अपनी तथा कथित कर्मण्यता से अपने लिए जाल बुनते है तब भक्त अपने प्रभु के साथ प्रेम-सरोवर मे विहार करता है। जब दुनियादार कर्म के हथौडे के नीचे सिसकता है, तब भक्त लीला-मानव की केलियो को देख-देखकर मुसकराता है। वह रोता भी है, किन्तु सासारिक व्यक्ति की तरह पीडा से नही, लोचनो मे आनदाश्रु भरकर। इतने पर भी भक्त को अकर्मण्य कहना उसके साथ अत्याचार करना है।

हरि के अनन्य भक्त निष्काम-भक्ति-मार्ग का अनुसरण करते है। निष्काम भक्ति ही शुद्धा भक्ति होती है। वही भक्ति का सर्वोत्तम स्वरूप है। कामना के कारण मन 'एकाकार-वृत्ति' से खिचकर चचल बनता है और कामना से ही भक्ति की शुद्धता बिगडती है।

भक्ति और कामना

भगवान् का सच्चा (अनन्य) भक्त उसके साथ एकीभाव (सायुज्य मोक्ष) की भी इच्छा नही करता।[3] "वह

---

1 देखिये, रा० च० मा०, पृ० १०२३

छूटइ मल कि मलहि के धोये, घृत कि पाव कोउ वारि बिलोये।
प्रेमभगति जल बिनु रघुराई, अभि-अतर-मल कबहुँ न जाई।

2 देखिये, सूरसागर, पृ० ३०६, पद ७२

आरजपथ चले कहा सरि है श्यामहि सग फिरौ री।

3 देखिये, भाग० ३ २५ ३४

परमात्मा की सेवा मे अभिरत होने के कारण उसके दिए हुए कैवल्य मोक्ष को भी नही चाहता। सबसे श्रेष्ठ एव महान् नि श्रेयस (परम कल्याण) तो निरपेक्षता का ही दूसरा नाम है जो निरपेक्ष होता है उसी को परमात्मा की भक्ति प्राप्त होती है।"[1] यही कारण है कि तुलसीदास भक्ति मे फल की इच्छा का तिरस्कार करते है। उन्हे चिन्ता नही कि उन्हे नरक मे पडना पडता है या चारो फल रूपी शिशुओ को मृत्यु रूपी डॉकिनी खा जाती है, पर वे राम के स्नेह का कोई फल नही चाहते।[2] दादू प्रेमरस के प्याले पर इतने मुग्ध हो गये है कि उसके बदले मे ऋद्धि-सिद्धि और मुक्ति को भी ठुकरा देते है।"[3] कामना और भगवत्प्रेम का निर्वाह साथ-साथ नही हो सकता। जिनके मन मे कामना बसी हुई है वे भगवान् के अनन्य भक्त हो ही नही सकते। अत तुलसीदास कहते है—"हरि के सच्चे सेवक तो वे है जिन्होने कामना का निग्रह कर लिया है और भगवान् मे विश्वास जमा लिया है।"[4] कबीर कहते है—"जिसकी भक्ति सकाम है उसकी सेवा निष्फल[5] है।" केशव निष्काम भक्ति ही का पक्ष लेते है।[6] सूरदास को एकमात्र भक्ति ही प्रिय है। वे मुक्ति को दूर ही से प्रणाम करते

---

1 भाग० ११ २० ३४

2 देखिये, दोहावली,

परौ नरक फल चारि सिसु, मीचु डाकिनी खाहु।
तुलसी राम सनेह कौ, जो फल सो जरिजाहु॥

3 देखिये, दा० बा० पृ० ६६, प० १०-११

प्रेम पियाला रामरस, हमको भावै येहि।
रिधि-सिधि मागै मुकति फल चाहे तिनको देहु॥

4 वि० प०, स्तुति १६८, प० ८

"प्रभु विश्वास आस जीती जिन्ह, ते सेवक हरि केरे।"

5 क० ग्र०, पृ० १६

"जब लगि भगति सकामता, तब लग निर्फल सेव।"

6 देखिये, रा० च०, २६ २४

है ।[1] वे तो कृष्ण की मधुर मुसकान पर करोड़ो मुक्तियो को निछावर करने के लिए तैयार है ।"[2] रैदास कहते है---जिसके पास 'आशा' (desire) रहती है उसके पास हरि नही रहते । जब आशा मिट जाती है हरि पास आ जाते है ।[3]

भक्ति का द्वार सबके लिए खुला हुआ है । भक्ति मे जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदि का भेद नही है ।[4] जो अपना सर्वस्व प्रभु पर निछावर कर सतत उनका प्रेमपूर्वक स्मरण करने मे अपने चित्त को लगा देता है, उसी को भक्ति रूपी परम दुर्लभ धन मिल जाता है । निषाद नीच जाति का था, शबरी गॅवार स्त्री थी, ध्रुव अपढ बालक थे, विभीषण और हनुमानादि कुरूप और अकुलीन राक्षस तथा वानर थे, विदुर और सुदामा निर्धन थे, गोपियॉ क्रियाहीन थी, परन्तु इन सबने भक्ति द्वारा भगवान् के हृदय पर अधिकार कर लिया था । जिसके हृदय मे भक्ति है, वही सर्वगुण सम्पन्न है, वही कुलीन और ऊँचा है । भक्तिमार्ग पर चलने मे सबका समान अधिकार है ।[5] भक्त भगवान् की जाति का होता है, क्योकि वह भगवान् का होता है ।[6] भगवान् की अनन्य भक्ति उन लोगो को भी पवित्र कर देती है, जो जन्म से ही चाण्डाल है ।[7] इसलिए सूरदास कहते है कि "प्रभु की महाभक्ति से कुजाति भी सुजाति हो जाते है ।"[8]

भक्ति का द्वार सबके लिए खुला है ।

---

1 सूरसागर, पृ० ६६६, पद २४
2 देखिये, सूरसागर, पृ० ६७४, पद ५४
3 देखिये, रै० बा०, पृ० १३, प० ७-८
4 देखिये, ना० भ० सू०, ७२
5 देखिये शा० भ० सू०, ७८
6 देखिये, ना० भ० सू०, ७३
7 देखिये, भाग० ११ १४ २१
8 सू० सा०, पृ० ५, पद २१
"सूरदास प्रभु महाभक्ति ते जाति अजातिहि साजै"
तु० की०-गीता ९ ३०,३१

रामानुजाचार्य ने भी भक्तो के ऊपर से जाति-पाँति का प्रतिबध उठा लिया है । उनका कहना है कि भक्ति जाति-भेद से ऊँची वस्तु है । उसमे सबका समान अधिकार है[1] । ठीक भी है, "अत्यन्ताभियुक्ताना नैव शास्त्र न च क्रम[2]"—जो अनन्य प्रेम मे डूबे हुए है उनका वर्ण तो एक (प्रेम) ही है । मानस मे राम ने शबरी को स्पष्ट कह दिया है कि वे केवल भक्ति का नाता (सबध) मानते है[3] । जाति-पाँति से उनका सबध नही है । हरि-प्रेमियो का उत्साह बढाते हुए सूरदास कहते है "हरि अपने भक्तो मे ऊँच-नीच का भेद नही रखते । कोई भी उनका भजन कर सकता है । सुर, असुर—कोई भी हो, जो हरि भजन करता है वही उनका प्रिय होता है[4] ।" मानस मे भगवान् की वाणी से सूरदास की इस उक्ति की पुष्टि हो जाती है । वे कहते है "भक्ति वाला अत्यत नीच प्राणी भी मुझे प्राण-समान प्रिय है[5] ।" जो भगवत्प्रिय है वह सर्व-प्रिय है । जिसमे भगवान् का प्रेम नही उसका उच्चकुल मे जन्म होना किस काम का ? इसलिए तुलसीदास कहते है । "जो भगवद्भजन नही करता वह मनुष्य यदि ऊँचे कुल मे भी हुआ तो

---

1 देखिये, श्रीभाष्य, १ ३ ३२, ३६ तथा ३ ४ ३६

2 देखिये, इण्डियन फिलासफी (राधाकृष्णन) पृ० ७०६-'फुटनोट'

3 देखिये, रा० च० मा० पृ० ६६८

"कह रघुपति सुनु भामिन बाता
मानउँ एक भगति कर नाता ।"

4 सूरसागर, पृ० ७३, प० १०-११

"ऊँच-नीच हरि गिनत न दोई
यह जिय जानि भजौ सब कोई
असुर होइ सुर भावै होई
जो हरि भजै पियारो सोई

5 रा० च० मा०, पृ० १०६०

"भगतिवत अति नीचउ प्रानी
मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी ।"

क्या लाभ ? उससे तो दिन-रात राम-भक्ति मे लीन श्वपच कही अच्छा है[1] ।" व्यासजी श्वपच भक्त को करोडो कुलीनो और लाखो पडितो से ऊँचा कहते है[2] । इसी प्रकार कबीर भी वैष्णव चाण्डाल को अभक्त ब्राह्मण से कही ऊँचा मानते है ।[3]

इस चर्चा के प्रारभ मे 'भक्ति का विकास' शीर्षक के अन्तर्गत यह बतलाया गया है कि प्रपत्ति (शरणागत भाव) की ध्वनि उपनिपदो[4] से ही निकलने लगी थी । गीता के समय तक इसमे प्रौढता आगई और इसमे अनन्य प्रेम की अविकलागता सिद्ध होने लगी । गीता मे इसकी शिक्षा इस प्रकार मिलने लगी

भक्ति में शरणागत भाव

"सब धर्मों का परित्याग करके एक मेरी ही शरण ले । मै तुझे सब पापो से मुक्त कर दूंगा । शोक मत कर[5] ।" पीछे भक्ति-क्षेत्र मे प्रपत्ति-सिद्धान्त का और भी अधिक विकास हुआ और पुराणो मे शरणागतो की अनेक कथाएं बन गई और 'आत्मनिवेदन' नवधा भक्ति का उत्कृष्ट भेद बन गया । पुराणो की अनेक कथाओ मे पिरोया हुआ वही प्रपत्ति-सिद्धान्त सस्कृत से हिन्दी मे चला आया । हिन्दी के कुछ ग्रथो[6] मे उसका निरूपण और अधिक परिमार्जित हो गया ।

---

1 वैराग्य सदीपनी (तुलसीदास), दो० ३८

2 देखिये, व्यास' व० मा० सा०, पृ० २१४'

व्यास कुलीननि कोटि मिलि, पडित लाख पचीस ।
स्वपच भक्त की पानही, तुलै न तिनके सीस ।

3 देखिये, क० ग्र०, पृ० ५२, प० १३-१४

साषत बामण मति मिलै, वैसनो मिलै चडाल ।
अकभाल दे भेटिये, मानो मिले गोपाल ।

4 देखिये, श्वे० उप० २ ७ तथा ६ २३

5 गीता १८ ६६

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज ।
अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ।

6 देखिये तुलसीदास की विनयपत्रिका तथा सूरदास के विनय के पद ।

इष्ट के उत्कर्ष और अपने दैन्य के प्रकाशन ने हिन्दी-भक्ति-साहित्य मे अधिक मान्यता प्राप्त करली। हम देखते है कि इष्ट का उत्कर्ष वर्णन करते समय भक्त उसकी शक्ति को देखता रहता है और उसका विश्वास हो जाता है कि भगवान् सब प्रकार से उसकी रक्षा करेगा। 'वह विश्वभर है, समानरूप से जगत् का भरण-पोषण करता है, फिर उसे 'अशन-वसन' की क्या चिन्ता है[1] ? उसे भगवान् का व्रत[2] याद रहता है और वह अपने भजन, आचरण आदि को प्रभु के चरणो मे समर्पित करके उनके भरोसे पर निर्द्वन्द्व हो जाता है[3]। इसी समय प्रभु के व्रत का उनकी क्रियाओ मे साक्षात्कार होने से उनका गोप्तृत्व भी उसके सामने आजाता है और वह प्रेम के आवेश मे पुकार उठता है। "हे हरि ! आप सकट के साथी है—दूसरो की पीडा का हरण करने वाले है। गज की पुकार सुनते ही आप आतुर होकर दौडे और उसे ग्राह से छुडाया, परीक्षित की गर्भ मे रक्षा की, वस्त्र बढाकर सभा मे द्रौपदी की लज्जा रक्खी और जरासध का वध करके राजाओ को उसके बधन से मुक्त किया[4]।"

---

1 सूरसागर, पृ० ४५, पद २०
  तु० की०-महाभारत (वि० प० में उद्धृत)
    भोजने छादने चिन्ता वृथा कुर्वन्ति वैष्णवा
    योऽसौ विश्वभरो देवो स भक्त किमुपेक्षते।

2 सकृदेव प्रपन्नाय 'तवास्मीति' च याचते।
  अभय सर्वभूतेभ्यो, ददाम्येतद्व्रत मम। अ० रा०, यु० का०, ३ १२

3 देखिये, व्यास-व्र० मा० सा०, पृ० २१३
    काहू के बल भजन कौ, काहू कै आचार।
    व्यास भरोसे स्याम के, सोवत पाउँ पसार।

4 देखिये, सूरसागर, पृ० १२, पद ५३, प० १-६
    तुम हरि साँकरे के साथी।
    सुनत पुकार परम आतुर ह्वै दौरि छुडायौ हाथी।
    गर्भ परीक्षित रक्षा कीनी वेद उपनिषद साखी।
    बसन बढाय द्रुपद तनया के सभा माँझ पति राखी।
    राज रवनि गाई व्याकुल ह्वै दै दै सुत कौ धीरक।
    मागध हति राजा सब छोरे ऐसे प्रभु परपीरक।

गोप्तृत्व के साथ-साथ भगवान् का औदार्य भी भक्त की आँखो मे छाजाता है। "खोजने पर भी उसे कोई राम के समान उदार नही दीख पडता। भला, ऐसा कौन है जो बिना सेवा के ही दीन पर द्रवित होजाए? जिस गति को ज्ञानीमुनि योग, वैराग्य आदि यत्नो से भी नही पाते, उसी को वे गृद्ध और शबरी को देते समय हृदय मे अति तुच्छ समझते है। अपने दस सिरो का समर्पण करके रावण ने जिस सपत्ति को शिव से प्राप्त किया था वही रघुनाथ ने विभीषण को बडे सकोच मे दी[1]।

भक्त को अब अपने ढग का जीवन नही बिताना है। उसे भगवान् के अस्तित्व मे रहना है। वह उन्हे अपना समर्पण करने जारहा है। समर्पणीय वस्तु उनके अनुकूल होनी चाहिए, इसलिए उसे सतो की सी रहन-सहन का ढग और उन्ही का सा स्वभाव प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा होती है[2]।

'आनुकूल्य की सपत्ति के साथ साथ भक्त 'प्रातिकूल्य का वर्णन'

1 देखिये, वि० प०, स्तु० १६२, प० १-६

ऐसो को उदार जगमाहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं।
जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ग्यानी।
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी।
जो सपति दस सीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्हीं।
सो सपदा विभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्हीं।

2 देखिये, वि० प०, स्तुति १७२

"कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगी।
श्रीरघुनाथ-कृपालु-कृपाते सत सुभाव गहौंगो।
जथालाभ सतोष सदा, काहू सो कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान, सम सीतल मन, पर गुन, नहिं दोष कहौंगो।
परिहरि देह-जनित, चिन्ता, दुख सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अविचल हरिभक्ति लहौंगो।

भी करता जाता ह । जिस किपी कारण भगवत्प्राप्ति मे बाधा पडती है वह उस सब का परित्याग कर देता है । वह अपने परम स्नेही को भी, जिसके 'राम' प्रिय नही है करोडो वैरियो के समान छोड देता है ।[1]

इस प्रकार भक्त भगवान् की ओर बढता जाता है और गिड-गिडाता जाता है । वह अपने दोषो के भडार को भगवान् की कृपा दृष्टि के नीचे खोल देता है ।[2] अन्यत्र दृष्टि न डाल कर वह भगवान् के चरणो मे ही गिर पडता है और विनय करता जाता है "हे नाथ ! मै कहाँ जाऊँ ? किससे कहूँ ? कौन इस दीन की सुनेगा ? जिसके लिए कही ठौर-ठिकाना नही, जो सब प्रकार नि सहाय है, तीनो लोक मे उसकी गति एक आप ही है ।"[3] यही है भक्ति मे शरणागत भाव जिसमे भक्त का अहकार इष्ट के उत्कष और अपने दैन्य मे गल कर विलीन हो जाता है और वह भगवान् के अस्तित्व मे रहने लगता है ।

---

1 देखिये, वि० प०, स्तु० १७४

"जाके प्रिय न राम वैदेही ।

सो छाँडिये कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ।"

तु० की०, भाग० ७ ६ १८ तथा प्रह्लाद चरित्र (भाग० सप्तम स्कध, अध्याय ४, ५, ६)

2 देखिये, सूरसागर, पृ० १७, पद ८५, ९०

3 देखिये, वि० प०, स्तुति, १७९

"कहाँ जाउँ कासों कहौं, को सुनै दीन की ।

त्रिभुवन तुही गति सब अगहीन की ।